आगरा विश्व-विद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

हिन्दी कृष्ण-काव्य में माधुर्योपासना

डॉ० श्याम नारायण पाण्डेय

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,

डी० बी० एस० कालेज, कानपुर

रामा प्रकाशन

[illegible], लखनऊ
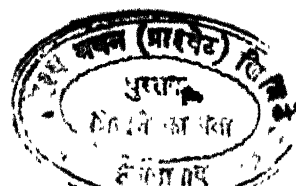
HINDI KRISHNA-KAVYA MEN MADHURYOPASANA

Dr. Shyam Narain Pande

Price : Rs. 15·00 only

NOV· 1963

● प्रकाशक :: रा मा प्र का श न

नजीराबाद :: लखनऊ

● मुद्रक :: बनारसी दास मेहरोत्रा

रामा प्रेस :: लखनऊ

● मूल्य पन्द्रह रुपये मात्र

भूमिका

मैंने श्री डॉ० श्याम नारायण पाण्डेय के 'हिन्दी कृष्ण काव्य में माधुर्योपासना' नामक ग्रन्थ को देखा। यह ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय में एक अनुसन्धान प्रबन्ध रूप में स्वीकृत हुआ था। इस पर तीन विद्वानों के परीक्षण की छाप लगी है। इसलिए यह ग्रन्थ विशिष्ट महत्व का है। मुझे यह कहते हुए संकोच नहीं होता कि कृष्णभक्ति-परक ग्रन्थ हिन्दी में प्रथम बार इन पंक्तियों के लेखक ने ही अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय रूप में लिखा था जिसमें कृष्ण भक्ति के मुख्य सम्प्रदायों का विवरण दिया गया है और जिसमें भक्ति के चार भाव दास्य, सख्य, माधुर्य तथा वात्सल्य का विवेचन है। इस ग्रन्थ के पश्चात् हिन्दी में भक्ति संबंधी और भी ग्रन्थ लिखे गये जिनमें कृष्ण-भक्ति के रसिक सम्प्रदायों का भी संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। शोध प्रबन्ध रूप में भी वल्लभ संप्रदाय के बाद अन्य कृष्णपूजा सम्प्रदायों का भी अध्ययन हुआ। सूरदास, परमानन्द दास आदि भक्तों के स्वतंत्र अध्ययनों में भी शृंगार रस और रति भाव का लौकिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से हिन्दी में अध्ययन हुआ है। परन्तु संस्कृत ग्रन्थ उज्ज्वल नीलमणि तथा हरिभक्तिरसामृतसिंधु जैसे ग्रन्थों के अनुरूप हिन्दी भक्तों के आधार से मधुर भाव का शास्त्रीय विवेचन सविस्तार नहीं हुआ था और न यह विषय हिन्दी भक्ति साहित्य का आधार लेकर अनुसन्धान का ही विषय बना था। अब डॉ० श्याम नारायण पाण्डेय जी ने इस विषय पर यह शोधप्रबन्ध लिखकर उक्त कमी की अधिकांश में पूर्ति की है। इस ग्रन्थ की विशेषता इस बात में और भी है कि इसमें माधुर्यभाव के विविध रूपों का सैद्धान्तिक विवेचन है और कुंज-विहार लीलाओं का विवरण मधुरभाव की दृष्टि से दिया गया है। इस ग्रन्थ में तुलनात्मक ढंग से भी इस भाव का वर्णन है। सहजिया सम्प्रदाय की रस-साधना के संकेत भी इस अध्ययन में हैं।

जिस प्रकार डा० भगवती प्रसाद सिंह का 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ एक उच्चकोटि का शोधप्रबन्ध है उसी प्रकार डॉ० पाण्डेय का प्रस्तुत ग्रन्थ अपने विषय का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रणयन के लिए मैं उन्हें बधाई देता हूँ। अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय ग्रन्थ लिखते समय हिन्दी अथवा अंग्रेजी में दो चार साधारण अंग्रेजी के निबन्धों को छोड़कर कृष्णभक्ति के संम्प्रदायों के विवरण और उनकी उपासना प्रणाली के परिचयात्मक वर्णनों का कोई ग्रन्थ लेखक के समक्ष उपलब्ध नहीं था। यहाँ तक कि सूरसागर और नन्ददास के तीन चार ग्रन्थों के अतिरिक्त अष्टछाप कवियों की रचनाएं भी उपलब्ध नहीं थीं। उस समय अनुसन्धान की वे सुविधाएं भी न थीं जो आज उपलब्ध हैं। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आज हिन्दी में अनुसन्धान की सुविधाएं और विविध विषयों के विद्वान मार्गदर्शक के रूप में सुलभ हैं। भविष्य में डॉ० पाण्डेय की लेखनी से और भी अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों का प्रणयन होगा, ऐसी मेरी मंगलकामना है।

दीनदयालु गुप्त

(दीन दयालु गुप्त)

दिनांक : लखनऊ-नवम्बर २, १९६३

डॉ० दीन दयालु गुप्त,
एम०ए०,एल-एल०बी०,डी०लिट०,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी तथा
आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
डीन, फैकल्टी आव् आर्ट्स,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, तथा
अध्यक्ष, हिन्दी-समिति, उत्तर प्रदेश सरकार,

समर्पण

प्रातः स्मरणीय पूज्य चरण माता-पिता
की पुण्य स्मृति में श्रद्धेय अग्रज

पं० राधेश्याम जी पाण्डेय के
कर-कमलों में सादर

श्री विष्णु स्वामी

(अखिल भारतीय श्री विष्णु स्वामी महासभा के सौजन्य से)

रसिक शिरोमणि स्वामी हरिदास जी

(दो शताब्दि से भी पूर्व का यह चित्र भारतकला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के सौजन्य से)

विषय-सूची

प्राक्कथन

अपने हृदय में आनंदानुभूति का सुख लेते हुए इस विशाल विश्व के समस्त मुमुक्षु-जन उस रस स्वरूप में तन्मय हो जाना चाहते हैं। यह अनुभूति संसार की क्षणभंगुर वासनाओं में प्राप्त नहीं होती। वह तो भगवत् प्रेम की मधुर तरंगों के थपेड़े खाकर ही मिलती है। इसे प्राप्त करने के हेतु साधक को सर्व प्रकार से त्यागी बन जाना पड़ता है। बिना सर्वस्व त्याग के, प्रेम के उस अद्‌भुत क्षेत्र में प्रवेश पाना नितांत रूप से असंभव है, जहाँ नित्य राधा-माधव-युगल रस वर्षा करते रहते हैं। मधुर रस के साधकों ने इस रस तत्व को पाने के लिये अपना जीवन ही परिवर्तित कर दिया था और राधा को प्राणस्वरूप मानते हुये प्राणनाथ प्रभु श्रीकृष्ण का संयोग प्राप्त किया था।

वैष्णव भक्तों की उपासना-प्रणाली का यह सरसरूप माधुर्य-भक्ति में पूर्ण रूप से विकसित हुआ और हरिभक्तों ने अपने आराध्यदेव मोहन-मोहिनी की ललित लीलाओं के दर्शन को ही अपना कर्म-धर्म समझते हुये रास-रस तथा कुंज-रस का आनंद प्राप्त किया। इन साधकों की यह मान्यता है कि राधा-कृष्ण की इन सरस लीलाओं की अनुभूति उसी को होती है जो पुरुष भाव का सर्वथा त्याग कर गोपीभाव, सखीभाव अथवा राधा भाव, को अपने हृदय में धारण कर लेता है। मधुर रस की साधना का यही आधार है और इसकी चरम परिणति राधा-भाव में ही है।

मधुर उपासना की प्रारम्भिक स्थिति में साधक यह समझता है कि विश्व की सृष्टि, पोषण तथा विनाश के एकमात्र कारण हैं—ब्रज के देवता श्रीकृष्ण। निरंतर इन्हीं के रूप और गुण का साक्षात्कार मोक्ष है। बिना इनके न कोई चर है और न अचर। ये सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ हैं। वेदों से वेद्य, कारुण्य से युक्त तथा परमानंद से पूर्ण इनका विग्रह है।

माधुर्यमण्डित श्रीकृष्ण का यह अनोखा रूप जब आह्लादिनी शक्ति-रूपा राधा के साथ होता है तभी उनका रसत्व, ब्रह्मत्व, सगुणत्व तथा शिवत्व सार्थक होता है। सहस्रों सखियों से परिसेवित यह राधा श्रीकृष्ण की नित्य प्रियतमा के रूप में रसिक संप्रदायों में विख्यात हैं। गोविन्द के वामाङ्ग में शोभायमान इनका रूप तथा गुण अपने प्रियतम के ही समान है। यह ही राधिका रसिक उपासकों की मान्यता में अपने प्यारे कृष्ण के विग्रह के अनुसार लक्ष्मी, सीता, रुक्मिणी आदि का रूप धारण कर उनके साथ रहती हैं। अपने नित्य सौन्दर्य-माधुर्य गुणों के कारण वे परमदेवी हैं। क्रीडा में कुशल तथा विभिन्न व्यवहारों में दक्ष वे देवी देवों की भी पूज्य हैं। यदि श्रीकृष्ण वाणी हैं तो राधा नीति; यदि श्रीकृष्ण बोधस्वरूप हैं तो राधा साक्षात् बुद्धि, यदि श्रीकृष्ण धर्म हैं तो राधा क्रिया—इस प्रकार दोनों का संयोग नित्य है। वृन्दावन की गोपियों में शिरोमणि वे ही श्रीराधा मधुररस की मूर्ति हैं। प्रेम की चरम सीमा, लावण्य का अगाध सागर तथा महाभाव की मूर्तिमान झाँकी श्रुतियों के अनुसार उनमें विद्यमान है। इन संप्रदायों के अनुयायियों की धारणा है कि राधा के नित्य स्मरण से दुर्लभ प्रीति भी उपलब्ध हो जाती है। इसके साथ ही श्रीकृष्ण की कृपा भी प्राप्त हो जाती है। इस कृपा का परिणाम है मोक्ष।

इष्टदेव का सान्निध्य प्राप्त करना ही तो उपासना का लक्ष्य है। आराध्य का अनुग्रह जैसे-जैसे आराधक पर बढ़ता है, वैसे-वैसे ही यह सान्निध्य भी नित्य हो जाता है। इस नित्य सामीप्य से भक्त जनों को चारों पुरुषार्थ—अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष प्राप्त हो जाते हैं। प्रभु की यह कृपा रसिकों के अनुसार साधक के अज्ञानरूपी तम को नष्ट कर उसकी बुद्धि को नित्य तेज से प्रकाशमान कर देती है। वेदान्त में जो स्थिति 'भूमा' की है, भक्ति में वही स्थिति मोक्ष की है। यहाँ पर तो राधा-कृष्ण का नित्य सामीप्य ही मोक्ष है। अमृतमय इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद उपासक को फिर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। युग्मतत्व के अनुग्रह से भक्त सर्वज्ञ, आप्तकाम तथा ध्रुवा-स्मृति से परिपूर्ण हो जाता है। निस्संदेह इस स्थिति में भक्त की अनन्यता और प्रपन्नता देखने योग्य होती है। भगवान के अनुग्रह पर आश्रित भक्त की प्रभु के सिवा न कोई गति होती है और न कोई

आश्रय । वह एकमात्र उनके प्रति प्रपन्न हो जाता है । यह प्रपन्नता ही उस पर हुए इष्ट-अनुग्रह का प्रमाण है । ब्रह्मा, शिव आदि से वन्दित आराध्यदेव के चरण-कमल नित्य उसके हृदय में विराजते हैं । मधुररस की उपासना-प्रणाली में इस अनन्यता को सर्वोपरि माना गया है । आराधना करने वाले की इच्छानुसार अपने अचित्य रूप को प्रकट करने वाले रस रूप राधा-कृष्ण इन्हीं रसिकों के सिद्ध देवता हैं । इनके प्रति होने वाली उनकी अनन्यता में उतनी ही दृढ़ता थी, जितनी किसी पतिव्रता पत्नी की अपने पति में होती है । इस अनन्यता से पत्नी सदा के लिये पति की हो जाती है । भगवान की कृपा से प्राप्त होने वाली इस अनन्यता के द्वारा सदा के लिये उनका हो जाना ही—मोक्ष है ।

भक्ति रस—

समस्त प्रकार के सुखों का परित्याग करते हुये अनन्यभाव से भगवान की सेवा करना ही भक्ति है । पुराणों में भज् (सेवार्थक) धातु से भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है । इस भक्ति में न कोई कामना होती है और न अहम् । इसके दो प्रकार हैं—साधनरूपा और साध्यरूपा । प्रभु की कृपा या अनुग्रह के बिना दोनों में कोई भी सार्थक नहीं होतो । साध्यरूपा भक्ति परम प्रेम से परिपूर्ण तथा सर्वोत्कृष्ट मानी गई है । रसोपासकों के हेतु इसे ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है । प्रेम के समस्त लक्षणों से युक्त यह भक्ति ही रस है । इस भक्ति के अवलम्ब से इष्टदेव के नित्य संयोग से उत्पन्न उज्ज्वलरस की अनुभूति रसिक जनों को होती है । रसरूप होने के कारण ही भक्ति रस है । अपने समस्त लक्षणों तथा अंगों से पुष्ट होकर यही भक्ति मधुर रसरूप से आस्वादित होती है और चित्त को द्रवित कर देती है । वैष्णवाचार्यों ने आचार्य निम्बार्क के उपरांत इसी रसधारा में प्रबल वेग उत्पन्न कर दिया था । जहाँ तक शृंगार के रसराजत्व का प्रश्न है, वहाँ मधुर रस रूप ही सार्थक होता है । समस्त रसों की भाँति यह उज्ज्वलरस भी विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों से पुष्ट है । रस के इस अलौकिक रूप का प्रकाश नित्य, निर्मल तथा भागवती रति से संपन्न रहता है । लौकिक काम से रहित प्रेम ही इस रस में मूर्तिमान होता है, तभी तो निम्बार्क आदि रसिक भक्तों ने मधुररस की अपूर्व साधना के उत्कर्ष का वर्णन किया है ।

मधुररस का उत्कर्ष

शृंङ्गार ही रसराज है। यह जब स्थूल से सूक्ष्म तथा लौकिक से अलौकिक हो जाता है, तब इसे मधुर रस की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसी को शुक्ल, पवित्र, श्रीरम तथा उज्ज्वल रस भी कहते हैं। जिस प्रकार कटु, तिक्त आदि रसों में सुमधुरता को सर्वोत्कृष्ट कहा गया है, उसी प्रकार शांत आदि सभी रसों में शृंगार को ही रसराज माना है। "शृङ्ग मन्मथ के उद्रेक को कहते हैं और इस शृंग के आगमन का विधायक तथा उत्तम प्रकृति से सम्पन्न रस शृङ्गाररस नाम से विख्यात है।[1]" "परमानंद से परिपूर्ण, इष्टगुण से युक्त तथा ऋतु माल्यादि के धारण करने वाले, रमायुक्त श्रीकृष्ण को शृङ्गार कहते हैं।[2]" रसोवैसः इस युग्म का सिद्धरूप है। इसी सिद्धरूप से समस्त रसों का प्राकट्य और लय ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार जल समुद्र से निकल कर मेघ, सर, सरिता आदि रूप से पुनः समुद्र में लय को प्राप्त होता है।

'ऋतुकाल माल्यादि अलंकरणों से, प्रियजन, गन्धर्व तथा काव्य आदि की सेवा से एवं उपवन में गमन और बिहार आदि से रसराज शृङ्गार प्रकट होता है।[3]' जहाँ तक इसके अनुभव का प्रश्न है, वह तो युगल रूप में ही होता है। नाट्यशास्त्र में इसीलिये "युग्मरूप पुरुषोत्तम को शृङ्गार रस रूप माना गया है, उनको ही शृंगार रस भी कहते हैं और उनको ही उसका अधिष्ठाता भी।" इस दृष्टि से यह रसराज शाश्वत,

---

१ शृंङ्ग हि मन्मथोद्रेकस्तदागमनकारकः ।
उत्तम प्रकृति प्रायो रसः शृङ्गार उच्यते ।१८।।
—यु० त० स० रसमयूख, पृ० २४९

२ सुख प्रायेष्ट सम्पन्न ऋतुमाल्यादि सेवकः
पुरुषः प्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः ।।१।।
टि०—यहाँ पुरुष से तात्पर्य है – कृष्ण
प्रमदा से तात्पर्य है—रमा या राधा } नाट्यशास्त्र अ० ६

३ ऋतुमाल्याद्यलंकारैः प्रियजनगन्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
उपवन गमन विहारैः शृङ्गार रसः समुद्भवति ।।२।।
—भरतकृत नाट्यशास्त्र, अ० ६

स्वयं प्रकाश, अमृत स्वरूप, परमानंदमय तथा विलक्षण चमत्कार से अनुप्राणित है। आह्लाद इसी रसराज का जीवन है।

प्राकृत तथा अप्राकृत रूप से रसराज शृङ्गार के दो विभाग हैं। सर्वानन्द का आदि कारण, सर्वानन्द स्वरूप, स्वप्रकाशपूर्ण, सत्यस्वरूप चेतनमय तथा परमाह्लादक सुख ही अप्राकृत-अलौकिक शृंगार रस नाम से कहा जाता है। "इस अप्राकृत रस को अधिष्ठेय (आश्रित) तथा निराकार भी कहते हैं। इसके विपरीत प्राकृत रस को अधिष्ठातृ (आश्रय) तथा नराकार कहा गया है। जैसे पृथ्वी-अप-तेज-वायु के दो रूप होते हैं, उसी प्रकार रस के भी दो रूप माने गये हैं।[1]" अधिष्ठेय-अप्राकृत तथा निराकार रस ही कर्मात्मक है। इसका केवल अनुभव होता है। काव्यार्थ की भावना के द्वारा सत्वोद्रेक से उत्पन्न जो बुद्धि है, उस बुद्धि के व्यापार से यह रस अनुभूत होता है। अधिष्ठातृ-प्राकृत तथा नराकार रस कारणात्मक होता है। यह पुरुषोत्तम रूप है। एक मात्र प्रेमी वैष्णव जनों द्वारा भोग्य यह रस पुरुष, आनंदमय तथा भूमा शब्द से भी कहा गया है। यदि साधारण दृष्टि से देखा जाय, तो परिणाम में विकारोत्पादक तथा अन्त में वैरभाव से यह प्राकृत शृङ्गार हेय (त्याज्य) है। मुनिवर्ग तो प्राकृत आनन्द तक को त्याज्य मानता है, किन्तु इतने पर भी जो भूमा है—वह त्याज्य नहीं हो सकता। जिस प्रकार भूमा को अमृत कहा गया है, उसी प्रकार श्रीश शृंगार (मधुर रस) को परम निर्विकार, आनन्दमय, नित्यनूतन विग्रह, माधुर्य-सौन्दर्य रूपी अमृत का सागर, वेदान्त से संवेद्य तथा परमफल स्वीकार किया गया है। यह भूमा-प्राकृत-शृङ्गाररस प्रेम, सौन्दर्य तथा सद्गुण युक्त होने से, लक्ष्मी नाम से, समस्त प्राणियों में रमण करने के कारण रमा नाम से, सौन्दर्य का बीज होने से श्री नाम से, सर्वथा अपनी आत्मा के आराधन के कारण राधा नाम से तथा अनन्त विचित्र भङ्ग वाले रसाङ्गों के समूहीकरण से नित्य वृन्दावन स्थित 'रास' नाम से कहा जाता है।

---

१ अधिष्ठेयं तु तद्रूपं निराकारमपिश्रुतम्।
यदधिष्टातृ तद्रूपं नराकारं तु तच्छ्रुतम् ॥२०॥
क्षित्यप्तेजोऽनिलादीनां द्विरूपत्वं यथा श्रुतम्।
द्विरूपत्वं रसस्यापि ज्ञेयं तद्वत्सुनिश्चितम् ॥२१॥
—यु० त० स० पृ० २३६ पर उद्धृत

ऊपर कहा जा चुका है कि पुरुषोत्तम और राधा-युग्म ही रस है। इनका दाम्पत्य नित्य और अखंड है तथा प्रगाढ़ प्रेम की अनन्यता से प्रेमामृत का पान ही रसास्वादन है। इस रसरूप युग्म में रसरूपता भी है और रतिरूपता भी। राधा कृष्ण-युगल का आनन्द रूपत्व ही पान करने योग्य रसत्व है और आनन्दरूपत्व ही ध्यान करने योग्य रतिरूप है। अन्य सुखों के निरोध करने वाले राग से राधा-कृष्ण के परिशीलन को पान कहते हैं और बुद्धि-विवेक के द्वारा उनके परिशीलन को ध्यान कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यहाँ युग्म में रसत्व तथा रसिकत्व दोनों विद्यमान हैं। रसिकत्व आत्मांश में विद्यमान है और रसत्व विग्रहांश में। आत्मा के गुण रसिकत्व के अंग हैं और विग्रहांश के गुण रसत्व के गुण हैं। विग्रह अंश से उनमें भोग्यत्व है और आत्मांश से भोक्तृत्व है। इस प्रकार आत्मांश तथा विग्रहांश की दृष्टि से दोनों भोग्य तथा दोनों भोक्ता हैं। आत्मा तथा विग्रह में यद्यपि कोई भेद नहीं है, तथापि ज्ञानप्रवेश के लिये दोनों में भेद मान लिया गया है। रस के भोग्यत्व का जहाँ तक प्रश्न है, वह रस के स्वगत होने पर अधिक पाया जाता है और रसोद्रेक के परनिष्ठ होने पर भोक्तृत्व की मात्रा अधिक हो जाती है। रस के स्वभाव के अनुसार कभी भोग्य भाव की तथा कभी भोक्ता भाव की इस प्रकार अधिक कमनीयता दृष्टिगोचर होती है। शृङ्गार रस में श्रीकृष्ण के रसिकत्व के लिये यदि कभी राधा रसस्वरूप होती है, तो कभी राधा के रसिकत्व के लिये श्रीकृष्ण रसस्वरूप हो जाते हैं। इनके उपासक रसिकों के लिये तो दोनों में ही रसरूपता रहती है।

जिस रसराज-शृङ्गार के उत्कर्ष-रूप मधुररस का वर्णन यहाँ किया जा रहा है वह रस अपनी उत्कर्षता के कारण राधाकृष्ण के अनुरूप प्रेमानंद स्वरूप सखियों या सखीजनों के द्वारा नित्य आस्वादित है। ये सखीजन नित्यमुक्त, साधनतत्पर, अनन्यशरण, शुद्ध तथा राधा-कृष्ण को ही अपना जीवनाधार मानते हैं। युग्मस्वरूप-रस तथा रसिकत्व का अनुभव उन्हीं सखियों के द्वारा सर्वदा होता है। सखियों का श्री के साथ तादात्म्य होने से उनमें रसत्व सम्भव होता है और इस तादात्म्य के अभाव में उनका रसिकत्व सर्वदा ही प्रकट होता है। युग्मरूप-रस का रसत्व सभी से अनुभूत होता है, किन्तु युग्मरूप का रसिकत्व विशेषतः सखीजनों

के द्वारा ही आस्वादित है। सर्वप्रकार से सखीजनों को इस रस का सम्भोग होता है। शांत, दास आदि भाव वाले अन्य जनों को अंशतः ही इसका भोग प्राप्त होता है। कहा जा चुका है कि पुरुष रूप से प्रवेश न होने के कारण युग्मरस का भोग पुरुषों के लिए व्यवधान युक्त होता है, इसीलिए रासलीला में सखीभाव या कान्ता भाव की मुख्यता रहती है। रासलीला से यहाँ मेरा अभिप्राय कृष्ण-लीला से ही है।

अवस्था की दृष्टि से सखियों में दो भेद है, यथा प्रेयसी और सखी। जब श्रीकृष्ण साक्षात् कामदेवरूप में अनुभूत होते हैं तब सखीजनों में प्रेयसीभाव की मुख्यता होती है और जब रसरूप से युग्मरूप का आस्वादन अनुभूत होता है, तब सखियों में सखीभाव की प्रधानता रहती है। कामभाव में तो स्पर्शेन्द्रिय की प्रधानता रहती है और रसभाव में समस्त इन्द्रियों की समानता का अनुभव होता है। श्रीकृष्ण के मन्मथ रूप में सखियों को प्रियतम भगवान के संग से रसानंद अधिक होता है और भगवान के रसरूपत्व में उन सखियों को युग्मसेवा से रसानंद अधिक होता है। भगवान कृष्ण के मन्मथ रूप में धातु को विकृत करने वाला-लौकिक काम नहीं होता। वे तो स्वतः निर्विकार सुखात्मक काम हैं। निश्चित इन्द्रियों का सम्भोग यहाँ आवश्यक नहीं होता। सर्व अंगों को सर्वकार्य करने की योग्यता एवं क्षमता यहाँ होती है। अभिप्राय यह कि श्रीकृष्ण के समस्त अग समस्त इन्द्रियों के व्यापार की शक्ति रखते हैं। अपनी किसी भी इन्द्रिय से वे दर्शन, पोषण, रक्षा, स्पर्श आदि का कार्य संपन्न करने में पूर्ण समर्थ हैं। रस का परम उत्कर्ष इसीलिये उनमें दृष्टिगोचर होता है।

शृङ्गार रस जब अपने अलौकिक रूप (मधुररस) में प्रस्फुटित होता है, तब भी उसमें स्थायी भाव रूप भागवती रति विद्यमान रहती है। अपनी उज्ज्वलता से ही यह रस सुशोभित होता है। संसार में जो भी पवित्र, निर्मल, उज्ज्वल तथा दर्शनीय है उसकी उपमा शृङ्गार से दी जा सकती है। उज्ज्वलता ही इस शृंगार का वेश है। जैसे गोत्र, कुल, आचार के अनुसार आप्तजनों के उपदेश के द्वारा पुरुषों के नाम होते हैं, उसी प्रकार यह शृंगार रस आचार सिद्ध, मनोहर तथा उज्ज्वल वेश से युक्त है। उत्तम प्रकृति वाले युवा-युवती राधा-कृष्ण इस शृंगार के कारण हैं। "यह शृंगार सम्भोग तथा विप्रलम्भ भेद से

दो प्रकार का होता है। ऋतु, माल्यादि, अनुलेपन, अलंकार, इष्टजन विषयक श्रेष्ठ भवन-उपभोग, उपवन-गमन, श्रवण, क्रीडा-लीला आदि विभावों से युवा-युवती में संभोग उत्पन्न होता है। इस श्रृंगार में नयनचातुरी, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष-संचार, ललित मधुर अंग, हाव, वाक्यादि रूप अनुभाव होते हैं।[1]" दम्पति के आलम्बन होने पर ही रसज्ञों के द्वारा इस श्रृंगार का वर्णन किया गया है। इस श्रृंगार रस की उत्कर्षता का एकमात्र कारण हैं–राधा-कृष्ण का नित्य दाम्पत्य। इन दोनों की सर्वगुण-सम्पन्नता से ही,यह रस पुष्ट है। समस्त इन्द्रियों के साथ यदि मन का संयोग होता है, तो रसास्वाद या रसानुभव अवश्य होता है। विप्रलम्भ में केवल हृदय के प्रवेश से ही रसानुभव होता है। सिद्धांत रूप से सम्भोग रस अंगी है और विप्रलम्भ अंग परिपूर्णानंद संभोग में ही सम्भव है, विप्रलम्भ में नहीं। विप्रलम्भ में विक्षेपानंद सम्भोग दृष्टिगोचर होता है। सम्भोग में मन तथा समस्त इन्द्रियों से तृप्ति होती है और वियोग में केवल हृदय या मन से ही तृप्ति होती है। श्रृंगार के उत्कृष्ट रूप मधुर भक्ति रस की इसी उपासना से राधाकृष्ण की प्रेमलीला या रसलीला का रस रसिक को अनुभूत होता है। ये राधाकृष्ण उपासक की दृष्टि में हैं—

सदा सर्वदा जुगल एक तन, एक जुगल तन विलसत धाम।
श्रीहरिप्रिया निरन्तर नितप्रति, कामरूप अद्भुत अभिराम ॥२६॥

—महावाणी सि० सु०

आह्लाद और आनन्द रूप राधा-कृष्ण की ही मधुर भक्ति का उपदेश सम्मोहन तंत्र में भगवान शिव ने भी दिया है।

अभी तक जो भी कुछ कार्य कृष्ण भक्ति के सम्बन्ध में शोधकर्त्ताओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, उसमें कृष्ण की बाल-लीलाओं का पर्याप्त

---

१ 'यस्य द्वौ भेदौ संभोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतु-माल्याद्यनुलेपनालंकारेष्टजनविषयकवरभवनोपभोगोपवनगमन श्रवण क्रीड़ालीलाविभावैरुत्पद्यते। तस्यनयनचातुरीभ्रूविक्षेप कटाक्षसंचारललितमधुरांग हाव वाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।'

—भरत-नाट्यशास्त्र, अ० ६,पृ० ५६३

माला में निरूपण है, साथ ही रासलीला के भी चित्र उपस्थित किये गये हैं। इतना सब होते हुए भी राधाकृष्ण-युगल के उस रूप का दर्शन शोध का विषय न बन सका, जो यमुना के सुन्दर पुलिन पर स्थित कुंजों के मध्य रसोपासना की व्यापकता का प्रतिपादन करते हुये प्रकट हुआ था। सूरदास आदि कृष्ण भक्तों के द्वारा श्रृंगार वर्णन की प्रशस्ति में भी बहुत कुछ लिखा गया। उनकी मधुर उपासना के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा संकेत भी दिये गये, किन्तु अब तक इस मधुर रस की उपासना प्रणाली को अनुसंधान का विषय साहित्यिक जगत में स्पष्ट रूप से न बनाया जा सका। प्रस्तुत प्रबन्ध, लेखक को प्राप्त हुई इसी प्रेरणा का परिणाम है। यदि इससे साहित्य के किसी अछूते अंग की पूर्ति होगी, तो उससे निश्चित ही ग्रन्थकार को संतोष प्राप्त होगा।

प्रभु को प्राप्त करने के हेतु भारतवर्ष में अनेक प्रकार की साधनायें प्रचलित हैं। किन्तु उनमें से ज्ञान, कर्म, योग तथा भक्ति पर प्रमुख रूप से संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए, इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। उपासना के क्षेत्र में भक्तों ने अपने-अपने भावानुसार इस भक्ति के विभिन्न रूपों के अवलम्ब से प्रभु को पाने की चेष्टा की है, किन्तु भक्ति के इन विविध रूपों के मध्य जो स्थान माधुर्योपासना का है, वह सर्वोत्कृष्ट है और उसे इस अध्याय में प्रमाणित करके उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। यहाँ पर प्रसंगवश वैष्णव भक्तों के उन विशेष संप्रदायों की भी चर्चा की गई है, जिनसे मधुर रस धारा को गति प्राप्त हुई है। प्रेम-भेद का शास्त्रीय निरूपण करते हुए तथा मधुर भक्ति की पवित्रता को स्पष्ट करते हुए इस क्षेत्र में आने वाले संयोग तथा वियोग के भेदों तथा उपभेदों पर भी विचार किया गया है। इस अध्याय में इस बात को भी प्रमाणित किया गया है कि भक्त में सर्वात्म-समर्पण की भावना इसी साधना के आश्रय से अंकुरित होती है।

द्वितीय अध्याय में मधुर उपासना की परम्परा का विशुद्ध विवेचन प्रस्तुत किया गया है तथा क्रमशः वेद, उपनिषद और भागवतादि ग्रंथों से उसके स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। इसके साथ ही इस उपासना से सम्बन्धित वैष्णव संप्रदाय के रसिकों

के सिद्धांतों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसी अध्याय में आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल की समय-विभाजन की मान्यता के अनुसार माधुर्योपासकों का काल-निर्णय भी किया गया है तथा विभिन्न कालों में होने वाले प्रमुख रसिक भक्तों का विक्रम सम्वत के अनुसार विवरण भी दिया गया है।

भक्तिशास्त्रों के अनुसार तृतीय अध्याय में राधा कृष्ण के रूपमाधुर्य, केलिमाधुर्य तथा रतिमाधुर्य का सैद्धान्तिक दृष्टि से विवेचन उपस्थित किया गया है। रूपमाधुर्य के अन्तर्गत युगलाराध्य के उस रूप की झाँकी को रखा गया है, जिसे भक्तों ने अपनी रस-साधना का साध्य बनाया है। केलिमाधुर्य में निकुंज विहारी युगल के कौमार, पौगंड तथा कैशोर वय के अनुसार लीलाओं का निरूपण करते हुए उनकी कैशोर लीलाओं (यथा रास, होली, हिंडोल, जल विहारादि) के चित्र उपस्थित किये गये हैं। भगवान की इन मधुर लीलाओं का नित्य दर्शन ही साधकों का परम उद्देश्य रहता है। अस्तु, उन्होंने अपने काव्य में इन्हीं का गायन किया है। भक्तों के रतिमाधुर्य का चित्रण इस अध्याय में सैद्धांतिक दृष्टि से अत्यंत संक्षेप में व्यंजित है और इसमें कुंजविहार की लीला को विशेषतः मान्यता दी गई है।

तृतीय अध्याय में संक्षिप्त रूप से उल्लिखित भक्तों के रति माधुर्य का उनके काव्य के आधार पर इस अध्याय में विचार किया गया है तथा कुंजविहार में होने वाले संयोग की विभिन्न कलाओं के चित्रण के साथ विप्रलम्भ की मधुरिमा का भी लगभग समस्त स्थितियों के अनुसार वर्णन करने की चेष्टा की गई है। पाठकों की सुविधा के हेतु नित्य-विहारी राधाकृष्ण की स्थिति को संयोग-वियोग में अलग-अलग भी देखा गया है। यह इस कारण से किया गया है, जिससे रसिक जनों की विशद रस भावना का परिचय प्राप्त हो सके। इस वर्णन के साथ उपासकों की प्रभु संयोगानुभूति तथा उनकी विरह-वेदना को भी बराबर साथ ही चित्रित किया गया है, जिससे उपासनात्मक चित्रण में क्रमादर्श बना रहे।

इस प्रकरण में प्रपत्ति की परिभाषा, महत्व तथा आवश्यकता का वर्णन करते हुये, उसके उस स्वरूप को स्पष्ट किया गया है, जिससे भक्तों को अपने इष्टदेव का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है और उनके हृदय में

उस भावना का उदय होता है, जिसमें प्रत्येक चेष्टा अपने प्रियतम-प्रभु के लिये होती है। इस प्रपत्ति में भक्त की भावना ठीक वैसी ही होती हैं जैसी पत्नी की अपने पति में। पति कुछ भी करे पत्नी उसे छोड़ नहीं सकती और प्रत्येक चेष्टा पति की प्रसन्नता के लिये ही करती है। स्वामी के अप्रसन्न होने पर जिस प्रकार सेवक दूसरा स्वामी खोज सकता है, उस प्रकार पत्नी दूसरा पति नहीं खोज सकती। प्रेम के इसी दृढ़ सम्बन्ध में मधुर उपासना की सफलता निहित है। रसिकों के काव्य के उद्धरणों से इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

राधा माधव के अनन्य भक्तों ने जिस मधुर साधना से अपने लोक परलोक को साधा था, वह केवल कृष्णभक्ति शाखा में ही सीमित न थी उसका प्रभाव ज्ञानमार्गी कबीर आदि संतों पर, प्रेम मार्गी जायसी आदि सूफी कवियों पर तथा राम भक्ति शाखा पर भी था। भगवान के इन भक्तों ने भी मधुर उपासना की विशिष्ट प्रणाली को अपनाकर अपने प्रिय प्रभु को अखिल विश्व का पति मानते हुए, उनकी उपासना के गीत गाये थे। इस अध्याय में इन सबकी मधुर भावना को इन्हीं की रचनाओं के आधार पर प्रमाणित किया गया है। नारद जी की प्रेम-भक्ति कबीर आदि ने स्वतः स्वीकार की है और गोविन्द माधव की दिव्य झाँकी को अपने हृदयरूपी वृन्दावन में निरंतर देखा है। इन कवियों की भावना में विद्यमान कृष्णभक्ति की माधुर्योपासना से सम्बंधित साम्य तथा वैषम्य का भी उद्धरणों के माध्यम से यथास्थान संकेत दिया गया है।

प्रबन्ध के इस सप्तम प्रकरण में उन भक्तों का विवरण उपस्थित है, जो किसी भी विशेष वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित नहीं है, किन्तु उन्होंने महात्मा सूरदास, हरिदास, हितहरिवंश तथा चैतन्यादि की भाँति ही अपने प्रभु-गान में राधा-माधव युगल के रूप-सौन्दर्य का चित्रण करते हुये, उनकी संयोग-वियोग की मधुरिमा को प्रकट किया है। इन परवर्ती प्रभावित भक्तों ने उनके कुंजविहारी तथा उनकी मधुर उपासना की आध्यात्मिकता को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। भक्ति के क्षेत्र में इन कवियों ने पूर्व से चली आई हुई रस धारा में जो गति पैदा की, वह सराहनीय है। रीति एवं आधुनिक युग के ऐसे कवियों की रस-भावना का चित्रण निश्चित ही इस अध्याय में परमावश्यक था।

उपर्युक्त सात अध्यायों के अतिरिक्त प्रस्तुत प्रबन्ध में परिशिष्ट भी दिया गया है। इस परिशिष्ट में ऐसे दो संप्रदायों का उल्लेख है जिनकी साधना का केन्द्र वृन्दावन नही है, किन्तु उन्होने माधुर्योपासना की सरस पद्धति से ही अपने नित्यविहारी इष्टदेव राधा-कृष्ण को प्रसन्न करने की चेष्टा की है। वे संप्रदाय हैं—श्रीप्रणामी संप्रदाय तथा सहजिया संप्रदाय। ब्रजभाषा में पर्याप्त उद्धरणों के न प्राप्त कर सकने के कारण परिशिष्ट में उपस्थित करने की आवश्यकता का अनुभव किया है। सैद्धांतिक रूप से जो कुछ उपलब्ध हुआ उसके आधार पर इनकी साधना को यहाँ स्पष्ट करने की चेष्टा भी की गई है।

अब जिनकी कृपा और प्रेरणा से मैं इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ, उनके लिये भी अपने हृदय के संतोषार्थ कुछ कहना है।

श्रद्धेय डॉ० प्रेमनारायण जी शुक्ल, डी० लिट्०, के कुशल निर्देशन में मुझे इस प्रबन्ध के लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रारंभ से लेकर अंत तक उन्होंने जिस कुशलता एवं सूक्ष्मदर्शिता से मेरे पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है, वह मेरे प्रति होने वाली उनकी ममता का ही परिणाम है। शिक्षणकाल में भी उन्हें मेरे परिश्रम पर पूर्ण विश्वास रहता था और जब मैंने श्रद्धेय पं० कृष्णशंकर जी शुक्ल की प्रेरणा से इस कार्य को करने का संकल्प किया था तब भी उन्होने मेरे परिश्रम पर अपना विश्वास प्रकट करते हुये मुझे कृपापूर्वक निर्देशन करने का वचन दिया। यह सब उस वृन्दावनविहारी नित्यतत्व की दया का ही परिणाम है कि मैं अपने गुरुजनों के विश्वास का पात्र बनकर उन्हीं की कृपा से इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ हूँ।

परम पूज्य गुरुवर डॉ० मुंशीराम जी शर्मा डी० लिट्० की छत्र-छाया में बैठकर मुझे कई वर्ष तक ज्ञानार्जन करने का सुअवसर प्राप्त रहा है। उन्होंने जिस स्नेह ममता, तथा निर्मलता के साथ मेरे इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में मुझे अपने गम्भीर ज्ञान से लाभान्वित किया है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। वे मेरे गुरु हैं, इससे अधिक सौभाग्य तथा गौरव की बात मेरे लिये और क्या हो सकती है? उन्हें मेरा शतशः प्रणाम है।

वृन्दावन स्थित श्री जी की बड़ी कुंज के प्रधान तथा 'सर्वेश्वर' मासिकपत्र के प्रमुख संपादक श्री व्रजवल्लभ शरण वेदांताचार्य पंचतीर्थ

ने मुझे अपने पास सुरक्षित अप्राप्य एवं हस्तलिखित ग्रन्थों को देखने की सुविधा प्रदान की है, उसके लिये मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। निम्बार्क संप्रदाय के परमभक्त वैष्णव श्रीराधामोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से मुझे प्राचीन रसिकों की हस्तलिखित वाणियाँ अध्ययनार्थ प्राप्त हुई हैं। अस्तु, मैं इनका भी हृदय से आभारी हूँ। श्री राधामोहन दास जी मेरे मित्र भी हैं। उनके सत्परामर्श ने मेरे सहायक का काम इस प्रबन्ध को लिखने में किया है। माध्व गौड़ेश्वर संप्रदाय के मन्दिर के प्रधान श्री पुरुषोत्तम राजा जी तथा श्रीविश्वम्भर जी ने भी मुझे इस प्रबन्ध को लिखने के हेतु अति उत्साह प्रदान किया है, अस्तु वे सत्पुरुष मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। वृन्दावन निवासी श्रीप्रभातचन्द्र जी गोस्वामी, श्रीदम्पति किशोर जी चित्रकार का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, क्योंकि इन मित्रों ने भी अपने अमूल्य परामर्श से मुझे लाभान्वित किया है। कानपुर बैकुण्ठ मन्दिर के निकटस्थित निम्बार्क पीठ के अध्यक्ष श्रीबालकृष्ण गोस्वामी का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे साथ वृन्दावन जाकर माधुर्योपासकों द्वारा रचित साहित्य को मेरे लिये सुलभ किया है।

कानपुर स्थित कल्लूमल संस्कृत महाविद्यालय के प्राध्यापक, सम्मान्य पं० धैर्यनाथ जी झा, एम० ए० साहित्य एवं व्याकरणाचार्य, जिन्होंने कई वर्ष तक संस्कृत के प्राचीन भक्ति ग्रन्थों के अध्ययन में मुझे अपना अमूल्य योग दान दिया है, के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

प्रो० बालकृष्ण जी गुप्त, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, हलीम डिग्री कालेज, कानपुर के ही सद्प्रयत्नों का परिणाम है कि प्रस्तुत ग्रंथ इस रूप में पाठकों के सामने विद्यमान है। अपने ऐसे सहपाठी तथा मित्र के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

ग्रंथ की प्रूफ रीडिंग में जो सहायता मुझे अपने परम स्नेही पं० श्री नारायण पाण्डेय वैद्य, विजय शंकर त्रिपाठी, मूलचन्द्र तिवारी (नैमिषारण्य), तथा विजय शंकर तिवारी से प्राप्त हुई है, उसके लिये मैं इन सबको हृदय से धन्यवाद देता हूँ। अपने प्रिय विद्यार्थी चि० सुशील कुमार मिश्र तथा चन्द्रमोहन वाजपेयी के अथक परिश्रम तथा उत्साह को देखकर मुझे बड़ा संतोष प्राप्त हुआ है। परिश्रम के बदले में उन्हें कोरा धन्यवाद देकर स्नेह के मूल्य को मैं कम न करूँगा। भगवान इन दोनों छात्रों को जीवन में सफलता प्रदान करे। पं० ज्योति

स्वरूप पाण्डेय (अध्यक्ष, इतिहास-विभाग डी० बी० एस० कालेज) मेरे परम मित्र हैं, इन्होंने भी मेरे कार्य की संपन्नता में अत्यधिक उत्साह के साथ अपना योग दिया है। अपने ऐसे मित्र के प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मेरे भतीजे चि० प्रेम नारायण पाण्डेय ने भी प्रूफ संशोधन का कार्य यथा अवसर किया है। मैं भगवान से इसकी सर्वसंपन्नता की प्रार्थना करता हूँ।

जिन विद्वानों के ग्रंथों का मैंने अपने प्रबन्ध की सहायतार्थ उपयोग किया है, उन सब के प्रति मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। अधिकारी विद्वानों के समक्ष इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने का साहस मैंने उनकी कृपालुता तथा उदारता का स्मरण करके ही किया है। आशा है, वे विद्वज्जन मेरी त्रुटि को अल्पज्ञता समझकर क्षमा करेंगे।

दीपमालिका,
१५ नवम्बर, १९६३

—श्यामनारायण पाण्डेय

पहला अध्याय

साधना-दर्शन और भक्ति

भारतीय साधनाओं में भक्ति की महत्ता

निखिल जगत की उत्पादिका शक्ति को ब्रह्म, परमात्मा, भगवान आदि अनेक नाम दिये गए हैं। यह सर्वव्याप्त सत्ता है। महान से महान और सूक्ष्म से सूक्ष्म; अपनी व्याप्ति के कारण यह रूप-रूप में तद्रूप हो रही है। वाणी-में इसका ज्वलन, प्राण एवं अपान में इसका रक्षण तथा प्रापण, विद्युत में इसका बल, सूर्य तथा चन्द्र में इसका दर्शन एवं मनन तथा अन्य दृश्यों में इसका वैशिष्ट्य और वैभिन्य प्रतिभासित हो रहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद्कार के शब्दों में जैसे तिलों में तेल, दही में घी, सोतों में जल एवं अरणियों में अग्नि छिपी होती है, उसी प्रकार जगत के प्रत्येक पदार्थ में उस निराकार परब्रह्म की शक्ति भी उपस्थित है।[1] बृहदारण्यकोपनिषद् में उसके सम्बन्ध में कहा गया है, कि वह मोटा न होते हुए भी मोटा है, पतला न होते हुए भी पतला है. छोटा न होते हुए भी छोटा है, बड़ा न होते हुए भी बड़ा है, लाल न होते हुए भी लाल है, द्रव न होते हुए भी द्रव है, छाया न होते हुए भी छाया है, तम न होते हुए भी तम है, वायु न होते हुए भी वायु है, आकाश न होते हुए भी आकाश है. संग न होते हुए भी संग है, रस न होते हुए भी रस है, गंध न-होते हुए भी गंध है, नेत्र न होते हुए भी नेत्र है, कान न होते हुए भी कान है, वाणी न होते हुए भी वाणी है, मन न होते हुए भी मन है, तेज न होते हुए भी तेज है, प्राण न होते हुए भी प्राण है, मुख न होते हुए भी मुख है, तथा-माप न होते हुए भी माप[2] है। इसीलिए इसे अत्यंत रहस्यमय कहा गया है। जिस प्रकार मिट्टी से आवृत प्रकाशमय रत्न धुल जाने से भली प्रकार-कांतिमान होता है, उसी प्रकार निर्मलता के जल से धुले हुए हृदय में यह प्रकाशित हो उठता है।

---

१ श्वेताश्वतरोपनिषद्-प्रथम अध्याय, मंत्र १५।

२ बृहदारण्यकोपनिषद् के तृतीय अध्याय का अष्टम ब्राह्मण।

उस निराकार असीम सत्ता का सभी साक्षात्कार करना चाहते हैं, किन्तु प्रश्न यह है, कि इस निराकार से सम्बन्ध स्थापित कैसे किया जाय ? इसके समीप पहुँचने के लिए, विभिन्न धर्मावलम्बियों एवं सम्प्रदायों के विभिन्न विद्वानों तथा आचार्यों ने अनेक प्रकार की साधनाओं तथा उपासनाओं को प्रचलित किया है। परमतत्वरूप वह अविनाशी अगणित शक्तियों का सागर है। जितनी शक्तियाँ हैं उतने ही उसके रूप भी साधकों की दृष्टि में हैं, अस्तु उतने ही मार्गों का प्रचलन कोई आश्चर्य की बात नहीं। पूर्वजन्म के संस्कार देश, काल, तथा अनेक प्रकार की स्थितियों के अनुकूल समाज में मतैक्य कभी नहीं हो पाता है। इसी दृष्टि से सब कुछ एक होने पर भी वह परब्रह्म सभी साधकों के लिए उनके भावानुसार भिन्न-भिन्न रूप में रहता है। इसी दृष्टि से तो साधनाएँ अगणित हैं, किन्तु विशेष रूप से प्रामाणिक, सर्वमान्य एवं महत्वपूर्ण साधनाएँ ये हैं :—

१ — ज्ञान-साधना
२—कर्म-साधना
३ — योग-साधना
४—भक्ति-साधना

उपर्युक्त विवरण में संकेत रूप से दी गई प्रायः सभी साधनाओं का समावेश इन चारों साधनाओं में दृष्टिगोचर होता है। इन चारों साधनाओं में ज्ञान को बुद्धि-शक्ति का, कर्म को क्रियाशक्ति का, योग को प्राण एवं मन:शक्ति का तथा भक्ति को भावना-शक्ति का प्रतीक माना गया है।

ज्ञान-मार्ग के साधक को विवेकजनित वैराग्य का सतत् अभ्यास तथा ध्यान की विभिन्न पद्धतियों और विवेकजन्य अन्तर्दृष्टि का सर्वदा उपयोग करना पड़ता है।

ज्ञान-साधना—

ज्ञानी साधक को अभिमान-रहित होकर निरन्तर जिज्ञासुवृत्ति रखनी पड़ती है। जो जानने की वस्तु है, वह सब मैं जानता हूँ—ऐसा विचार करने वाला ज्ञानी अनेक जन्म तक संसार के रहस्य को समझने में असमर्थ ही रहता है। ज्ञानी को आत्मदर्शन तभी होता है, जब उसके हृदय में ज्ञान की जिज्ञासा का सर्वदा अनुभव रहे तथा हृदय में शिशु-हृदय की भाँति निर्मलता भी बनी रहे। आँख में ज्ञान का अंजन लगाकर सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्ममय देखते हुए ज्ञानी

साधक को, निज को देह बुद्धि से परब्रह्म का दास, जीव बुद्धिसे उसका अंश तथा आत्मबुद्धि से स्वयं वही (ब्रह्म) समझना होता है। ज्ञान-साधना में साधक को बीजजागृत, जागृत, महाजागृत, जागृतस्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजागृत तथा सुषुप्ति आदि—मोह या अज्ञान की इन सातों भूमिकाओं से अत्यंत ऊपर उठकर अति कठिन वैराग्य को अपनाना पड़ता है। वैराग्य की उस अवस्था में जब साधक पहुँच जाता है, तो उसे जगत् का ज्ञान नहीं रहता और तभी उसे विरक्त, ज्ञानी अथवा वीतरागी की संज्ञा प्रदान की जाती है और वह सफल साधक भी समझा जाता है। मन्दवैराग्य, तीव्रवैराग्य, तीव्रतरवैराग्य तथा तीव्रतमवैराग्य आदि चार प्रकार के वैराग्य में तीव्रतमवीतरागी सच्चा विरागी होता है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधना ज्ञान की भूमिकाओं के पार करने में होती है, ज्ञान की सप्त भूमिकाओं को पार करने के उपरान्त ही ज्ञानी पूर्ण होता है। वे सप्त भूमिकाएँ इस प्रकार है[1]:—

१—शुभेच्छा,
२—विचारणा,
३—तनमानसी,
४—सत्वापत्ति,
५—असंसक्ति,
६—पदार्थभाविनी,
७—तुर्यगा,

१—ज्ञान की प्रथम भूमिका में साधक को मुमुक्षु कहते हैं और उसके हृदय में भवसागर पार करने की इच्छा के साथ संसार से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इस भूमिका को शुभेच्छा कहते हैं।

२—ज्ञान की द्वितीय भूमिका में पहुँच कर साधक भवसागर से पार होने की युक्ति तथा संसार से दूर हटने का उपाय सोचता है, इसलिए इसे

---

१ ज्ञान भूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता, विचारणा द्वितीयातु तृतीयातनमानुसी सत्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसक्तिनामिका, पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगास्मृता।

योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८. ५-६

विचारणा कहा गया है। इस भूमिका के साधक को भी मुमुक्षु ही कहा जाता है।

३—ज्ञान की तृतीय भूमिका तनमानसी कही गई है—इस भूमिका में मुमुक्षु साधक चित्त की सूक्ष्मता का अनुभव करते हुए शंकारहित हो जाता है।

४—ज्ञान की चतुर्थ भूमिका सत्वापत्ति है। इसमें पहुँचने पर साधक को ब्रह्मविद् कहते हैं। समदृष्टि का होना द्वैतभावना का नाश, आत्मज्ञान की उपलब्धि तथा इच्छित वस्तु की प्राप्ति, इस भूमिका की विशेषताएँ हैं।

५—ज्ञान की पंचम भूमिका में साधक को ब्रह्मविद्वर कहा जाता है—इसमें पहुँचने के उपरान्त साधक को सर्वत्र अनासक्ति हो जाती है। इसलिए उसका नाम अंससक्ति है।

६—ज्ञान की षष्ठी भूमिका का नाम पदार्थभाविनी है। इसमें पहुँचकर साधक का अन्तरतम पूर्णरूपेण जागृत हो जाता है और वह बाह्य दृष्टि से ऊपर उठ जाता है—अस्तु उसे ब्रह्मविद् वरीयान् कहते हैं।

७—ज्ञान की सप्तमी भूमिका 'तुर्यगा' है—इसमें साधक को ब्रह्मविद् वरिष्ठ कहते हैं। इसमें जीव मुक्ति की पराकाष्ठा पर होता है।

ज्ञान की इन सीढ़ियों को चढ़ने के पश्चात् ही साधक ज्ञान-मार्ग की साधना में पूर्ण होता है, अन्यथा नहीं। यहीं पहुँच कर उसको आत्मज्ञानी कहकर पुकारा जाता है। यहाँ पर शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद-ज्ञान (शास्त्र-ज्ञान) परब्रह्म परमात्मा को बोध कराते हुए विवेकजन्य ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[1] लोक-शास्त्र तथा देहादि की वासनाएँ यहाँ पहुँचने पर बहुत नीचे छूट जाती हैं। इस ज्ञान के द्वारा साधक, जीवों में प्रकृति, पुरुष, महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा-रूप नौ तत्व, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच भूत और तीन गुण आदि अट्ठाईस तत्वों तथा उनमें अधिष्ठान रूप से अनुगत एक आत्म तत्व का भी, साक्षात्कार कर लेता है। यहाँ पहुँचते-पहुँचते यदि चेतना पर मायावी आवरण पड़ गया,

१ आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते।
शब्दब्रह्मागममयं परंब्रह्म विवेकजम्।

—विष्णु पुराण ६-५-६१

तो साधना खण्डित हो जाती है और लक्ष्य-अलक्षित ! अत्यधिक संभावना इसी की रहती है। अस्तु साधक को सचेष्ट रहना पड़ता है।

कर्म-साधना—

कर्म-साधना पर दृष्टिपात करते समय विशेष रूप से यह देखना पड़ेगा, कि बिना किसी भय या शंका के हृदय में स्थित उत्तम प्रेरणाओं के अनुसार कर्ममार्गी आचरण करता है या नहीं ! क्योंकि मानवमात्र का हित-अहित, जीवन-मृत्यु एवं सुख-दुख सभी कर्म पर आधारित हैं। यह संसार कर्म-क्षेत्र है— इसमें कोई संशय नहीं। जिस कर्म का इतना अधिक महत्व है, उसका वास्तविक अर्थ क्या है ? इसका स्पष्टीकरण भी वांछनीय है। व्युत्पत्तिशास्त्र की दृष्टि से कर्म शब्द 'कृ' धातु (करना) से निर्मित हुआ है। अस्तु इसका अर्थ है करनी, व्यापार, हलचल, करतूत या कार्य आदि। जहाँ तक भारतीय धर्म-साधना का प्रश्न है, वह 'कर्म' है—इस अर्थ से किंचित्मात्र भी संतुष्ट नहीं है। उसकी दृष्टि में 'कर्म' वही है, जो शास्त्र-विहित एवं धर्म-सम्मत हो। साधनात्मक विचारों को ध्यान में रखते हुए कर्म तीन प्रकार का माना जाता है। यथा—मानसिक, वाचिक तथा कायिक। भारतीय धर्मशास्त्र की दृष्टि से सात्विक, राजस तथा तामस भेद से भी कर्म के प्रकार बतलाये गये हैं। हेतुकी विचाधारा के कारण यही कर्म नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य भेद से भी तीन प्रकार का विख्यात है ! कर्म के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण ऐसा भी है, जो पूर्व एवं वर्तमान दोनों जन्मों को परस्पर जोड़ता हुआ अपना विभाजन प्रस्तुत करता है। इस वर्गीकरण में भी कर्म के तीन प्रकार हैं। यथा—१. संचित। २. क्रियमाण और ३—प्रारब्ध। जहाँ तक वेदांत का प्रश्न है, वह भी इसी विचारधारा का समर्थन करता है। संचित कर्म वह है जो इस जन्म तथा प्राक्तन जन्मों में किया जा चुका है। भविष्य में भोगने की दृष्टि से वर्तमान में जो कर्म किये जाते हैं, उनका नाम क्रियमाण कर्म है।

संचित कर्मों के जितने भाग के परिणाम का भोग प्रारम्भ हो गया हो, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। प्रारब्ध का भोग जीव को भोगना पड़ता है। संचित कर्म की राशि कितनी ही विशाल हो, किन्तु ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त वे सभी प्रज्वलित ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं। क्रियमाण कर्म के सम्बंध में शास्त्रों की प्रत्यक्ष आज्ञा है, कि स्वार्थमयी विचारधारा से कोई कर्म नहीं करना चाहिए, क्योंकि यही विचारधारा बन्धन का कारण है। सभी जन आवागमन से मुक्ति तथा कर्म-बन्धन के इस प्रपंच से निवृत्ति पाने के अभिलाषी

हैं। कर्म की गति यथार्थ में अत्यंत कुटिल, कठोर, कठिन, असाध्य तथा अटल है। इस कर्म पर विजय प्राप्त करने के लिए साधक को अत्यंत तेजस्वी, पुरुषार्थी, शक्तिशाली होना पड़ता है, तभी वह साधना, तपस्या तथा सत्संग आदि से अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। इन कर्मों पर विजय के हेतु साधक को प्रारम्भ से ही सचेष्ट रहना पड़ता है, साथ ही अपने द्वारा किये जाने वाले कर्मों में ईश्वर का अधिष्ठान भी करना पड़ता है। साधक के हित में कर्म-मार्ग की सफलता वहीं पर होती है, जहाँ से उसका संयोग आस्तिकता तथा निर्मल ज्ञान से हो जाता है। अन्तरात्मा के आदेश के पश्चात् किया हुआ कर्म ही कर्म है। कर्म को ही प्रमुख मानते हुए श्रीकृष्ण ने गीता में उसी का उपदेश अर्जुन को किया है। समस्त वैदिक कर्मों में भगवान ने यज्ञ को ही प्रधान कर्म माना है। क्योंकि यज्ञ के द्वारा अग्नि में दी गई आहुति सूर्यलोक में पहुँचती है तत्पश्चात् सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है[१]। साधक के हाथों किये हुए यज्ञ कर्म का उद्गम स्थल वेद ही है। वेद का उद्गम स्थल वह अविनाशी (ब्रह्म) है। अस्तु, यज्ञ में वह सर्वदा विराजमान रहता है। साधक चाहे कितना त्यागी क्यों न हो, किन्तु यज्ञ-दान-तप आदि नियत कर्मों का त्याग उसे भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि चित्त शुद्धि के ये मूल कारण है। इन्हें करते हुए निष्काम भावना से ही साधक की कर्म-साधना अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचती है, अन्यथा नहीं। गीता का कर्म-सिद्धान्त इसी पर आधारित है।[२]

जिस यज्ञ की प्रधानता का वर्णन ऊपर प्रस्तुत किया गया, वह यज्ञ कई प्रकार का माना गया है— जिनमें ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, तथा नृयज्ञ—इन पाँच महायज्ञों की प्रधानता है।[३] वेद और वेदांग का अध्ययन और

---

१ अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

स्मृति-वाक्य

२ अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

—औपनिषदिक विचार

३ यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

-गी०अ० १८, श्लो० ५

अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, शास्त्र-सम्मत तर्पणादि पितृयज्ञ है, भोजनांश का होमादि देवयज्ञ है, बलिकर्मादि भूतयज्ञ है और आतिथ्यादि नृयज्ञ है। इन ज्ञान तथा–नीति युक्त कर्मो में सच्ची श्रेय प्राप्ति हो सकती है। यहाँ निष्काम भावना का विस्मरण नहीं होना चाहिए। भारतीय विचारकों की अपेक्षा विदेशी विचारकों ने भी प्रायः निष्काम कर्मयोग का समर्थन किया है। प्रसिद्ध समाज शास्त्री 'स्पेन्सर' महोदय का कथन है, 'आधिभौतिक रीति से यह बात भी सिद्ध है कि इस जगत में किसी काम को एकदम कर गुजरना शक्य नहीं। उसके लिए कारणीभूत और आवश्यक अन्य अनेक बातें पहले जिस प्रकार हुई होंगी, उसी प्रकार मनुष्य के प्रयत्न सफल, निष्फल या न्यूनाधिक सफल हुआ करते हैं। इस कारण यद्यपि साधारण मनुष्य किसी भी काम के करने में फलाशा से ही प्रवृत होते हैं, तथापि बुद्धिमान पुरुष को शान्ति और उत्साह से फल सम्बन्धी आग्रह छोड़कर अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए।'[1] स्पष्ट है, कि कर्म करने वाले साधक को जो कुछ जैसा प्राप्त हो, उसे वैसा ही कर्तव्य समझकर निष्कामता के साथ करना चाहिए। गीता में इसी आधार पर भगवान् श्रीकृष्ण ने जनकादि की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और उन्हें कर्म-साधना का सिद्ध पुरुष भी बतलाया है। किसी भी साधना के साधक को अपनी ही साधना को श्रेय देते हुए अत्यंत संलग्नता के साथ उसके रहस्य अथवा कर्म का बोध करना पड़ता है, यही उसकी सफलता का रहस्य है।

योग-साधना—

कोई भी कर्म बिना योग के (यज्ञकर्म) सिद्ध नहीं होता। वह योग

---

1 Thus admitting that for the fanatic, some wild anticipation is needful as a stimulus, and recognizing the usefulness fo his delusion as adopted to his particular nature and his particular function, the man of higher type must be content with greatly moderated expectations, while he preserves with undiminihed efforts. He has to see how comparative ly little can be done, and yet to find it worth while to do that little: so uniting philanthropic energy with philosophic calm".

—*Spencer's study of Sociology viii th. Ed. Page 403.*

है—चित्त-वृत्तियों का निरोध और वह कर्तव्य कर्म मात्र में व्याप्त है।[१] व्युत्पत्ति के अनुसार "योग" शब्द 'युज्' धातु से निर्मित होता है। 'युज्' धातु का तात्पर्य है—समाधि; समाधि का अभिप्राय यह है कि सम्यक् प्रकार से परमात्मा के साथ युक्त हो जाना। ब्रह्म तथा जीव दोनों का पूर्णरूप से संयोग अर्थात् विजातीय-स्वजातीय एवं स्वगत भेद से ऊपर उठकर एकाकार हो जाना, साधना में अपने अस्तित्व को भूल कर, ताल-ताल पर उस परम सत्ता के साथ तद्रूप हो जाना तथा भाव—कर्म और वाणी सभी से उस अविनाशी में लीन होना योग है। अद्वैतानुभूति की दृष्टि से जीवात्मा परमात्मा का सम्पूर्णतः मिलन, योग कहलाता है। महर्षि पंतजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना ही योग है।[२] सांख्यशास्त्री, पुरुष-प्रकृति का पृथकत्व करके अर्थात् दोनों का वियोग करने के उपरान्त पुरुषस्वरूप में स्थित हो जाने को, योग कहते हैं। संसार-सागर से पार होने के प्रयत्न को योग वासिष्ठ में योग की संज्ञा प्रदान की गई है। एकत्व की दृढ़ भावना, प्राण-स्पन्दन का सर्वथा रुकना तथा मन की शान्ति इस योग की रीतियाँ हैं। योग के सम्बन्ध में विदेशी विदुषी अंडरहिल नामक महिला के विचार के अनुसार योग सत्य-स्वरूप परमात्मा के साथ एकतत्व संपादन करने की विद्या है। योगी उसे कहते हैं, जिसने न्यूनाधिक रूप से परमात्मा के साथ एकीभाव प्राप्त कर लिया है अथवा जिसका लक्ष्य है—परमात्मा के साथ एकात्मभाव को प्राप्त करना, साथ ही जो इस एकात्म भाव में विश्वास करता है।[३]

साधनात्मक स्वाभाविक योग एक ही है, जिसे योग शिखोपनिषद् में भी एक बतलाया गया है। साधकों के मध्य यह योग महायोग के नाम से विख्यात

---

१ यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। सधीनां योगमिन्वति॥
—ऋक् संहिता, मण्डल प्रथम, सूक्त १८, मंत्र ७

२ 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'—महर्षि पतंजलि कृत, यो० समाधि-पाद, सूत्र २

3 "Mysticism is the art of union with reality. The mystic to a person who has attened that union in greater or less degree or who aims at and believes in such attainment".
—*"Mysticism" By Miss Evelyn Underhill*

है। अवस्था भेद के कारण योग की इस साधना को कई वर्गों में विभाजित कर दिया गया है। इस कारण से इसी महायोग को मंत्रयोग, हठयोग, लय-योग तथा राजयोग के नाम से पृथक करते हैं।[1]

एकाक्षरात्मक 'ॐ' मन्त्र को अथवा द्वयाक्षरयुक्त 'हंसः' या 'सोऽहम्' मन्त्र को, षडक्षरात्मक, 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र को या अष्टाक्षरयुक्त "ॐ ह्रां ह्रीं नमः शिवाय" मंत्र को क्रमानुसार जपना मंत्रयोग कहलाता है। साधना में मन्त्रयोग के द्वारा साधक को पश्चिम मार्ग (जिसे सुषुम्ना कहते हैं) का दर्शन हो जाता है। इस दर्शन के कारण चित्त की स्थिति के सम्बल से तत्व का प्रत्यक्षीकरण ही मंत्रयोग का परिणाम होता है! अभिप्राय यह, कि 'सोऽहम्' आदि मन्त्र का शनैः शनैः जप करते हुए, चित्त की वृत्तियों का जो निरोध होता है वही मन्त्र योग कहलाता है। इसमें यदि साधक से मानस तथा मौखिक जप नहीं हो पाता, तो वह लेखात्मक जप करके भी अपने मन को स्थिर कर सकता है।[2] प्राणायाम के अतिरिक्त शेष सातों अंग इस योग के भी हैं एवं समस्त चक्रों में मूलाधार, मणिपुर तथा आज्ञाचक्र की साधना भी मन्त्रयोग में होती है।

एक ही भाव में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीर गुंथे हैं और परस्पर दोनों का प्रभाव भी एक दूसरे पर सर्वथा रहता है। सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों शरीरों को अपने बस में करते हुए योग की उपलब्धि को हठयोग की संज्ञा दी गई है। दक्षिण स्वर को सूर्य कहते हैं और वामस्वर को चन्द्र। इन दोनों की समता हठयोग की संज्ञा में आती है। कहने का अभिप्राय यह है, कि नाभि से उठने के बाद प्राणवायु नासिका के अगले भाग से बारह अंगुल तक बाहर

---

१ 'मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ॥'
— योगशिखोपनिषद्

२ हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते ॥
गुरु वाक्यात् सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः
सोऽहम् सोऽहमिति प्रोक्तो मन्त्रयोगः स उच्यते ॥
प्रतीतिर्मन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि ॥
—योगशिखोपनिषद् १, १३०-१३२

जाता है तथा फिर लौटकर नाभि में आता है। यह है प्राणवायु की स्वाभाविक गति। इस गति को साधक, प्राणायाम के सहारे एक-एक, दो-दो अंगुल क्रमानुसार घटाता है। इस प्रकार जब बारह अंगुल बाहर की गति स्तब्ध हो जाती है तथा नासिका के भीतर ही दोनों स्वर बराबर रहते हुए सुषुम्ना के द्वारा जिस अवस्था में प्राण चलता है, उसी स्थिति में जब साधक पहुँचता है, तभी वह हठयोगी कहलाता है और वह स्थिति 'हठ'। गीता का 'प्राणा पानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ' का श्लोक भी इसी की पुष्टि करता है।' अष्टांग योग के द्वारा (यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि) दस प्रकार के बन्धसमूह से (महामुद्रा-महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीत करिणी, बज्रोली तथा शक्तिचालन) या षट्कर्म के द्वारा (धौति-बस्ति-नेति-त्राटक, नौलि तथा कपालभाति) अथवा केवल कुम्भक (रेचक, पूरक आदि प्राणायाम को छोड़कर) प्राणायाम से वायु पर अधिकार कर लेने की क्रिया हठयोगी की साधना को सफल करती है। इसी क्रिया को हठयोग की साधना कहते हैं।[1]

शाम्भवी मुद्रा से ध्यान लगाना, खेचरी मुद्रा से रसास्वादन करना, भ्रामरी मुद्रा से नाद सुनना और योनिमुद्रा से आनन्द-भोग करना। इस चार प्रकार की प्रणाली से लय योग की सिद्धि हो जाती है। यथा—

शाम्भव्या चैव खेचर्या भ्रामर्या योनिमुद्रया।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा ॥५॥

—घेरण्ड संहिता, सप्तम उपदेश, ५,

पिण्ड और ब्रह्माण्ड का निर्माण समान रूप से हुआ है। दोनों में ही गृह-नक्षत्र-चतुर्दशभुवन इत्यादि विद्यमान हैं। साधक का पिण्ड पंचकोष के शैथिल्य के पश्चात् इच्छित लोक में सम्बंध-निर्माण कर सकता है। इसी प्रकार मानव पिंड के आधार पद्म में कुल कुंडलिनी-ब्रह्मशक्ति प्रसुप्तावस्था में निवास करते हुए अविद्या के कारण सृष्टि-कार्य करती है। परिणामतः वैसी सृष्टि होती है। मानव शरीर के अन्दर मस्तकान्तर्गत सहस्रदल में कुलकुंडलिनी शक्ति को जिस योग के द्वारा ब्रह्मरूप सदाशिव के साथ मिलाते हैं—इसी

---

१ भवेद्घटाङ्कमार्गेण मुद्राकरणबन्धनैः।
तथा केवल कुम्भे वा हठयोगी वशानिलः ॥

प्रक्रिया को लययोग कहते हैं। इस स्थिति में साधक पूर्णरूपेण इच्छा-रहित हो जाता है।

राजयोग अन्य तीनों योगों की चरम स्थिति का नाम है। चित्त, मन, बुद्धि तथा अहंकार से ही अन्तःकरण जीव के बन्धन का कारण होता है तथा मुक्ति का भी। जिस प्रकार अशुद्ध मन जीव को नीचे की ओर ले जाता है तथा शुद्ध एवं पवित्र मन उत्थान की ओर, ठीक उसी प्रकार इन्द्रियासक्त बुद्धि जीव को बन्ध में डाल देती है तथा ब्रह्मासक्त बुद्धि जीव को मुक्ति क्षेत्र में। पवित्र बुद्धि के सम्बल से तत्व को जान करके राजयोग का साधक ब्रह्म और जीव के ऐक्य का रहस्य समझ जाता है और मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। यह साधना भी ध्यान की अपेक्षा रखती है, क्योंकि ध्यान में जप से सौ गुना अधिक फल मिलता है। राजयोग का सम्बंध यथार्थ में मन से है। हठयोगी शरीर तथा प्राण से अपनी साधना को प्रारम्भ करता है और राजयोगी मन पर संयम करके।[1] मन को सर्वप्रथम स्थिर करना साधक के लिए परमावश्यक है, तत्पश्चात् चित्त के द्वारा अन्तःकरण तथा शरीर से भिन्न आत्मा का दर्शन तथा साक्षात्कार संभावित है। मिस्टीरियस कुंडलिनी में इसी प्रक्रिया पर ज़ोर दिया गया है।[2] महर्षि पतंजलि के अनुसार मन का संयम साधक को अष्टांग योग से करना चाहिए, क्योंकि इसी संयम से भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, काय-व्यूहज्ञान, सिद्ध दर्शन एवं अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। राजयोग के ध्यान को ब्रह्मध्यान तथा समाधि को निर्विकल्प समाधि की संज्ञा दी गई है। यथार्थ में राजयोगी वही है, जो वाह्यलक्ष्य मध्यलक्ष्य, तथा अन्तर्लक्ष्य या अन्तर्मुद्रा-ज्ञान से आत्मदर्शन कर लेता है। राजयोग के पंद्रह अंगों का वर्णन तेज-विन्दूपनिषद् में किया गया है।

योगी साधक को भी ज्ञानमार्गी की भाँति सप्त भूमिकाओं को पार करके अपने लक्ष्य तक पहुँचना होता है। वे भूमिकाएँ कृष्ण यजुर्वेदीय अक्ष्यु-पनिषद् के द्वितीय खण्ड में इस प्रकार दी गई हैं :—

---

१ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धनमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्॥

2 "Self-concentration with a view to seeing the soul as it looks when it is abstracted from mind and matter."

—*Mysterious Kundalini, Page 10*

१—असंवेदन
२—विचार
३—असंसर्गा
४—स्वप्न
५—सुषुप्तपद
६—तुर्या
७—विदेहमुक्ति

१—योग की प्रथम असंवेदन भूमिका में साधक वासनाओं से विरक्त, लोक-हितकारी, मधुरभाषी, प्रीतिवान तथा सुकर्मी हो जाता है।

२—योग की द्वितीय विचार नामक भूमिका में साधक मद, अभिमान, मत्सरता, लोभ, मोह का त्याग करते हुए श्रुति आदि ग्रन्थों में संसार-सागर से उद्धार होने की प्रक्रिया को पढ़ता है तथा उसके रहस्य को जान लेता है।

३—विचार नामक भूमिका को पार करने के उपरान्त असंसर्गा भूमिका आती है। इस भूमिका में अपनी बुद्धि को स्थिर करते हुए, अध्यात्म शास्त्र के अवलम्ब से साधक अपने चित्त को निर्मल करता है तथा विषयों में अनासक्त होकर एवं प्राकृतिक सुखों का उपभोग करते हुए, अपनी साधना को पूर्ण करने की चेष्टा करता है। संकल्पात्मक वृत्तियों के त्याग की प्रधानता इसी भूमिका में है।

४—उपर्युक्त तीनों भूमिकाएँ जाग्रत-स्वरूपा हैं। इनके पश्चात् स्वप्न नाम की चौथी भूमिका में साधक की समदृष्टि हो जाती है। उसके हृदय में अद्वैतभाव की प्रधानता होकर यह लोक स्वप्नवत् जान पड़ता है।

५—पाँचवी भूमिका (सुषुप्तपद) में साधक भेदरहित हो जाता है तथा आत्मज्ञान से युक्त आनन्दयुक्त स्थिति का अनुभव करता है। इस भूमिका में साधक का चित्त आकाश में विलीन हो जाने के कारण सांसारिक, विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

६—सुषुप्तपद के उपरान्त तुर्या नाम की छठी भूमिका में क्रमशः साधक पहुँचता है। इस भूमिका में वह पूर्णरूप से अद्वैत अवस्था में स्थित होकर निर्भय हो जाता है, बुद्धि का भ्रम तथा हृदय की ग्रन्थियों का सम्पूर्णतः नाश हो जाता है और वह निर्वाण को प्राप्त हुआ सा हो जाता है।

७—परम शान्त, वाणी के द्वारा अगम्य तथा समस्त भूमिकाओं की चरम सीमा है—विदेह मुक्ति की स्थिति। इसमें साधक समाधि अवस्था से पहले

ही विचारपूर्वक स्थूल तथा सूक्ष्म के क्रम से सबको चिदात्मा में लीन कर देता है तथा उसी को अपना स्वरूप भी जान लेता' है –अपने को ब्रह्म समझ लेने की यह स्थिति इस भूमिका की सर्वोच्च सफलता है ।

साधनान्तर्गत भक्ति की महत्ता को जानने के लिए तथा उसके यथार्थ-स्वरूप एवं प्रक्रिया को समझने के लिए इस बात की परम आवश्यकता है कि विभिन्न प्रचलित मार्गों को भी समझा जाय, अस्तु इस दृष्टि से ज्ञान, कर्म तथा योग की प्रक्रिया तथा उसके स्वरूप की अति संक्षिप्त व्यंजना ऊपर प्रस्तुत की गई है । इसके साथ ही इन सभी साधनाओं के लक्ष्य स्वरूप, उस परम पुरुष की स्थिति तथा स्वरूप का भी वर्णन प्रसंगानुसार किया गया है ।

उपासना का प्राण भक्ति है । अपने इष्टदेव को प्राप्त करने के हेतु-योगी योगसाधना से, ज्ञानी ज्ञानमार्ग से तथा क्रियाशील साधक 'कर्ममार्ग से निरंतर प्रयत्न करते रहते हैं । यद्यपि वह परमात्मा सर्वत्र उपस्थित है, तथापि यह सत्य है कि बिना उपासना के उसका दर्शन किसी को नहीं होता । मन और बुद्धि द्वारा उपास्यदेव का निरंतर स्मरण करते रहना ही सिद्धिदायक है । इसलिए चिंतारहित होकर एकान्तभाव से उस प्रियतम का स्मरण अपेक्षित है ।

वेद, आत्मा को जिस प्रभु के पास भक्ति साधना द्वारा पहुँचाना चाहता है—वह सत्यस्वरूप है तथा स्थायी आर्कषण रखता है । स्थायी आर्कषण वहीं होता है, जहाँ सौन्दर्य अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ अलंकृत होकर मूर्तिमान होता है । उस सत्यस्वरूप का सान्निध्य लाभ करना सरल नहीं, किन्तु कठिन भी नहीं । जिसके पास हृदय है और श्रृद्धा सहित आस्तिकता है, वह प्रभु का सान्निध्य प्राप्त कर ही लेता है । वास्तव में श्रद्धा ही दोनों लोकों में सिद्धि प्रदान करने वाली तथा समस्त कर्तव्यों की हित-साधिका है । इस श्रद्धा का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है । यही श्रद्धा उस सत्य स्वरूप के प्रति आकर्षण का मूल कारण है । यह श्रद्धा वाह्य सौन्दर्य पर दृष्टिपात नहीं करती, इसे तो अतः सौन्दर्य की निर्मल झाँकी ही चाहिए। वस्तु की आन्तरिक महत्ता का दिग्दर्शन अंतःसौन्दर्य के दर्शन से ही होता है । यह सौन्दर्य अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ उस भगवान में दृष्टि-गोचर होता है, जिसकी उपासना का संदेश वेद देते हैं । वह सत्यस्वरूप ब्रह्म यद्यपि शब्द का विषय नहीं है, फिर भी उपासना के लिए 'भगवत' शब्द से सम्बोधित किया जाता है । सब कारणों के कारण महाविभूति संज्ञक; परब्रह्म के लिए ही इस शब्द को प्रयुक्त किया गया

है।[1] इस शब्द में भकार के दो अर्थ किये जाते हैं—पोषण करने वाला तथा सबका आधार। गकार का अर्थ कर्मफल प्राप्त कराने वाला, लय कराने वाला तथा रचयिता है। यथार्थ में सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य का नाम है—भग। उस अखिलभूतात्मा में समस्त भूतगण निवास करते हैं और वह स्वयं भी समस्त भूतों में विद्यमान है अस्तु वह अव्यय (परमात्मा) ही वकार का अर्थ है। ब्रह्मस्वरूप वासुदेव के लिए ही इस शब्द का विशद् विवेचन विष्णु पुराण में प्रस्तुत किया गया है। यथार्थ में जो समस्त प्राणियों के उत्पत्ति और नाश, आना जाना तथा विद्या और अविद्या को जानता है, वही भगवान् कहलाने योग्य है।[2] इन्हीं इष्टदेव के लिए भक्त पूज्य भाव रखता है। उपासना में पूज्य भाव का आगमन ही भक्ति के उत्थान का प्रतीक है। भाव के अनेक प्रकार हैं। सतर्कता के साथ भक्त को उचित भाव का आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि भाव से ही परमज्ञान, इष्टदेव का

---

१ अशब्द गोचरस्यापि तस्य वै ब्रह्मणो द्विज।
पूजायां भगवच्छब्दः क्रियते ह्युपचारतः॥ ७१॥
शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते।
मैत्रेय भगवच्छब्दस्सर्वकारणकारणे॥ ७२॥

— विष्णुपुराण, षष्ठांश, अध्याय ५, ७१–७२

२ सम्भर्तेति तथा भर्ता भकारोऽयं द्वयान्वितः।
नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने।७३॥
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥७४॥
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि।
स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥७५॥
एव मेव महाच्छब्दो मैत्रेय भगवानिति।
परम ब्रह्म भूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः॥७६॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिंगतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥७८॥

—वि० पु० ष०, अ० ५

साक्षात्कार तथा समस्त लाभ प्राप्त हो जाते हैं।[1] भगवान् के प्रति उत्पन्न होने वाले भाव की व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि यह मन का धर्म है और मन ही इसे जान भी सकता है। किसी प्रकार भी भावहीन उपासना सफल नही हो सकती। जिस भक्ति की चर्चा की जा रही है, ब्रह्म-स्वरूप के विभागों के अनुसार उसके भी दो भेद किये जाते हैं—(१) निर्गुण (२) सगुण। निर्गुण भक्ति का अवलम्ब लेने वाला साधक भगवान के गुणों को सुनते ही निष्काम भाव से निरंतर भेद-बुद्धि रहित साधना करता है। श्रीमद्भागवत में देवहूति के पूछने पर यह रहस्य श्री कपिल देव जी ने उन्हें बताया था।[2] इस निर्गुण भक्ति में विशेष दृढ़ता की आवश्यकना है। तपस्या, वेद, ज्ञान तथा कर्मकाण्ड आदि किसी से वह परम प्रभु प्रसन्न नहीं होते, उन्हें तो एकमात्र दृढ़भक्ति ही चाहिए। उद्धव जी को भागवत के एकादश स्कंध में उपदेश करते हुए श्री भगवान ने कहा था, 'हे उद्धव' मेरी दृढ़भक्ति मुझे जिस प्रकार आसानी से प्राप्त करा सकती है, वैसा स्वाध्याय, तप, योग, सांख्य, धर्म तथा दान आदि से नहीं हो सकता।[3] यथार्थ में व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ और कथा आदि का कहना सुनना—ये सभी उसके (भक्ति) समक्ष तुच्छ है। ऊपर कहा जा चुका है कि रूप-प्रत्यक्षीकरण का अभाव खटकते हुए भी विरले ही साधक निर्गुण भाव को प्राप्त कर पाते हैं—इस दृष्टि से यह साधना कठिन है।

स्पष्ट है कि उपासकों की श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाये रखने तथा उनकी प्रीति को निरंतर परिवर्धित करने के लिए उस सत्यस्वरूप को निर्गुण से

---

१ भावेन लभते सर्वं भावेन देव दर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं तस्याद् भावावलम्बनम्॥
—रुद्रयामलतंत्र से।

२ "मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥११॥
लक्षणम् भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥"
—श्रीमद्भा०, ३ स्कं०, अ० २९

३ न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥२०॥
—श्रीमदभा०, ११ स्कंध, अध्याय १४

सगुण होना पड़ता है। उस प्रभु के गुण तथा प्रकाश का चिन्तन में आना कठिन है, वह सबके पास रहता हुआ भी अदृश्य रहता है। कम व्यक्ति ही उसके रूप को जान पाते हैं, फिर भी सन्त प्रेमांजन से युक्त नेत्रों से जब उसे देखते हैं, तो वही अरूप उनके लिए रूपवान हो जाता है। भगवान के इस आह्वान की बात को संहिताओं में भी स्पष्ट किया गया है।[1] —

भारतवर्ष में अत्यंत प्राचीन समय से वैष्णवों के अनेक संप्रदाय प्रचलित हैं। इन सम्प्रदायों ने सगुण भक्ति की महत्ता का अपने-अपने मतानुसार प्रतिपादन करते हुए, यहाँ के धर्म-प्रिय लोगों को भगवत-प्राप्ति का अत्यंत सुगम मार्ग (सगुण उपासना का मार्ग) बतलाया है। उपासनात्मक दृष्टि से यहाँ पर उन सम्प्रदायों का थोड़ा सा परिचय अपेक्षित है।

वैदिक युग में उपासना का स्वरूप श्रद्धा का था। शनैः शनैः यह श्रद्धा ऐकांतिक, सात्वत, भागवत एवं पांचरात्र उपासना प्रणाली में परिवर्तित होकर वैष्णवों की अति विशुद्ध सगुण उपासना में प्रस्फुटित हुई। भक्ति के इस समन्वयात्मक स्वरूप ने अपने ऐकांतिक प्रेम के सम्बल से भारतीय संतों, आचार्यों तथा मनुष्यों के हृदय जीत लिये। परिणामतः समस्त आचार्यों तथा विद्वानों के भावों के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों का निर्माण हो गया। इन संप्रदायों में श्री रामानुजाचार्य जी का श्रीसंप्रदाय, श्रीमध्वाचार्य जी का ब्राह्म संप्रदाय, श्रीविष्णु स्वामी का रुद्र संप्रदाय और श्रीनिम्बार्काचार्य जी का निम्बार्क संप्रदाय प्रमुख हैं। यद्यपि इन समस्त संप्रदायों के तत्व चिन्तन में विचारैक्य नहीं है, तथापि मायावाद (शंकराचार्य का मत) का विरोध करने, भगवान का अवतार धारण करने तथा सगुणात्मक भक्ति करने की बात सभी मानते हैं।

श्री रामानुजाचार्य के श्रीसंप्रदाय (विशिष्टाद्वैत मत) ने जिस विशिष्ट अद्वैत प्रणाली का प्रसार किया, वह कोई नवीन बात न थी। यह मत भी वेदान्त की भांति अत्यंत प्राचीन था। भगवान् श्रीनारायण ने जगज्जननी श्री महालक्ष्मी जी को सर्वप्रथम यह मत स्पष्ट किया। उसके पश्चात्

---

१ प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्ति विलोचनेन,
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्याम सुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं,
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥४७॥—ब्रह्मसंहिता, अ० ५।

श्री लक्ष्मी जी ने बैकुण्ठ पार्षद् श्री विष्वकसेन को, विष्वकसेन ने शठकोप स्वामी को, शठकोप ने श्री नाथमुनि को, नाथ मुनि ने पुण्डरीकाक्ष को, पुण्डरीकाक्ष ने श्रीराम मिश्र को, और श्रीराम मिश्र ने श्री यामुनाचार्य जी को यह मत बताया। इनसे प्राप्त करके श्री रामानुजाचार्य जी ने ११ वीं शती में इसका प्रसार किया। इस मत में अभेद या एकत्व की भावना का सर्वत्र समावेश किया गया है। श्रीरामानुजाचार्य जी ने भगवान् के दासत्व की प्राप्ति को ही माना है। उनकी दृष्टि में मुक्ति का श्रेष्ठ साधन है—उपासनात्मक भक्ति। इस भक्ति के सहारे भगवान् के चरणों में सर्वस्व समर्पण कर देना ही उनकी उपासना का चरम लक्ष्य है। ईसा की १४ वीं शताब्दि में इस संप्रदाय की परम्परा में श्री रामानन्द जी हुए और राम की उपासना का वेग प्रबल रूप से गतिमान हुआ। राम की उपासना ईसवी सन् की १२ वीं शती में ही प्रारम्भ हो गयी थी। इसी समय में रामोपासना सम्बन्धी संहिताएँ तथा उपनिषद् भी निर्मित हुए थे। स्वामी रामानंद जी के युग में देश की स्थिति ठीक न थी, अस्तु श्री संप्रदाय के उपास्य देव—विष्णु एवं नारायण की अपेक्षा राम और सीता की भक्ति का प्रसार हुआ। शील-शक्ति, सौन्दर्य से युक्त इष्ट देव के इसी रूप की आवश्यकता इस समय थी। फलस्वरूप इसे उचित स्थान जनता के हृदयों में मिला और शास्त्र-सम्मत रामोपासना प्रचलित हुई।

भारतवर्ष में प्रचलित ईश्वरवादी दर्शनों में वेदान्त सर्व-प्रमुख है। निर्विशेष ब्रह्मवाद (अद्वैतवाद) तथा सविशेष ब्रह्मवाद इसके दो विभाग हैं। विष्णुपरक, शिवपरक, शक्तिपरक, सूर्यपरक तथा गणपतिपरक भेद से सविशेष ब्रह्मवाद पाँच प्रकार का है। इसमें जो विष्णुपरक सविशेष ब्रह्मवाद है, आचार्यों ने उसके चार भेद किये हैं—विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत। इस सविशेष ब्रह्मवाद का द्वैतवाद नामक जो भेद है, उसका स्पष्टीकरण सर्वप्रथम चतुर्मुख ब्रह्मा जी ने किया था, शास्त्र सम्मत वर्तमान युग (कलियुग) में उसे श्रीमदानन्दतीर्थापर नाम के श्री माध्वाचार्य ने बतलाया। इसी को माध्वमत की संज्ञा दी गई है और इसे ब्राह्मसंप्रदाय कह कर भी सम्बोधित किया गया। इस संप्रदाय के अनुसार भगवान विष्णु की आराधना को सर्व श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। विष्णु ही परम तत्व हैं। संसार सत्य है। भेद वास्तविक है, समस्त जीव हरि के अनुचर हैं। जीवों में तारतम्य हैं। यथार्थ सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। वेद का सम्मत तात्पर्य विष्णु है। तीन प्रमाण हैं (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द)। अमला भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है—ये सिद्धान्त इस

संप्रदाय के हैं।[1] जिस प्रकार की अमला भक्ति की व्यंजना माध्व संप्रदाय में की गई, उसे अनन्य भक्ति भी कहते हैं। स्वार्थहीन भक्ति के इस मार्ग में दासत्व की शास्त्रसम्मत ढंग से प्रधानता मानी गई है।

भारतवर्ष की पावन भूमि में इष्टदेव का साक्षात्कार कराने वाला भक्तियुक्त तीसरा सम्प्रदाय 'रुद्र संप्रदाय' के नाम से प्रख्यात है। इस संप्रदाय के प्रवंतक विष्णु स्वामी थे। विष्णु स्वामी का काल-निर्णय अब भी अनुसन्धान का विषय है। शृंगार-शिरोमणि किशोरवय वाले भगवान् श्रीकृष्ण ही विष्णुस्वामी के इष्टदेव थे। इन्हीं की प्राप्ति, भक्ति की विमल मन्दाकिनी में नहाकर, उन्होंने की। इस संप्रदाय ने जिस प्रणाली का प्रसार किया, उसका नाम था शुद्धाद्वैत। इस शुद्धाद्वैत में प्रबल वेग श्री वल्लभाचार्य के प्रयत्न से आया। भक्ति का यह पथ सभी जाति, वर्ण तथा जीवों के लिए अत्यंत सुगम है। मर्यादा मार्ग से इसमें यही विशेषता है और भगवान का अनुग्रह प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इसी अनुग्रह-मार्ग का उपदेश सबके लिए दिया। इसी को पुष्टि मार्ग भी कहते हैं। श्रीमद्‌भागवत् के द्वितीय स्कंध के दशम अध्याय के चौथे श्लोक में पुष्टि अथवा पोषण भगवान के अनुग्रह को कहा गया है।[2] तात्पर्य यह, कि इस मत को श्रीमत्‌भागवत् के अनुसार ही महाप्रभु ने लिया और कहा कि भगवान् सर्वभाव से सर्वदा भजनीय है। भक्तों का यही धर्म है, अन्य नहीं।[3]

भगवान् के जिस भजन की बात आचार्य वल्लभ ने बतलाई, इसका निष्काम रूप से करना ही भक्त के हृदयस्थित गर्व को समाप्त करता है और तभी उसे भगवान् की शक्ति पर अखंड विश्वास भी होता है। उसे प्रभु की अनुग्रह रूपी भक्ति भी तभी प्राप्त होती है। भगवान् की सेवा के लिए ही

---

१ श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्वतो।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः॥
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनं।
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

२ 'पोषणं तदनुग्रहः' —श्रीमद्‌भागवत् २-१०-४

३ सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्याऽयमेव धर्मोहि नान्यः क्वापि कदाचन्॥१॥
—चतुश्लो० षोडश ग्रंथ-भट्टरमानाथ शर्मा पृ० ७०

मनुष्य का जन्म हुआ है, ऐसा पुष्टि मार्गी मानते हैं।[१] अस्तु, यदि सर्वभाव से गोकुलाधीश भगवान् कृष्ण को हृदय में बैठा लिया, तो फिर मनुष्य ने संसार में क्या नहीं पा लिया।[२] इस दृष्टि से काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, तथा सौहार्दयुक्त किसी भी भाव से भक्ति करके भगवान्मय हो जाना चाहिए। दुष्ट इन्द्रियों की शुद्धि के लिए उन्हें ही सर्वत्र विद्यमान भगवान् में लगा देना चाहिए। आचार्य वल्लभ का मत है कि 'नवधा भक्ति के साधनों के प्रकार से प्रेम सम्पूर्ण होता है! अस्तु, इसी से भगवद्धर्म-वैराग्य आदि प्रकट होते हैं।[३] भक्तिवर्द्धिनी षोड़शग्रन्थ में कहा गया है कि त्याग तथा श्रवण, कीर्तन आदि से प्रेम का बीज अंत:करण में स्थित हो जाता है। भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाने पर संसार से वैराग्य हो जाता है, उनमें आसक्त होने पर गृहस्थी के कार्य नीरस जान पड़ते हैं और जब भक्त को भक्ति-व्यसन हो जाता है, तो वह अपनी प्रेममयी स्थिति में पहुँच जाता है। वल्लभाचार्य का विश्वास है कि भगवान् केवल दैन्य से प्रसन्न होते हैं और किसी भाँति नहीं।[४]

जिस पुष्टि मार्ग का प्रसार आचार्य वल्लभ ने किया उसके चार भेद हैं :-

१—प्रवाह पुष्टि भक्ति,

२ —मर्यादा पुष्टि भक्ति,

---

१ तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशय।
भगवद्रूप सेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥
—पुष्टि प्रवाह म०, षो० ग्रं० श्लो० १२

२ यदि श्री गोकुलाधीशोधृतः सर्वात्मना हृदि।
तत: किमपरंब्रूहि लौकिकेर्वैदिकैरपि ॥
—चतुश्लोकी–षोडश ग्रं० श्लो० ३

३ साधनादि प्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः।
प्रेम पूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्पन्दमाना प्रकीर्तिता ॥
—जलभेद षोडश ग्रन्थ, श्लो० १०

४ नहि साधनसम्पत्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्।
भक्तानां दैन्यमेवैक हरितोषण साधनम् ॥२॥
—सुबोधिनी–फलप्रकाश, चतुर्थ अध्याय।

३—पुष्टि-पुष्ट भक्ति,

४—शुद्ध पुष्टि भक्ति,

प्रवाह पुष्टि की स्थिति में पहुँचते ही भक्त के हृदय में अपने इष्ट-देव के प्रति चाह उत्पन्न हो जाती है।

मर्यादा पुष्टि की श्रेणी में रहता हुआ भक्त भगवान् के गुणों का श्रवण कर विधि-विधानों के अनुसार भक्ति प्रारम्भ करता है।

पुष्टि पुष्ट में भक्त भगवान् के सम्बन्ध को जानते हुए सर्वदा उनके प्रेम में तन्मय रहता है।

अन्तिम अवस्था शुद्ध पुष्टि की है। भक्त इसमें अपनी उपासना की चरम सीमा पर पहुँचकर भगवान् के अनुग्रह को प्राप्त कर लेता है। तथा प्रेम की यथार्थ स्थिति के द्वारा परम आनन्द का सुख लेता है।

वेदान्त पर आश्रित द्वैताद्वैत मत के प्रवर्तक श्री निम्बार्काचार्य जी थे। आधुनिक विद्वानों के विचार से इन्होंने ग्यारहवीं शताब्दि में ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया था। जहाँ तक निम्बार्क संप्रदाय के समर्थकों का प्रश्न है, ये पाँचवीं शती में निम्बार्काचार्य जी का होना मानते हैं। सनक संप्रदाय इन्हीं के संप्रदाय विशेष का नाम है। सनक संप्रदाय इसका नाम इसलिये है कि ब्रह्मा जी के मानस पुत्र सनक-सनन्दन सनातन-सनत्कुमार ही इस मत के आदि आचार्य माने जाते हैं। द्वैताद्वैत की भक्ति पद्धति में समस्त गुणों की राशि सब प्रकार से वन्दनीय कमल से नेत्र वाले तथा दोषरहित एवं परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण को इष्टदेव माना गया है।[1] इस संप्रदाय के लोग ब्रह्मा, शंकर आदि से स्तुत्य परब्रह्म श्री कृष्ण के चरण कमल की भक्ति की अपेक्षा मोक्ष के हेतु अन्य साधन नहीं समझते। इनका अखंड विश्वास है कि यद्यपि भगवान् की शक्ति अचिन्त्य तथा उनका शासन कल्पना से परे है, तथापि वे भक्तों की अभिलाषा की पूर्ति के हेतु रूप धारण कर लेते है।[2] ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण की जिन पर

---

१ स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणम् हरिम्॥
(दशश्लोकी से उद्धृत)।

२ 'नान्यागतिः कृष्ण पदारविन्दात्'
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्त सुचिन्त्यविग्रहा—
दचिन्त्यशक्तेर विचिन्त्यशासनात्॥

कृपा होती है वे भक्त अपने इष्टदेव के समक्ष अति दीन रहते हैं। पराभक्ति का प्रादुर्भाव भक्तों में श्रीकृष्ण की कृपा से ही होता है। इसका अर्थ है भगवान् में अनन्य प्रेम हो जाना। दूसरी जो अपरा भक्ति है, इसी की साधना से भक्त अनन्य प्रेम की स्थिति में पहुँच कर अपने प्रियतम से साक्षात्कार करता है।[1] इस प्रकार का विचार तथा पद्धति इस सम्प्रदाय के भक्तों की है। श्रीकृष्ण की भक्ति के साथ-साथ द्वैताद्वैतवादी, श्रीकृष्ण को वाम भाग में उन्हीं के अनुरूप शोभा को प्राप्त करने वाली तथा सहस्रों सखियों से सेवित एवं सम्पूर्ण इच्छाओं को पूरा करने वाली श्री राधा जी का भी उतना ही स्मरण करते हैं।[2] सारांशतः प्रेमलक्षणा भक्ति ही इस सम्प्रदाय की निधि है और राधा-कृष्ण दोनों उपास्य हैं।

उपर्युक्त वैष्णवों के सभी सम्प्रदायों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उस परम प्रभु की प्राप्ति के लिए प्रेमपूर्ण चिन्तन करते हुए मन को तदाकार करना परम आवश्यक है। साथ ही जिस प्रकार अक्षरों का बोध कराने के लिए बालकों के समक्ष उन्हीं अक्षरों का आकार प्रस्तुत करना पड़ता है, उसी प्रकार मन के समक्ष, उस सर्वशक्तिमान तथा निराकार परब्रह्म के बोध के हेतु प्रत्यक्ष नाम-रूप से युक्त स्वरूप रखना पड़ता है। स्पष्ट है कि वैष्णव आचार्यों में निम्बार्क तथा विष्णु स्वामी ने जिस भक्ति पद्धति का प्रसार किया उसके उपास्य देव परब्रह्म स्वरूप भगवान् कृष्ण ही थे। इन्हीं की उपासना के लिए इन आचार्यों ने प्रत्येक मनुष्य को प्रेमपूर्ण चिन्तन करने का उपदेश दिया है। भक्ति की इस प्रणाली को अवतारोपासना भी कहा गया है।

---

१ कृपास्य दैन्यादियजि प्रजायते,
यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधन रूपिका परा॥

२ अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा,
विराजमाना मनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम्॥

दृष्टव्य—उपर्युक्त श्लोक निम्बार्क कृत दशश्लोकी ग्रंथ से उद्धृत किये गये हैं।

भक्ति और माधुर्योपासना

भक्ति अनुभूति का विषय है, व्याख्या का नहीं। इसका साक्षात्कार हृदय करता है। वाणी से परम प्रियतम इष्टदेव का निरंतर नाम-उच्चारण, स्तुति से उनकी विरुदावली का गान, मन से उनके सौंदर्यमय रूप का चिन्तन तथा शरीर से उनके समक्ष प्रगट होते हुए, जो भक्त सदा अधीर, अतृप्त, विकल तथा पागल बने रहते हैं. जिनके नेत्रों से भगवत-प्रेम के आँसू और हृदय से प्रियतम के प्रति शरीरार्पण के भाव निकलते रहते हैं—ऐसे भक्तों की भक्ति की चर्चा वाणी का विषय नहीं हो सकती है। लोटे से पृथ्वी पर रखे हुए पात्र में तैल की धार गिरने से उसमें जिस एकाग्रता, अनन्यता तथा अविच्छिन्नता का अनुभव होता है, ठीक,उसी प्रकार सतत् चिन्तन के द्वारा भक्त को जब वह एकाग्रता, अनन्यता तथा अविच्छिन्नता भगवान् के प्रेम में प्राप्त हो जाती है, तभी वह भक्ति के रसमय प्रान्त में प्रविष्ट हो गया—ऐसा समझा जाता है। इस स्थिति में पहुँचने के लिए वैसी ही दृढ़ता वांछनीय है, जैसी क्षीर-सागर को मथकर अमृत प्राप्त करने तक देवासुरों को थी। ईश्वर के प्रति परम प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। भगवान् के प्रति होने वाला यह अनन्य प्रेम अमृतमय है। इस प्रेम में कामना को स्थान नहीं मिलता। अस्तु, यह प्रेममयी भक्ति गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़ने वाली, विच्छेद-रहित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा अनुभव रूप है। श्री गर्गाचार्य की दृष्टि में प्रभु की कथा में प्रेम होना ही भक्ति है। महर्षि शाण्डिल्य आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होने को भक्ति कहते हैं।[१] सारांश यह कि ईश्वर के प्रति परमानुराग को ही भक्ति की संज्ञा दी गई है। जिस प्रकार पत्नी अत्यंत दीर्घ काल तक विदेश में रहने वाले अपने पति के गुणों का एकाग्रता तथा अनन्यभाव से निरंतर चिन्तन, गान तथा श्रवण किया

---

१ सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा ॥२॥ सा अमृत स्वरूपा च ॥३॥
सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥७॥
गुण रहितं कामना रहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनु-
भवरूपम् ॥५४॥
कथा दिष्विति गर्गः ॥१७॥ आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥१८॥
(नारद भक्ति सूत्र—गीता प्रेस, गोरखपुर)

करती है, उसी प्रकार अपने इष्टदेव में आसक्त होकर सदा उसी का चिन्तन करने की क्रिया को भक्ति कहते हैं। परमानंदस्वरूप इस भक्ति के नौ प्रकार भागवत में और ग्यारह प्रकार नारद भक्ति सूत्र में प्राप्त होते हैं। भागवत् के अनुसार श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्यं सख्यं और आत्म-निवेदन है।[1] नारद भक्ति सूत्र में निम्नलिखित आसक्तियाँ हैं। गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति।[2]

श्रीमद् भागवत् में वर्णित जिस नवधा भक्ति का उल्लेख किया गया है उसे शुद्धाद्वैतवादियों ने भी माना है—इसकी अभिव्यंजना पूर्व में की जा चुकी है। आदिशक्ति भगवती के नौ नामों की भाँति नवधा भक्ति के उपर्युक्त प्रकारों की अपनी-अपनी विशेषता है। भक्ति की इन विभिन्न पद्धतियों में परीक्षित ने श्रवण, शुकदेव जी ने कीर्तन, प्रह्लाद ने स्मरण, लक्ष्मी जी ने पादसेवन, पृथु ने पूजन, अक्रूर ने वन्दन, हनुमान ने दास्य, अर्जुन ने सख्य और राजा बलि ने आत्मनिवेदन का सहारा लिया था। गोपियों की भक्ति उपर्युक्त सभी प्रणालियों से कुछ विलक्षण प्रकार की थी, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

नारद भक्ति-सूत्र में वर्णित गुण माहात्म्यासक्ति के अंतर्गत भक्त भगवान् के गुणों को सुनता हुआ, उन्हीं का कीर्तन करता है। देवर्षि नारद, व्यास, शुकदेव याज्ञवल्क्य, शेष, कागभुशुंडि, सूत, शौनक, शाण्डिल्य, भीष्म, अर्जुन, परीक्षित, पृथु तथा जनमेजय इसी भक्ति से अपने इष्टदेव की आराधना करते थे। इस भक्ति में तन्मय होकर भक्त परमानन्द प्राप्त करता है।

१—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
—श्रीमद्भा०, स्क० ७, अ० ५, श्लो० २३

२—गुणमाहात्मयासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्तिरूपाएकधाप्येकादशधा भवति॥
—नारद भक्ति सूत्र ८२

रूपासक्ति की श्रेणी में पहुँचकर भक्त को भगवान् के रूप सौन्दर्य का स्मरण होता है, साथ ही आन्तरिक तथा वाह्य—दोनों सौन्दर्य पर उसका मन आसक्त हो जाता है। ब्रज की गोपियाँ, राजा जनक, दण्डकारण्य के ऋषि तथा मिथिला के नर-नारी इसी वर्ग में आते हैं।

पूजासक्ति भक्तिसूत्र में तीसरी प्रकार की भक्ति है। इसमें भक्त अपने इष्टदेव की कृपा प्राप्त करने के लिए अत्यंत विनम्र तथा दीन भाव से उनका विधिवत् पूजन करता है। श्री लक्ष्मी जी, राजा पृथु, अम्बरीष, श्री भरत जी इस आसक्ति के साधक हैं।

स्मरणासक्ति में भक्त सांसारिक मिथ्या पदार्थों से अपने चित्त को पृथक् करके बारबार अपने प्रियतम का नाम स्मरण करता है। प्रह्लाद, ध्रुव, सनकादि तथा गोपियाँ आदि इसके अन्तर्गत प्रशंसनीय हैं।

दास्यासक्ति में भक्त अपने इष्टदेव को अपना स्वामी तथा स्वयं को दास समझता हुआ, उनमें निरंतर प्रीति करता है तथा अत्यंत दीन रहता है। श्री हनुमान जी, अक्रूर जी, विदुर जी, इसी श्रेणी के उपासक हैं। सख्यासक्ति में भक्त अपने प्रियतम इष्टदेव से मित्रभाव रखता हुआ, उनमें दृढ़ प्रीति करता है। अर्जुन, उद्धव, संजय, श्रीदामा आदि ऐसे ही भक्त कहे गये हैं।

कान्तासक्ति नामक सप्तम स्थान पर पहुँचने पर भक्त प्रियतम भाव से इष्टदेव को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। भगवान् की समस्त प्रेयसियाँ तथा पटरानियाँ इसके क्षेत्र में आती हैं।

वात्सल्यासक्ति में भक्त अपने को भगवान् का पित्रादि समझते हुए, इष्टदेव से पुत्रवत् व्यवहार करते हैं। ऐसा सुना जाता है कि कुरुपुरी में कोई वृद्ध बढ़ई भक्त रहता था। उसने नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण की प्रतिमा को पुत्र-भाव से भजा और इस प्रकार वह नारद के उपदेश से सिद्ध हो गया[1]। इस श्रेणी में कश्यप-आदिति, सुतपा-पृश्नि, मनु-शतरूपा, दशरथ-कौसल्या, नन्द-यशोदा तथा वसुदेव-देवकी आदि आते हैं।

आत्म-निवेदनासक्ति में भक्त अपने इष्टदेव के समक्ष अत्यंत विनम्र

---

१ तथा हि श्रूयते शास्त्रे कश्चित्कुरुपुरीस्थितः।
नन्द सूनोरधिष्ठानं तत्र पुत्रतया भजन ।। ८८ ।
नारदस्योपदेशेन सिद्धोऽभूद् वृद्धवार्द्धकिः ।
—श्री हरि० रसा० पू० भा० द्वितीय ल०

तथा दीन भाव से निष्कपट होकर अपने सारे कष्टों को कह देता है तथा अत्यंत गोपनीय बात को भी प्रकट कर देता है। श्री हनुमान, राजा अम्बरीष, राजा बलि, विभीषण जी तथा गो० तुलसीदास आदि इसी कोटि के भक्त हैं।

तन्मयतासक्ति में अपने आराध्य देव पर अटूट विश्वास करते हुए भक्त की उन पर अनन्य प्रीति हो जाती है। वह प्रेम में इतना तन्मय हो जाता है कि अन्य को देखता भी नहीं, याज्ञवल्क्य, शुक, सनकादि, आदि इसी श्रेणी में आते हैं।

परमविरहासक्ति में भक्त कभी तो अपने प्रियतम के चिन्तन से क्षुब्ध सा हो जाता है, कभी वियोग के दुःख से रुदन करता है। वास्तव में या तो महापुरुषों का साथ न हो, यदि हो जाय तो उनसे प्रीति न हो, संयोग से यदि प्रीति हो जाय तो वियोग न हो और यदि यह हो गया तो फिर जीवनाशा भी समाप्त हो जाय; क्योंकि प्रियतम के विरह की अपेक्षा मृत्यु ही अच्छी है—[1] भक्ति की इस पद्धति के पोषक हैं उद्धव, अर्जुन तथा व्रजांगनाएँ। भक्ति की जिन ग्यारह आसक्तियों की चर्चा की गई वह महर्षि नारद के अनुसार प्रेमासक्ति के ग्यारह रूप हैं। श्रीमद्भागवत् तथा निम्बार्काचार्य की पुष्टि भक्ति से प्रभावित प्रेममयी भक्ति की एक झाँकी बंगाली भक्तों में भी देखने को मिलती है।

सन् १४८५ ई० में बंगाल प्रान्तान्तर्गत महाप्रभु चैतन्य देव का आविर्भाव हुआ। इनके संप्रदाय को गौड़ीय संप्रदाय भी कहते हैं। इनका मत अचिन्त्यभेदाभेदवाद नाम से विद्वानों में प्रख्यात है। महाप्रभु चैतन्य के इष्टदेव परम आनंद एवं रस रूप भगवान् श्रीकृष्ण थे। जिस भक्ति-गंगा का प्रवाह चैतन्य के समय में गतिमान हुआ, वह अत्यंत मधुर तथा रसमय था। भगवान् कृष्ण की भक्ति ऐसी ही है, क्योंकि माधुर्यभक्ति का इससे उतना ही सम्बंध है, जितना शक्ति और शक्तिमान का।

महाप्रभु ने अपनी आराधना के हेतु श्रीकृष्ण के जिस स्वरूप को चुना वे भगवान समस्त रसों की मूर्ति है, समस्त तारकों की कांति को क्षीण करने वाले हैं तथा ललिता और श्यामा को भी अपनाने वाले हैं। इस प्रकार राधा के

---

१ सज्जन सङ्गोमाभूद् यदिसङ्गोमास्तु तत्पुनः स्नेहः।
स्नेहो यदि मा विरहो यदि विरहो मास्तु जीवितस्याशा॥
—सु० र० भा० ९१-२०

परम प्रियतम श्रीकृष्ण समस्त सुखों के निर्माता तथा सर्वोत्कर्षशाली हैं।[1] जिसका इष्टदेव ही ऐसा हो, उसकी भक्ति की तो बात ही क्या है ? ब्रह्मानंद की सर्वोच्च संख्या का सुख उस भक्ति-सुख-सिन्धु के परमाणु के तुल्य भी नहीं है। सान्द्रानन्द विशेषात्मा स्थिति का यही लक्षण है। इसी को परमानंद स्वरूपिणी भक्ति भी कहते हैं। जो भक्ति भगवान् तथा उनके प्रिय जनों को भी प्रेमयुक्त करके अपने वश में कर लेती है, उसे श्रीकृष्णाकर्षिणी नाम से भी संबोधित करते हैं।[2] उस प्रेमस्वरूप भक्ति के वशीभूत भ्रमर रूपी भक्त कहीं भी हो, अपने इष्टदेव रूप कमल को कभी भूल नहीं सकता।[3]

श्री कृष्ण की भक्ति तीन प्रकार की है[4]—

१ साधन भक्ति,

२ भाव भक्ति,

३ प्रेमा भक्ति,

साधन भक्ति

साधन भक्ति इन्द्रियों की प्रेरणा अथवा प्रयत्न से साध्य होती है इसी को कृतिसाध्य कहते हैं। यह साधन भक्ति दो प्रकार की है। वैधी और रागानुगा।[5]

---

१ अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः।
कलित श्यामा ललितो राधा प्रेयान् विधुर्जयति ॥१॥
—श्री हरिभक्ति रसामृतसिंधु, पूर्व वि० प्रथम ल०

२ ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्द्धगुणीकृतः ॥१९॥
नैतिभक्ति सुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि।
कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम् ॥२०॥
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता ॥
—ह० भ० र० सि० पू० वि० ल०—१

३ क्वचित् क्वचिदयंयातु स्यात्तु प्रेमवंशवदः।
न विस्मरति तत्रापि राजीवं भ्रमरो हृदि ॥
—सु० र० भा०, २३२, ४४

४ सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमाचेति त्रिधोदिता।
—ह० भ० र० सि० पू० ल० २ के श्लो०""का पूर्वार्ध

५ वैधी रागानुगाचेति सा द्विधा साधनाभिधा ॥
—वही श्लोक ३ का पूर्वार्ध

जिस भक्ति में राग (प्रेम) के बिना ही शास्त्रों की शिक्षात्मक प्रेरणा से प्रवृत्ति हो वही वैधी भक्ति है।[1] इसमें शास्त्र का शासन विद्यमान रहता है। भगवान् को कभी विस्मृत न करना अर्थात् सर्वदा स्मरण करना—सभी वर्णों तथा आश्रमों में नित्यविधि कहा जाता है। इस विधि के नित्य होने पर एकादशी आदि के समान फल होता है। किसी अत्यंत भाग्यशाली व्यक्ति के द्वारा प्रवृत्त किया हुआ भगवान् की सेवा में श्रद्धालु व्यक्ति (जिसे न अति आसक्ति है न अति वैराग्य) इस भक्ति का अधिकारी है। अधिकारी तीन प्रकार के माने गये हैं – उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ। सब प्रकार से शास्त्र तथा प्रयत्न में निपुण दृढ़ निश्चय वाला एवं प्रौढ़ श्रद्धावान् व्यक्ति ही इस भक्ति का उत्तम अधिकारी है। जो शास्त्र में निपुण नहीं है, किन्तु श्रद्धावान् है—ऐसा व्यक्ति इस भक्ति का मध्यम अधिकारी है। जो कोमल अथवा थोड़ी श्रद्धा वाला व्यक्ति है—वह इस भक्ति का कनिष्ठ अधिकारी है। इतना सब होने पर भी शुद्ध तथा श्रेष्ठ अधिकारी वही है, जो भगवान् को ही अपना सर्वस्व समझे। भोग तथा मोक्ष की इच्छा भक्ति सुख के लिए हानिकारक है। अस्तु, भक्त को मोक्ष की कामना भी नहीं करनी चाहिए। उसे तो चाहिए—केवल ईष्टदेव का अनुग्रह।

जिस वैधी भक्ति की चर्चा की जा रही है, उसे शास्त्रोक्त तथा प्रबल मर्यादा से युक्त होने के कारण कुछ विद्वान मर्यादा मार्ग नाम से भी संबोधित करते हैं। 'हरिभक्तिरसामृतसिंधु' में आचार्य ने इस वैधीभक्ति के काय, हृषीक तथा अन्तःकरण की दृष्टि से ६४ भेद किये हैं। यह उपासना सांघातिक भेद के क्रम से कही गयी है। इसी ग्रंथ की इस द्वितीय लहरी में भागवत में वर्णित नवधा भक्ति का भी विवेचन किया गया है, विस्तार भय से उसे न दे कर साधन भक्ति के दूसरे स्वरूप रागानुगा पर विचार किया जायगा।

ब्रजवासियों द्वारा की गई भगवत-प्रीति का अनुसरण करने वाली रागात्मिका प्रीति को रागानुगा भक्ति कहते हैं। राग अर्थात् प्रेम, जो राग का अनुगमन करे वही रागानुगा है।[2] प्रश्न यह है कि इसका प्रादुर्भाव तथा बोध

---

१ यत्ररागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरूपजायते ॥३॥
शासने नैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ॥
—वही पूर्व विभाग, लहरी २

२ विराजन्तीमभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु ॥६०॥
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ॥

कैसे होता है ? रागात्मिका वृत्ति के द्वारा ही रागानुगा का प्रादुर्भाव तथा ज्ञान होता है। अपने इष्ट में परम प्रीति करना ही राग है,[१] और तन्मयता से युक्त रागमयी भक्ति को ही रागात्मिका कहते है। इसके भी दो रूप हैं।[२]

(१) सम्बन्ध रूपा

(२) काम रूपा

गोविन्द में पितृत्व आदि का अभिमान—सम्बन्धरूपा भक्ति है। (वात्सल्यासक्ति में थोड़ा सा संकेत पूर्व में दिया जा चुका है) यादवों की भक्ति सम्बन्धरूपा थी। कृष्ण में ईश्वर संबंधी ज्ञान की शून्यता के कारण, इन सम्बन्धरूपा भक्ति के भक्तों की सम्बन्ध रूप प्रेम में प्रधानता थी अर्थात् वे कृष्ण को ब्रह्म स्वरूप नहीं जानते थे। नित्य संपर्क में रहने के कारण सम्यक्रूप से नहीं विचारे गये सम्बन्ध रूप प्रेम में ही उनकी प्रधानता थी। कामरूपा भक्ति स्वयं अपने लिए संभोग-तृष्णा को उत्पन्न कर देती है। उस संभोग तृष्णा में कृष्ण के साथ उनके सौख्य के हेतु ही प्रयत्न होता है। यह कामरूपा भक्ति ब्रज देवियों (गोपिकाओं) में प्रसिद्ध है। इन ब्रजांगनाओं में रहने वाले भगवान् के प्रति विशेष माधुर्य से युक्त प्रेम को बुधजन काम की संज्ञा देते है। लौकिक दृष्टि वाला प्रेम ब्रजांगनाओं में न था।

कामरूपा भक्ति के भी दो प्रकार होते है।[३]

(१) सम्भोगेच्छामयी कामरूपा भक्ति।

(२) तद्भावेच्छाऽऽत्मिका कामरूपा भक्ति।

रसकेलि के अर्थवाली कामरूपा भक्ति को संभोगेच्छामयी कहते हैं। ब्रजदेवियों के भाव माधुर्य की कामना वाली कामरूपा भक्ति को तद्भा-वेच्छाऽऽत्मिका कहते हैं। परम प्रियतम भगवान श्री कृष्ण की माधुर्य-लीला

---

१ रागानुगाविवेकार्थमादौ रागात्मिकोच्यते ।।६१।।
इष्टेस्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।।

२ तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता ।।६२।।
सा कामरूपा सम्बन्धरूपाचेति भवेद्द्विधा ।।'
—श्री हरिभक्ति रसामृतसिंधु, पूर्व विभाग-द्वितीय ल०

३ कामनुगाभवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी ।।८१।।
सम्भोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छाऽऽत्मेति सा द्विधा ।।
—ह० भ० र० सि पू० वि० द्वितीय लहरी

को देख तथा सुनकर इस भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की भक्ति (कामरूपाभक्ति) यथार्थ में उन्हीं भक्तों के हेतु साध्य है, जिसके हृदय मे ब्रज की गोपियों के भाव की भांति ही भगवान के प्रति अनुराग है।[1] पुरुषों में भी यह कामरूपा भक्ति होती है—ऐसा कथन पद्मपुराण का भी है। जो भक्त सब प्रकार से रमण (संभोग) की आकांक्षा करता हुआ, इस भक्ति का नियमपूर्वक सेवन करता है, वह स्वयं महीषित्व रूप को धारण करता है। (उसकी उपासना अपने इष्ट के प्रति स्त्रीरूप की भाँति ही होती है) महात्मा अग्नि पुत्रों ने तपस्या के द्वारा भगवान् विष्णु को भर्ता बना कर अपने में स्त्रीत्व को प्राप्त किया था।

भावभक्ति भगवान् के परम भक्तों तथा भक्तिशास्त्रों के द्वारा यह बात बराबर कही गई है कि भगवान् का प्रेममय चिन्तन करना चाहिए! क्योंकि यही उनकी परम प्रेममयी भक्ति है। बात तो यह है कि इस प्रेममयी का स्वरूप प्रेममय होकर क्रमानुसार समझना चाहिए। परम प्रेम स्वरूप प्रियतम कृष्ण की ओर आकर्षित करने वाली, जिस तीन प्रकार की भक्ति की चर्चा की गई, उसमें का एक प्रकार है—प्रेमा भक्ति। उपर्युक्त समस्त वर्णन साधन भक्ति का था। प्रेमा भक्ति तक पहुँचने के लिए क्रमशः भक्त को साधन भाव की स्थितियों को पार करना पड़ता है। अस्तु, भावभक्ति का संक्षिप्त विवेचन यहाँ होगा।

प्रेम की प्रथमावस्था को भाव कहते हैं। इसमें सर्व प्रथम स्वल्प मात्रा में पुलक अश्रु आदि होते है। तत्पश्चात् भगवान् के चरण-कमल का ध्यान करते-करते हृदय में आर्द्रता उत्पन्न हो जाती है। इसी को भाव की संज्ञा देते हैं। हृदय में स्थित शुद्ध सत्वविशेष को ही बुधों ने भाव कहकर पुकारा है। साधन के अभिनिवेश से 'साधनाभिनिवेशज' तथा कृष्णादि एवं उनके भक्तों की अनुकूलता से 'कृष्णतद्भक्तप्रसादज' नाम की ये दो भाव भक्तियाँ अत्यंत भाग्यशाली भक्तों के हृदय में उत्पन्न होती हैं। जहाँ तक 'कृष्णतद्भक्त प्रसादज'का सम्बन्ध है, इसे तो विरले ही प्राप्त कर पाते हैं। साधनाभिनिवेशज-भावभक्ति भी वैधी तथा रागानुगा दो भेदों से युक्त होकर विख्यात हुई है। विषयवर्णन में कृष्णतद्भक्तप्रसादज की विशेषता है। अस्तु, विस्तारभय से

---

१ तद्भावाकाङ्क्षिणो ये स्युस्तेषुसाधनताऽनयोः ॥
पुराणे श्रूयते पाद्मे पुंसामपि भवेदियम् ॥८४॥
—ह० भ० र० सि० पू० वि० द्वितीय लहरी।

अन्य की चर्चा न करके उसी की व्याख्या करेंगे ।

बिना किसी साधन के जो भावभक्ति भक्त के हृदय में श्री कृष्ण के प्रति हठात् उत्पन्न हो जाती है, उसे 'कृष्णतद्भक्तप्रसादज' कहते हैं । भाव-भक्ति के अंकुर के हृदय में प्रस्फुटित हो जाने पर भक्तजनों में क्षमा, विरक्ति, मानशून्यता, आशा, अभिलाषा, हरिनाम-गान में रुचि, गुण कीर्तन आदि में आसक्ति, समय के सदुपयोग का विचार तथा हरि के निवास स्थान से प्रीति उत्पन्न हो जाती है । यह भावमयी प्रीति, जिसमें लोकोत्तर चमत्कार, सर्वशक्ति-मत्ता तथा उत्तमता विद्यमान रहती है, कृष्ण के प्रसाद से ही पैदा होती है । उत्तरोत्तर अभिलाष की वृद्धि करने के कारण अशांत स्वभाव से उष्णता को धारण करने वाली तथा दिन रात चित्त में उल्लास पैदा करने के कारण यह भक्ति प्रबल आनंद स्वरूप है । यह रति या भक्ति अशांत स्वभाव से उष्णता को उत्पन्न करने पर भी सुधांशु कोटि से भी अधिक स्वादमयी तथा शीतल है ।[1]

प्रेमाभक्ति—

श्रीकृष्णाकर्षिणी तीन प्रकार की भक्तियों में अन्तिम रूप से प्रेमाभक्ति का चित्रण किया गया है । चित्त में सम्यक्रूप से आर्द्रता तथा अतिशय ममत्व को उत्पन्न कर देने वाली भाव की चरम स्थिति को प्रेम कहते हैं । यह प्रेम दो प्रकार का होता है : भाव से उत्पन्न होने वाला । तथा हरि प्रसाद से उत्पन्न होने वाला ।[2] भक्त के आन्तरिक अंगों के अनुशीलन से भाव स्थिति जब अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचती है, तब उसे 'भावोत्थप्रेम' की संज्ञा प्रदान करते हैं और हरि के भक्तों के सत्संग से प्राप्त होने वाली स्थिति को 'हरेरतिप्रसादोत्थ प्रेम' कहते हैं । यह हरेरति प्रसादोत्थ प्रेम भी दो भेदों से युक्त है ।[3]

(१) माहात्म्यज्ञान युक्त हरेरतिप्रसादोत्थ प्रेम ।

---

१ रतिरनिशनिसर्गोष्णप्रबलतरानन्दपूररूपैव ।।३५।।
ऊष्माणमपि वमन्ती सुधांशु कोटेरपि स्वाद्वी ।।

—ह० भ० र० सि० पू० भा० भाव ल०

२ भावोत्थोऽतिप्रसादोत्थः श्रीहरेरिति सद्विधा ।।४।।

—ह० भ० र० सि० पू० भा० भाव ल० से उद्धृत

३ माहात्म्यज्ञानयुक्तश्चकेवलश्चेति साद्विधा ।।४।।

—वही प्रेमाभक्ति लहरी

(२) केवल हरेरतिप्रसादोत्थ प्रेम।

माहात्म्यज्ञान से पूर्ण स्नेह सुदृढ़ तथा सर्वाधिक मात्रा में होता है। रागद्वेष रहित, अविच्छिन्न प्रेम से युक्त मन की गति वाली भक्ति 'केवल' कहलाती है। वैधी मार्ग के भक्तों में माहात्म्यज्ञानयुक्त प्रेमाभक्ति होती है। यह प्रेमाभक्ति क्रमशः श्रद्धा, सत्संग, भजन, क्रिया, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति तथा भाव के उपरांत भक्त के हृदय में स्फुरित होती है।[१] यथार्थ में वह धन्य है, जो इस प्रेममयी स्थिति में पहुँच गया। भगवान् के प्रेम में उन्मत्त भक्त, जब परम आनंद से युक्त होकर सुख-दुःख का किंचित्मात्र भी अनुभव नहीं करता, तभी उसे प्रेम की चरम स्थिति में पहुँचा हुआ जानना चाहिए।[२] यही केवल "हरे रति प्रसादोत्थ प्रेम" कहलाता है।

उपर्युक्त जिस प्रेम की चर्चा चल रही है, उसमें भक्त को जब परम पियतम का नेत्रों से दर्शन करने, शरीर से स्पर्श करने, मन से गुणों का श्रवण करने तथा उनके साथ वार्तालाप करने से गुदगुदी का अनुभव हृदय में होता है और हृदय द्रवित हो जाता है—तब ऐसी प्रक्रिया को प्रेम कहते हैं।[३] इसके प्रति अत्यंत लोलुप तथा लोभी बनने की आवश्यकता होती है, तभी यह प्राप्त होता है। जो इष्टदेव प्रियतम सुख:दुख में निरन्तर सम रहता है, समस्त स्थितियों में सर्वदा अनुकूल रहता है, सबके हृदय में निवास करने का पात्र है, सदा किशोर वय वाला है, काल की गति जिसे परिवर्तित नहीं कर सकती तथा जो सदैव प्रेममय है—उसके प्रेम का पात्र अत्यंत भाग्यवान् ही होता है। प्रेममयी भक्ति

---

१ आदौ श्रद्धाततः साधुसङ्गोऽथ भजन क्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततोनिष्ठारुचिस्ततः ॥६॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततःप्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधका नामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः ॥७॥
—श्री ह० भ० र० सि० पू० वि० चतुर्थ ल०

२ भावोन्मत्तो हरेः किंचिन्न वेद सुखमात्मनः।
दुःखचेति महेशानि ! परमानन्दमाप्लुतः ॥
—नारद पांचरात्र

३ दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
यत्र द्रवत्यन्तरंगसस्नेह इति कथ्यते ॥
—सु० र० भा० ९२-११

की इस स्थिति में पहुँचा हुआ भक्त क्षण भर भी व्यर्थ नहीं जाने देता। यदि उसका कोई क्षण प्रियतम के ध्यान से छूट गया तो वह लुटेरों के द्वारा लूटे हुए व्यक्ति की भाँति रुदन करता है।[1]

वैष्णवभक्तों के भक्तिशास्त्र के अनुसार मुख्य रूप से रति रूपी स्थायी भाव के पाँच प्रकार होते हैं।[2] १ शुद्धा, २ प्रीति, ३ सख्य, ४ वात्सल्य, ५ प्रियता। स्वार्थपरार्थरूप मुख्यारति भक्तों के विशिष्ट भावों के अनुसार ही होती है और इन्हीं भावों के अनुसार प्रेममयी भक्ति के रस का आस्वादन भी पाँच प्रकार से किया जाता है।[3] यथा १ शांत, २ प्रीति, ३ प्रेयान्, ४ वत्सल, ५ मधुर। शास्त्र में जिस क्रम से इन्हें रखा गया है, उससे मधुर भक्ति अपने रससहित सर्वश्रेष्ठ मानी गई है और इसी में भक्ति-उपासना की चरम सीमा भी समविष्ट है।

परम प्रेमस्वरूप वृन्दावन बिहारी प्रियतम कृष्ण की ओर स्वभावतः खींचने वाली साधन भक्ति-भावभक्ति तथा प्रेमाभक्ति का विशुद्ध समन्वयात्मक स्वरूप ही माधुर्य भक्ति है। श्रीमद्भागवत महापुराण की नवधा भक्ति, नारद भक्ति-सूत्र की ग्यारह आसक्तियाँ, वल्लभाचार्य की पुष्टि पद्धति तथा महाप्रभु चैतन्यदेव का कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम उपासना की इसी माधुर्य प्रणाली का प्रतीक है। समस्त भक्ति पद्धतियों की चरम सीमा ही यह केन्द्र स्वरूप माधुर्य भक्ति है। इस माधुर्य भक्ति को दूसरे शब्दों में कान्तासक्ति, सखी भाव की उपासना तथा गोपी भाव भी कहते हैं। जहाँ परम सौन्दर्य है—वहीं परम रस है और जहाँ परम रस है—वहीं पर परम आनंद है, अस्तु इस दृष्टि से भक्ति की सभी विधियों में माधुर्यभक्ति सर्वोत्तम है। इस लोक में यह

---

१ एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्तेध्यानवर्जिते।
वस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम्॥

—विष्णु पु०

२ शुद्धाप्रीतिस्तथा सख्यं वात्सल्यं प्रियतेत्यसौ।
स्वपरार्थैव सा मुख्या पुनः पंचविधाभवेत्॥६॥

—ह० भ० र० सि० द० विभाग पंचम लहरी

३ मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः॥९६॥
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथा पूर्वमनुत्तमाः॥

—ह० भ० र० सि० द० भा० पंचम लहर

माधुर्य लौकिक श्रृंगार के रूप में देखा जाता है, किन्तु परम रसमय आध्यात्मिक जगत में यह माधुर्य के रूप में दृष्टिगोचर होता है। काम का लौकिक स्वरूप भक्ति के परम पावन प्रान्त में विशुद्धि प्रेममय माधुर्य के स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है—[1] इसका थोड़ा सा संकेत कामरूपा भक्ति के विवरण में दिया जा चुका है। यथार्थ में लौकिक क्षेत्र में स्थित काम अपनी स्वार्थमयी भोगेच्छा की पूर्ति के लिए होता है, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में इस काम को भगवत-प्रीत्यर्थ प्रयोग करते हैं, इसलिए माधुर्य का प्रेम स्वरूप श्रेष्ठ है। जिन भगवत-प्रेमियों के अन्तस्तल में भगवान् के प्रति सर्वस्व समर्पण करने का भाव है, जो समस्त काम सुख को लौकिक दृष्टि से प्रधानता नहीं देते तथा जिन की समस्त इन्द्रियाँ अपने इष्टदेव के परम सौन्दर्य के परम रस युक्त परमानन्द को प्राप्त करने के लिए आतुर हो रही हैं, वे ही परम प्रेमस्वरूप श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य उपासना के साधक होते हैं।

माधुर्यभक्ति का साधक अपने इष्टदेव को परम प्रियतम जानकर ही उनके माहात्म्य को समझने की दृष्टि से उनके गुणों का गान सुनता है, उन्हीं गुणों का प्रेममय कीर्तन करता है, उन गुणों से युक्त अपने प्रियतम का निरंतर स्मरण करता है, उनका साक्षात्कार होने पर उनकी सेवा पूजा करता है, उनकी स्तुति करता है ओर उन्हें अपना शुभाचिंतक समझते हुए उनसे अपनी गोप्यतम बात भी अत्यंत विश्वास के साथ निष्कपट तथा निर्मल हृदय होकर कह देता है। इस प्रकार वह अपने सभी मानोभावों का समावेश अपनी उपासना में कर देता है।

माधुर्य-भक्ति—

माधुर्यभक्ति में जिस प्रकार सभी नवधा भक्तियों का समावेश हो जाता है उसी प्रकार नारद भक्ति सूत्र की सभी असक्तियों का भी—यह बात पूर्व में कही गई है, किन्तु इसके साथ ही प्रेममयीभक्ति के पाँच प्रकारों (शांत, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल, मधुर) की चरम परिणित भी माधुर्य भक्ति में ही होती है। जब अपने आराध्य प्रियतम को भक्त अपना रक्षक तथा दुःख निवारणकर्ता समझता है, तब उसकी माधुर्य भक्ति शान्तिदायक

---

१ प्रेमैव गोपरामाणाम् काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येते वाञ्छन्ति भगवत्प्रियः॥

—गौतमीयतन्त्र

होती है। जिस समय वही प्रियतम अपने भक्त के द्वारा देवाधिदेव के रूप में पूजा जाता है, तब उसकी माधुर्यउपासना में सेवकत्व (दास्य) का समावेश होता है। जब वही भक्त अपने कार्य संचालन की दृष्टि से कोई परामर्श चाहता है, तभी उसकी माधुर्यउपासना में सख्य का सम्मिश्रण हो जाता है। जब वह भक्त अपने भगवान् को अत्यंत प्रेम से उत्तम सत्कार के साथ विनम्रता पूर्वक भोजनादि देता है, तो उसकी माधुर्य उपासना मे वात्सल्य की छाप होती है। (भोजन कराते समय माता-पिता अत्यंत वात्सल्य के साथ पुत्र को देखते हैं) और जब वही भक्त परम प्रेममय होते हुए परमानन्दस्वरूप तथा परम सौन्दर्य शाली अपने परमात्मा रूपी प्रियतम के साथ आनंद रस का आस्वाद लेता है, तो वह माधुर्य भक्ति की अत्यंत माधुर्यात्मक स्थिति में पहुँच जाता है। उपर्युक्त सभी लक्षण परम प्रेम रूपा गोपियों की माधुर्य भक्ति की उपासना में निस्संदेह उपलब्ध हो जाते है। श्रीकृष्ण के प्रति इसी माधुर्य भक्ति से अपने प्रेम को प्रकट करने वाली भक्त गोपियाँ अपने प्रियतम को मान सम्मान के साथ परम प्रिय वस्तु देती हैं, प्रेम से दी हुई प्रियतम की भेंट को प्रेम से लेती हैं, अपनी अत्यंत गोप्य बात उनसे कहती हैं तथा प्रियतम की गोप्यतम बातों को पूछती हैं और स्वयं प्रीतिपूर्वक अपने यहाँ भोजन भी करती हैं तथा उनके यहाँ स्वयं भी भोजन पाती हैं। इस प्रकार ६ विधियों से वे अपनी उपासना को परिपुष्ट करती हैं।[1]

सभी पुरुषार्थों का अवलम्ब त्याग कर भक्त को ब्रज की परम प्रेमरूपा गोपिकाओं के समान अनन्य भाव से प्रियतम कृष्ण की उपासना करना चाहिए। उपासना की यही सर्वोत्तम तथा रसमय प्रणाली है। साधन भक्ति के अन्तर्गत रागानुगा की कामरुपा स्थिति को पार करते हुये, परम प्रियतम कृष्ण का प्रेममय भाव प्राप्त कर, जिस प्रकार भक्त समस्त साधनों से ऊपर परम रसमयी माधुर्य उपासना में हठात् पहुँच जाता है और अपने आराध्य देव का साक्षात्कार करता है— उसी क्रिया तथा उपासना की चर्चा ऊपर प्रस्तुत की गई है—

---

१ ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीति लक्षणम्॥
— सु० र० भा० १६६-२०६

परा भक्ति—

भक्तिशास्त्रों में यथास्थान पराभक्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है। यह पराभक्ति माधुर्यभक्ति ही है ! क्योंकि इसी स्थान पर पहुँच कर प्रेमी-प्रेम तथा प्रियतम का भेद मिट जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इस उपासना की सर्वोच्चना का एक कारण और भी है। यह मानव शरीर पंचकोषों से युक्त हैं। वे कोष हैं– १ अन्नमय कोष, २ प्राणमय कोष, ३ मनोमय कोष, ४ विज्ञानमय कोष, ५ आनंदमय कोष ?

इन कोषों को उपासना के पाँच स्तर भी कहते हैं। वेदों मे जिस ईश्वर की भावना पुरुषरूप में की गई, उसी की उपासना के ये प्रकार हैं। उस रसमय परमात्मा की उपासना द्वारा प्राप्त अन्नमय कोष का रस अत्यंत स्थूल होता है। प्राणमय कोष का रस अत्यंत विकारयुक्त तथा इन्द्रियों को भोग प्रदान करने वाला है, मनोमय कोष का रस उपर्युक्त दोनों रसों से कुछ सूक्ष्म तथा मन के अवलम्ब से अनुभव में आता है। विज्ञानमय कोष के रसानंद का स्वाद बुद्धि से प्राप्त होता है यह रस उपर्युक्त तीनों से अधिक सूक्ष्म है। अन्त में उपासना द्वारा प्राप्त आनंदमय कोष के रसास्वादन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभव आत्मा के सम्बल से भक्त को होता है। यही माधुर्यभक्ति का सर्वश्रेष्ठ रस है। इसका आस्वाद विभिन्न प्रकार से विभिन्न भावों से युक्त होकर भक्त जन करते हैं। यह माधुर्य आत्मा का ही धर्म है, जड़ जगत का पदार्थ नहीं। इसकी उपासना के सअवलम्ब से परमानंदमय प्रियतम भगवान कृष्ण के साक्षात्कार के आनन्द का रस मिल जाता है ; क्योंकि यह माधुर्य उपासंना आनंद की ही उपासना है, आनंद के ही लिये है और आनंद से ही होती है। इस उपासना में भक्त के लिये पाँच बातें ध्यान देने योग्य हैं, यथाः—

१ परम-प्रियतम इष्टदेव के स्वरूप की निरंतर अनुभूति।

२ इष्टदेव के प्रति प्रियतम भाव में दृढ़ता।

३ भगवत् प्रीत्यर्थ अपने का समस्त कार्यों का निरंतर संचालन।

४ प्रियतम के प्रति सर्वस्व प्रदान करने की निरंतर भावना।

---

१ अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्, प्राणोब्रह्मेति व्यजानात्,
मनोब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात्
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्॥
—तैत्तिरीयोपनिषद्

५ सर्वदा जीवन इष्टदेव के प्रति परितोष देने वाला हो—ऐसी भावना।

माधुर्योपासना की दृष्टि से उपर्युक्त सभी बातें कृष्ण की परम प्रिय सभी व्रजांगनाओं में दृष्टिगोचर होती हैं और राधा तो उनमें सर्वश्रेष्ठ तथा स्वयं माधुर्यस्वरूप ही हैं।[1]

काव्य के क्षेत्र में शृंगाररस की भांति ही, भक्ति के क्षेत्र में माधुर्य भक्ति को सर्वश्रेष्ठ मधुर रसपूर्ण कहा गया है। भक्त के हृदय में अपने योग्य विभावादिकों से परिपुष्ट होकर माधुर्यमयी रति ही अपने स्वरूप को माधुर्य रस में परिवर्तित कर देती है। इस सर्वश्रेष्ठ रस में भगवान् कृष्ण तथा उनकी सुन्दर कटाक्ष वाली प्रियाएँ आलम्बन होती है। अनुपम सौन्दर्य, लीला, वैदग्ध्य आदि संपत्तियों के आश्रय प्रियतम कृष्ण उनके आलम्बन हैं।[2] इस माधुर्यभक्तिरस में मुरली की ध्वनि आदि उद्दीपन कहे जाते हैं[3] और भगवान् तथा गोपियों के कटाक्ष तथा मुस्कान आदि अनुभाव माने जाते है।[4] इसमें आलस्य तथा उग्रता को छोड़कर सभी व्यभिचारी होते हैं।[5] और पूर्व की मधुराति ही इस रस का स्थायी भाव कही जाती है।[6] मधुराति सर्वदा अविच्छिन्न रहती है। काव्य शास्त्र के रस की प्रक्रिया की भांति यह माधुर्य भक्ति-रस भी ऊपर वर्णित सभी भागों से परिपुष्ट होकर भक्ति के क्षेत्र में पूर्णत्व

---

१ प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी ।।४।।

—भक्ति रसामृतसिंधु, पृ० ४२७

२ असमानोर्ध्वसौन्दर्य लीला वैदग्ध्य सम्पदाम् ।।३।।
आश्रयत्वेन मधुरे हरिरालम्बनो मतः ।।

—वही, पृष्ठ ४२६

३ उद्दीपना इह प्रोक्ता मुरलीनिस्वनादयः ।।

—वही, पृष्ठ ४२८

४ अनुभावास्तु कथिता दृगन्तेक्षास्मितादयः ।।५।।

—वही, पृष्ठ ४२८

५ आलस्यौग्र्ये विना सर्वे विज्ञेया व्यभिचारिणः ।।

—वही, पृष्ठ ४२९

६ स्थायीभावो भवत्यत्र पूर्वोक्ता मधुरारतिः ।।६।।

—वही, पृष्ठ ४२९

को प्राप्त हो जाता है। माधुर्य के दो विभाग हैं। संयोगमाधुर्य और वियोग-माधुर्य। इनमें भी संयोग माधुर्य दो प्रकार का होता है।

१-मुख्य संयोग माधुर्य

२. गौण संयोग माधुर्य

जाग्रत अवस्था के संयोग-माधुर्य को मुख्य संयोग माधुर्य कहते हैं। यह संयोग माधुर्य चार प्रकार का होता है। कथा—

(१) संक्षिप्त मुख्य संयोग माधुर्य,

(२) संकीर्ण मुख्य संयोग माधुर्य,

(३) संपन्न मुख्य संयोग माधुर्य,

(४) समृद्धिमान मुख्य संयोग माधुर्य,

जिस संयोग में प्रिया तथा प्रियतम भय, लज्जा आदि से संक्षिप्त उपचारों का प्रयोग करें, उसे संक्षिप्त संयोग माधुर्य कहते हैं।

जिस संयोग में प्रियतम द्वारा किये गये विपरीत आचरण के स्मरण आदि से संकीर्ण उपचार होते हैं (वह संयोग माधुर्य रस किंचित तपे हुये गन्ने के रस के समान स्वाद वाला होता है) उसे संकीर्ण मुख्य संयौग माधुर्य कहते हैं।

प्रियतम के मिलन पर होने वाले संयोग को संपन्न मुख्य संयोग माधुर्य की संज्ञा दी गयी है। यह 'आगति' तथा प्रादुर्भाव भेद से दो प्रकार का होता है। लौकिक व्यवहार के साथ आगमन को आगति कहते हैं। प्रेम से व्याकुल प्रियाओं के समक्ष श्रीकृष्ण का अकस्मात प्रकट हो जाना ही प्रादुभवि नाम से विख्यात है। रूढ़ नामक भाव से इस संयोग की उत्पत्ति होती है, जो परमानंद की चरम सीमा है। (इसकी चर्चा आगे की जायगी)

दुर्लभ दर्शन वाले तथा परतंत्रता से वियुक्त होने वाले प्रियतम तथा प्रिया का संगम के अवसर पर किया गया उपभोगातिरेक ही समृद्धिमान मुख्य संयोग माधुर्य के नाम से विख्यात है।

गौण संयोग माधुर्य श्री कृष्ण का स्वप्न में विशेष मिलन-सुख ही गौण संयोग माधुर्य कहलाता है। यह भी चार प्रकार का होना है। यथा-

(१) स्वप्नान्तर्गत संक्षिप्त गौण संयोग माधुर्य,

(२) स्वप्नान्तर्गत संकीर्ण गौण संयोग माधुर्य,

(३) स्वप्नान्तर्गत संपन्न गौण संयोग माधुर्य,

(४) स्वप्नान्तर्गत समृद्धिमान गौण संयोग माधुर्य,

उपर्युक्त गौण संयोग माधुर्य की क्रियाएं स्वप्न में ठीक उसी प्रकार से होती हैं, जिस प्रकार से मुख्य संयोग माधुर्य में प्रत्यक्ष रूप से होती हैं।

वियोग माधुर्य—

प्रियतम तथा प्रिया के एक साथ रहने पर या अलग-अलग रहने पर परस्पर अभीप्ट आलिंगन आदि की अप्राप्ति में जो भाव प्रर्कषता को प्राप्त करता है—संयोग रस माधुर्य में वृद्धि करने वाले उसी भाव रस को वियोग माधुर्य कहते है। बिना वियोग माधुर्य रस के संयोग रस माधुर्य उसी प्रकार पुप्ट नही होता है, जिम प्रकार बिना गर्म पानी में कपड़े को औटाये कपड़े का रंग पक्का नहीं होता है। यह वियोग माधुर्य रस पूर्वराग, मान, प्रेम-वैचित्र्य तथा प्रवास भेद से चार प्रकार का माना गया है।

संगम से पूर्व, दर्शन, श्रवण आदि से उत्पन्न होने वाले प्रेमी तथा प्रिय के रत्यानंद को ही पूर्व रागोत्पन्न माधुर्य कहा जाता है। यह पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य तीन प्रकार का होता है, यथा –

(१) प्रौढ़ पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य,
(२) समज्जस पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य,
(३) साधारण पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य,

प्रौढ़ पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य—

जिस पूर्वराग में समर्था रति होती है, उसे प्रौढ़पूर्वराग कहते हैं, और उससे उत्पन्न माधुर्य ही प्रौढ़पूर्व रागोत्पन्न माधुर्य कहलाता है। इसमें साधक दस लक्षणों से युक्त होता है, यथा लालस, उद्वेग, जागरण, कृशता, जड़ता, व्यग्रता, व्याधि, उन्माद मोह तथा मरण। अभीष्ट प्राप्ति की इच्छा से युक्त अत्यन्त उत्कण्ठा का नाम ही लालस है, इसमें उत्सुकता चपलता, घूणा, श्वास आदि क्रियायें होती हैं। मन के कंप को 'उद्वेग' कहते हैं, उसमें नि:श्वास, ज्वर, स्तम्भ, चिंता, अश्रु, वैवर्ण्य, स्वेद आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। निद्रा के नाश को जागरण कहते हैं, इसमें स्तंभ, शेष आदि क्रियाएँ प्रतीत होने लगती हैं। तानव, शरीर की कृषता का दूसरा नाम है, इसमें शारीरिक दुर्बलता, भ्रमण आदि लक्षण देखने में आते हैं। इष्ट अनिष्ट का ज्ञान न होना, प्रश्नोत्तर न देना तथा दर्शन-श्रवण का अभाव ही जड़ता है, इसमें अनवसर में ही हुंकार, स्तम्भ, श्वास, भ्रम आदि क्रियाएँ होती हैं। भाव की गंभीरता से विक्षोभ की असह्यता का नाम ही व्यग्रता है। इसमें

अविवेक, निर्वेद, खेद, असूया आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। अभीष्ट वस्तु के अलाभ से शरीर में होने वाले उत्ताप तथा पीलेपन को व्याधि की संज्ञा दी गई है। ठंढी वस्तु की स्पृहा, मोह, निश्वास, ताप आदि इसमें प्रमुख रूप से दिखलाई देते हैं। सब जगह सभी अवस्थाओं में सर्वदा प्रियतममयता से अतद् वस्तु में तद्वस्तु की भ्रान्ति को उन्माद कहते हैं, इष्ट से द्वेष, निश्वास तथा निमेषविरह उसमें दृष्टिगोचर होते हैं। अचेतन अवस्था को मोह कहते है, इसमें निश्चलता, पतन आदि लक्षण जान पड़ते हैं और जब सब प्रकार के उपायों से प्रियतम का समागम नहीं होता, तब मधुर प्रेमामिलन की व्यथा से मरण की तैयारी हो जाती है—इसी का नाम मरण है, इसमें अपनी प्रिय वस्तुओं का अपने प्रिय जनों को देना आदि क्रियायें होने लगती हैं। इन स्थितियों तथा क्रियाओं से उत्पन्न आनंद ही प्रौढ़पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य कहलाता है।

समंजस पूर्व रागोत्पन्न माधुर्य—

समंजस पूर्व रागोत्पन्न माधुर्य में समंजसा रति की प्रधानता होती है इस रति से उत्पन्न जो रस है, उसी का नाम समंजस पूर्वरागोत्पन्नमाधुर्य है। इसमें भी साधक अभिलाषा, चिन्ता स्मृति, गुण-कीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद्, व्याधि, जड़ता तथा मृति से युक्त हो जाता है, यथा प्रियसंगम की लिप्सा से किये गये व्यवसाय को अभिलाष कहते हैं, इसमें निज श्रृंगार, प्रियतम का सामीप्य, रागप्रकाशन आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते है। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के उपायों का ध्यान करना ही चिन्ता कहलाता है, शैय्या पर व्याकुलता, निश्वास तथा बिना लक्ष्य के देखना आदि क्रियायें इसमें प्रमुख रूप से देखी जाती हैं। अनुभव किये हुए प्रियतम आदि विषयों के चिन्तन का नाम स्मृति है, कम्प, शैथिल्य तथा निःश्वास आदि इसके लक्षण हैं। प्रियतम के सौन्दर्य आदि गुणों की प्रशंसा करना ही 'गुण कीर्तन' के नाम से प्रसिद्ध है। कंठ की गद्गद्ता, कंपन तथा रोमांच इसमें विशेष रूप से होते हैं। शेष लक्षण प्रौढ़ पूर्वरागोत्पन्न मधुर्य वाले विभाग की भाँति ही होते है। अस्तु उनका यहाँ लिखना पुनरावृत्ति ही होगी। इन स्थितियों तथा क्रियाओं से उत्पन्न रस ही समंजस रागोत्पन्न माधुर्य नाम से कहा जाता है।

साधारण पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य—

साधारण पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य, उसे कहते हैं, जिसमें साधारणी रति होती है। अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग तथा विलाप—ये छै

दशायें इसमें भी साधक की होती है किन्तु कोमल रूप में ही देखी जाती हैं।

मान—

एक स्थान पर रहने वाले तथा परस्पर अनुरागी, प्रेमी तथा प्रियतम के अभीष्ट पारस्परिक आलिंगन तथा अवलोकन आदि का निरोध करने वाले तत्व को मान कहते हैं। इस मान से अन्तरतम में जिस रसानंद का अनुभव होता है—उसी का नाम है 'मानोत्पन्न माधुर्य'। इस मान की महत्ता प्रणय में ही निहित है। और यह मान सहेतु तथा निर्हेतु भेद से दो प्रकार का होता है। सहेतुमान में प्रियतम के द्वारा अपने विपक्ष आदि में विशेषता पाने पर होने वाली ईर्ष्या ही हेतु होती है, अस्तु इसे ईर्ष्यायुक्त मान या सहेतु मान कहते हैं। मान का यह भेद प्रिया तथा प्रियतम दोनों के प्रेम का प्रकाशक होता है। विपक्ष की विशेषता तीन प्रकार की होती है, यथा श्रुत, अनुमित तथा दृष्ट। प्रिय सखी तथा शुक आदि के मुख से विपक्ष की विशेषता का नाम ही श्रुत है। अनुमान से विपक्ष की विशेषता का आभास ही अनुमित है और दर्शन से उत्पन्न होने वाला मान दृष्ट कहलाता है। इस प्रकार श्रुत से उत्पन्न होने वाला श्रुत सहेतुक मान, अनुमित से उत्पन्न होने वाला अनुमित सहेतुक मान तथा दृष्ट से उत्पन्न होने वाला दृष्ट मान कहलाता है।

निर्हेतुक मान प्रणय का सर्वोत्कृष्ट विलास-वैभव है, इसे प्रणय मान भी कहते हैं। कारण के अभाव से तथा कारण के आभास मात्र से प्रिया-प्रियतम का उत्कृष्टरूप से होने वाला प्रणय ही निर्हेतुक मान बन जाता है। साँप की गति के समान प्रेम की गति स्वभाव से ही कुटिल होती है, इसी लिए हेतु या निर्हेतु दोनों प्रकार से प्रेयसी में मान उत्पन्न हो जाता है। यह निर्हेतुक मान प्रिया-प्रियतम के आलिंगन तथा मुस्कान पर्यन्त ही रहकर शान्त होता है।

मान के कारण के तारतम्य से मान का भी तारतम्य होता है। इस दृष्टि से भी लघु, मध्यम तथा मंहिष्ठ भेद से मान तीन प्रकार का है। लघुमान सुसाध्य होता है, मध्यमान यत्नसाध्य होता है और मंहिष्ठमान बड़े उपाय से भी दुःसाध्य होता है।

प्रिय के निकट रहने पर भी प्रेमोत्कर्ष के स्वभाव से अपने में वियोग बुद्धि के द्वारा भ्रम से जो पीड़ा होती है उसे प्रेमवैचित्र्य कहते हैं। इस प्रेम वैचित्र्युत्पन्न वेदना में जो रस इस आत्मा को प्राप्त होता है उसी का नाम है

'प्रेम वैचित्र्युत्पन्न माधुर्य' ।

प्रिया तथा प्रियतम का देशान्तर गमनादि से जो वियोग अदर्शन हो जाता है—उसी का नाम प्रवास है तथा इस प्रवास से उत्पन्न प्रिय तथा प्रियतम के हृदय में उठने वाली टीस की रसानुभूति का नाम 'प्रवासोत्पन्न माधुर्य' है। यह प्रवास दो प्रकार का होता है, यथा—

१—बुद्धिपूर्वप्रवास
२—अबुद्धिपूर्वप्रवास

कार्य की विवशता से दूर गमन को बुद्धिपूर्वप्रवास कहते हैं। इसमें किंचित दूर गमन भी होता है और सुदूर गमन भी। सुदूर गमन भावी, भवन, तथा भूत भेद से तीन प्रकार का माना गया है। भावी सुदूरगमन में प्रियतम के जानें की घोषणा का श्रवण होता है। शेष शब्द स्वयं ही अपने अर्थ के प्रतिपादक हैं।

परतंत्रता से होने वाले प्रवास को अबुद्धिपूर्वप्रवास कहते हैं। इस प्रवास में भी चिंता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनांगता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह तथा मृति—दश दशायें हो जाती हैं। ये दशायें प्रिया-प्रियतम दोनों के लिए हैं। इन दशाओं से उत्पन्न मन के आनन्द को यहाँ पर 'प्रवासोत्पन्न माधुर्य' की संज्ञा दी गई है।

उपर्युक्त विवरण भक्ति में माधुर्योपासना के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया गया। इसी क्रम में यदि थोड़ा सा विचार माधुर्य की उत्कृष्टता के विषय में भी कर लिया जाय, तो कदाचित् विषयान्तर न होगा। जिस प्रकार बीज रूप गन्ने में रस, रस से गुड़, गुड़ से खांड, खांड से शक्कर, शक्कर से मिश्री और मिश्री से परम मधुर ओला बन जाता है, ठीक उसी प्रकार रति से प्रेम, प्रेम से स्नेह, स्नेह से मान, मान से प्रणय, प्रणय से राग, राग से अनुराग और अनुराग से महाभावस्वरूप परमोत्कृष्ट तथा परम माधुर्य रस का जन्म होता है। परम माधुर्य के सम्बन्ध में बीज रूप रति की चर्चा अन्यत्र की जायगी, यहाँ प्रेम से ही विषय का प्रतिपादन श्रेयस्कर होगा। ध्वंस के कारण के रहने पर भी सर्वथा ध्वंस से रहित, जो प्रिया तथा प्रियतम का भाव-बंधन होता है—उसे प्रेम कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है, यथा—

१—प्रौढ़ प्रेम,
२—मध्यम प्रेम,

३—मंद प्रेम,

प्रियतम के विलम्ब करने पर उस नायक की चित्तवृत्ति को न जान सकने वाली विरहिणी प्रिया के प्रति प्रियतम के सहानुभूतिपूर्ण मनस्ताप को प्रौढ़ प्रेम कहते हैं। अपनी प्रिया की अपेक्षा दूसरी प्रेयसी से करने वाले प्रेम को मध्यम प्रेम कहते हैं। और सर्वदा परिचित होने या अत्यंत निकट रहने आदि के कारण उपेक्षा तथा अपेक्षा से रहित जो प्रेम होता है—उसे मन्द प्रेम कहते हैं। ब्रज में मन्द प्रेम देखने में नहीं आता है। प्रौढ़ प्रेम में निरंतर वियोग की असहनशीलता ही रहती है। जिस प्रेम में वियोग की सहन-शीलता बड़ी कठिनाई से होती है—उसे मध्यम प्रेम कहते हैं और कृष्ण सम्बन्धी किसी आवश्यक कार्य के करने में यदि विस्मरण हो जाय, तो वहाँ पर मंद प्रेम होता है।

प्रेम की उपलब्धिरूप दीपक को उद्दीप्त करने वाला प्रेम ही परा-काष्ठा को प्राप्त कर हृदय को द्रवित करता हुआ स्नेह ही संज्ञा को प्राप्त करता है। इस स्नेह के उदय हो जाने पर दर्शनादि में कभी भी तृप्ति नहीं होती है। यह स्नेह घृत तथा मधु भेद से दो प्रकार का होता है। अत्यन्त आदरमय स्नेह कहते हैं, जो भावान्तरों से युक्त होकर ही अत्यन्त सुस्वादुमय बनता है, अन्यथा नहीं।

परस्पर आदर से वह स्नेह घनीभूत होता है, तभी उसका नाम है—घृत स्नेह। प्रिय में अपनत्व के आधिक्य से युक्त स्नेह को मधुस्नेह कहते हैं। जहाँ पर प्रेयसी अपने को प्रियतम का ही समझती है, वहाँ मधुस्नेह होता है, जहाँ पर माधुर्य स्वयं प्रकट रहे तथा नाना रसों का जिसमें समाहार हो और आनंद की मत्तता की उष्णता विद्यमान हो— ऐसे स्नेह को मधुस्नेह कहते हैं।

जब स्नेह ही उत्कृष्ट बनकर नवीन माधुर्य को प्राप्त करता हुआ कुटिलता को धारण कर लेता है, तब उसे मान कहते हैं। यह मान उदात्त तथा ललित भेद से दो प्रकार का होता है। घृतस्नेह ही दुर्लक्ष्य परिपाटी वाले दाक्षिण्य से युक्त अदाक्षिण्य को तथा कहीं-कहीं पर वाम्य गंध अदाक्षिण्य को धारण करता हुआ उदात्तमान कहलाता है। स्वतन्त्रता से परिपूर्ण कुटिलता को तथा मर्मविशेष को धारण करने वाला मधुस्नेह ही ललितमान कहा जाता है। पूर्णवर्णित मान की यह चरम कोटि है! अभिन्नत्व का बोध धारण करने वाला मान ही प्रणय के नाम से विख्यात है! यह प्रणय, जिसके उत्कर्ष से

चित्त में रहने वाला अतिशय दु:ख भी सुख देने वाला समझा जाय—उसे राग कहते हैं। यह राग नीलिमा तथा रक्तिमा भेद से दो प्रकार का होता है। नाश की संभावना से रहित, बाहर से अत्यंत प्रकट न होने वाला तथा दूसरे भावों को छिपाने वाला राग नीली राग कहलाता है। यह राग श्रीकृष्ण तथा चंद्रावली दोनों में देखा जाता है। भीरुता से युक्त, नीली राग से कुछ अधिक प्रकाशमान होने वाला तथा चिरकाल में प्राप्त होने वाला श्यामा राग कहलाता है। कुसुम्भ तथा मंजिष्ठा से उत्पन्न होने वाला रक्तिमा राग भी उक्त भेद से दो प्रकार का होता है। कुसुम्भ रक्तिमा राग उसे कहते हैं, जो चित्त में अति शीघ्र व्याप्त हो जाय और अन्य राग की कांति से प्रकट हो तथा यथोचितरूप से शोभायमान हो। यह राग विशेष सुन्दर पात्र में स्थिर रहता है। इसलिए कृष्ण के प्रेमी जनों में इसकी मलिनता नहीं हो सकती। कभी नाश न होने वाला, स्वयं प्रकाशमान तथा अपनी कांति से सर्वदा बढ़ने वाला राग मंजिष्ठ राग कहा जाता है, जैसे राधा तथा श्रीकृष्ण का राग। जो राग क्षण-क्षण में नवीनता को प्राप्त करता हुआ सर्वदा अनुभव किये गये प्रिय को भी प्रतिक्षण नूतन करता है—उसे अनुराग कहते है। एक दूसरे के वश में रहना, विचित्र प्रकार का प्रेम होना, प्रेमी से सम्बंध रखने वाली निर्जीव वस्तु में भी जन्म लेने की अत्यंत लालसा होना तथा विप्रलंभ रस में अनुराग की अत्यंत वृद्धि आदि लक्षण अनुराग में होते हैं। प्रकाशित होकर अनुराग ही स्वसंवेद्य दशा को प्राप्त होता हुआ सभी साधक तथा सिद्धभक्तों में रहकर भाव कहलाता है। यह भाव श्रीकृष्ण की महिषियों को भी अत्यंत दुर्लभ है तथा व्रजदेवियों से ही एक मात्र अनुभव योग्य होकर महाभाव नाम से कहा जाता है।[1] श्रेष्ठ अमृत के समान शोभाशाली यह महाभाव मन को अपने स्वरूप में प्राप्त करा देता है और माधुर्य की सर्वोत्कृष्टता को प्रतिपादित करता है। इसके दो प्रकार होते हैं, यथा—

(१) रूढ़ महाभाव
(२) अधिरूढ़ महाभाव

जिस भाव की स्थिति में सात्विक भाव उद्दीप्त होते हैं—उसे रूढ़ महाभाव कहते हैं। पलक मारने की असह्यता, निकटस्थजनों के हृदय को द्रवित करना, कल्प को एक क्षण के समान जानना, प्रियतम के सुख में भी दु:खाशंका

---

१ उज्ज्वल नीलमणि—स्थायी भाव प्रकरण

से खिन्न हो जाना, मोह आदि के अभाव में भी समस्त वस्तुओं का विस्मरण होना, क्षण को एक कल्प के समान जानना इत्यादि क्रियाएँ रूढ़ महाभाव के अन्तर्गत होने वाले संयोग तथा वियोग दोनों में होती हैं। इस रूढ़ में वर्णित सभी अनुभावों से अनोखी विशेषता को प्राप्त करने वाले अनुभाव जहाँ होते हैं, वहाँ अधिरूढ़महाभाव होता है। इस अधिरूढ़ महाभाव के भी दो प्रकार होते हैं, यथा—[1]

(१) मोदन अधिरूढ़ महाभाव,

(२) मादन अधिरूढ़ महाभाव

मोहन अधिरूढ़ महाभाव उसे कहते हैं, जिसमें सात्विक का उद्दीप्त सौष्ठव हो। इस मोदन में अपनी कान्ताओं से युक्त रहने पर भी श्री कृष्ण के हृदव में अतिशय विक्षोभ का होना, प्रेम की विशाल संपत्ति से विख्यात कान्ताओं के समक्ष मोदन भाव में रहने वाली का परम उत्कर्ष से युक्त होना आदि क्रियाएँ होती हैं। यह मोदन भाव राधिका के ही यूथ में होता है सर्वत्र नहीं। इसको ही परम प्रिय, श्रेष्ठ तथा शोभाशाली ह्लादिनी शक्ति का सुन्दर विलास माना गया है। यही मोदन भाव अति वियोगावस्था में मोहन बन जाता है।[2] और इस मोहन अवस्था में विरह की विवशता के कारण सात्विक भाव पूर्णरूपेण उद्दीपन को प्राप्त हो जाते हैं। इस मोहन के भाव में कान्ता से युक्त गोविन्द में मूर्च्छा पैदा करना, असहनशील दुख को सहकर भी प्रियतम के सुख की कामना करना, ब्रह्माण्ड में क्षोभ पैदा करना, पशुपक्षियों को भी द्रवित कर देना, मृत्यु स्वीकार करके पंचमहाभूतों के रूप में हो जाने पर भी प्रियतम के संग की तृष्णा करना तथा दिव्य उन्माद आदि क्रियाएँ होती हैं। यह मोहन भाव प्रायः वृन्दावनेश्वरी में ही विलसित होता है।

मोहन भाव के अनिर्वचनीय अवस्था में प्राप्त होने पर भ्रमयुक्त किसी वैचित्र्य रूप दिव्योन्माद का जन्म होता है। इस दिव्योन्माद के दो प्रकार होते हैं। यथा—

(१) उद्घूर्णा

(२) चित्रजल्प[3]

नाना प्रकार की विवशता की विलक्षण चेष्टा का नाम ही—उद्घूर्णा है।

---

१ उज्ज्वलनीलमणि–स्थायी भाव प्रकरण श्लोक सं० १ ८

२ उज्ज्वलनीलमणि–स्थायी भाव प्रकरण श्लोक सं० १६४

३ उज्ज्वलनीलमणि–स्थायी भाव प्रकरण श्लोक सं० १७४

यह उद्घूर्णा विरह में ही संभव है। प्रियतम के सखा के दर्शन होने पर छिपे हुए रोष से युक्त, अत्यंत भावनामय तथा तीव्र उत्कंठा से युक्त अन्तिम कथन को चित्रजल्प कहते हैं। यह चित्रजल्प दस प्रकार का होता है,[1] यथा—

१ प्रजल्प
२ परिजल्पित
३ विजल्प,
४ उज्जल्प,
५ संजल्प,
६ अवजल्प,
७ अभिजल्पित,
८ आजल्प,
९ प्रतिजल्प,
१० सुजल्प,

भागवत के दशम् स्कंध में यह चित्रजल्प भ्रमर गीत नाम से विख्यात है। यद्यपि यह चित्रजल्प असंख्य भावों से युक्त तथा चमत्कारों की बहुलता से परिपूर्ण है, तथापि थोड़ा वर्णन यहाँ अपेक्षित है।

असूया, ईर्ष्या, मद तथा अवधीरणा की मुद्रा से प्रियतम के अकौशल के उद्गार के कथन को प्रजल्प कहते हैं।

प्रभु की निर्दयता, शठता, चपलता आदि का प्रदर्शन करते हुए वक्र. गति से अपनी विचक्षणता को व्यक्त करना परिजल्पित कहलाता है।

अन्दर तो गूढ़मान से युक्त किन्तु प्रकट रूप में असूया से श्री कृष्ण के प्रति कटाक्षमयी उक्ति को विजल्प कहते हैं।

गर्व से युक्त ईर्ष्या के साथ श्री कृष्ण की कुट्टकता का कथन तथा असूया के साथ श्री कृष्ण पर किया जाने वाला आक्षेप उज्जल्प नाम से कहा जाता है।

गहन उलाहना से युक्त आक्षेप की मुद्रा से उस कृष्ण की अकृतज्ञता आदि के कथन को संजल्प नाम की संज्ञा दी जाती है।

ईर्ष्या तथा भय से श्री कृष्ण के प्रति कठोरता, कामित्व, धौर्त्य तथा आसक्ति की अयोग्यता आदि का कथन ही अवजल्प कहलाता है।

---

१ उज्ज्वल नीलमणि—स्थायी भाव प्रकरण श्लोक सं० ४८५

पक्षियों के समान सज्जनों को खेद पहुंचाने वाले उस श्रीकृष्ण के त्याग के औचित्य को वक्रगति से पश्चात्ताप के साथ दिखलाना ही **अभिजल्पित** कहलाता है।

जिस कथन में कृष्ण की कुटिलता, कृष्ण का पीड़ा देना, निर्वेद तथा वक्रगति से अन्य का सुखदत्व आदि होता है—उसे **आजल्प** कहते हैं।

यद्यपि कृष्ण का संग छोड़ना अत्यंत कष्टदायक है, किन्तु कृष्ण की प्राप्ति असंभव है – शांतिपूर्ण ढंग से दूत को आदर देते हुए, इस प्रकार के कथन को **प्रतिजल्प** कहते हैं।

जिस कथन में सरलता, गंभीरता, दीनता, चपलता तथा उत्कंठा के साथ श्री कृष्ण ही परम प्रिय हैं– ऐसा कहा जाय उसे **सुजल्प** कहते हैं।

उपर्युक्त भेदोपभेद मोदनान्तर्गत मोहन भाव के दिव्योन्माद के अंग हैं।

मादन अधिरूढ़ महाभाव—

जो भाव सर्वभावों के उद्गम से उल्लसित, परात्पर, ह्लादिनीसारयुक्त होता है, उसे मादन भाव कहते हैं। यह मादन अधिरूढ़ महाभाव सर्वदा राधा में ही विराजमान रहता है। इस मादन भाव में ईर्ष्या की अयोग्यता वाली वस्तु में भी प्रबल ईर्ष्या करना, सर्वदा भोग होने पर भी उस संभोग की किंचित मात्र गंध प्राप्ति वाली वस्तु की भी स्तुति करना आदि कियाएँ होती है। यह विचित्र मादन भाव संयोग में ही होता है। सहस्र प्रकार की नित्य लीलाएँ ही इस मादन भाव के विलासरूप में सुशोभित होती हैं। मादन भाव की दशा मदन की गति के समान ही दुर्बोध है, अस्तु पर्याप्ति शब्दावली के अभाव में इसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

महाभाव के आश्रित होकर जिस माधुर्य रस का आस्वादन रसिक भक्त होता है, वह यथार्थ में सबके बस की बात नहीं है। विषय कृष्ण और आश्रय भक्त दोनों की स्वजातीयता माधुर्य रस के प्रकाशन में आधार बनती है। इस माधुर्य के उपयोग करने के लिए भगवान् कृष्ण के समान ही सामर्थ्यवान होना चाहिए। जितनी शक्ति जिसमें है, उतना ही वह रसास्वाद कर सकेगा, इसलिए कृष्णकर्णामृत की रसिक रोचनी टीका के पृष्ठ ११५ पर कहा गया है, बैरी से अधिक प्रजा, प्रजासे अधिक दास, दास से अधिक माता-पिता, माता पिता से अधिक मित्र सखा गण, उनसे भी अधिक कान्ता गोपी वर्ग और उनसे भी अधिक श्री राधा को श्रीकृष्ण के माधुर्य का विशेष आस्वादन होता है। इसीलिए प्रायः

राधासुधानिधि, भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वलनीलमणि आदि सभी सिद्धान्त ग्रंथों में कहा गया है कि सर्वश्रेष्ठ राधा के सहित श्रीकृष्ण का सौन्दर्य माधुर्य पराकाष्ठा को प्राप्त होता है।

अस्तु माधुर्य उपासना के परमसुख एवं परमानन्द दर्शन के लिए ही इन रसिक भक्तों ने गोपीभाव, सखीभाव तथा राधाभाव की उपासना प्रारंभ की और कृष्ण की परम रसमयी विहार प्रणाली का वर्णन किया।

दूसरा अध्याय

माधुर्य उपासना की परम्परा

वेदों में माधुर्य

सौन्दर्य एवं माधुर्य के एकमात्र स्रोत प्रभु को वेदों में 'मदानां मंहिष्ठ' अर्थात् सबसे अधिक आनंद से परिपूर्ण एवं मंदमानाय, अर्थात् निरंतर आनंद मय कहा गया है। वेदों के ऋषि ऐसे प्रभु को सर्वदा मस्तक झुकाते हैं और उसका सामीप्य प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। इस प्रभु में किसी प्रकार की न्यूनता इन उपासक ऋषियों को नहीं जान पड़ती ! वे उसे कामना शून्य, धीर, अमृत, अपनी शक्ति से शासनकर्ता तथा आनंद से परिपूर्ण अनुभव करते हैं। ऋषियों का विश्वास है कि वे इष्टदेव समस्त ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं। इसीलिये अपने आराध्यदेव के साथ निरंतर संयुक्त रहना चाहते हैं। वे कहते हैं कि तू हमारा है और हम तेरे हैं। वेदों का यह ईश्वर सुन्दरता का उत्स है। उससे सुषमा एवं सौभाग्य की धाराएँ निसृत होकर तरु की शाखाओं की भाँति फैलती हैं ! साधक को यहाँ सब कुछ प्राप्त हो जाता है।[1] अस्तु इनके पास आकर साधक कह उठता है कि समस्त जनों के लिए वरणीय उस प्रभु का अंतरंग मैं कब होऊँगा ? कब ऐसा होगा कि मैं आपके हृदय में स्थान पा सकूँगा ? यहाँ पर साधक की सर्वस्व समर्पण की भावना प्रबल हो जाती है और वह सोचता है कि उसके इष्टदेव उसकी इस हवि को आंनद के साथ स्वीकार कर लेंगे या नहीं। उस दिन की प्रतीक्षा वह उपासक सम्पूर्ण शक्ति के साथ करता रहता है। वेद का यह मंत्र इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है .—

> उतस्वया तन्वा संवदेतत् कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि।
> किम्मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृलीकं सुमना अभिख्यम् ॥
>
> —ऋ० ७, ७६, २

स्तुति मात्र करके प्रतीक्षा करना वेदों में श्रेयस्कर नहीं माना गया है। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि सुन्दर-सुन्दर स्तुतियों से प्रभु छविमान नहीं होते,

---

१ त्वद् विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वियन्तिवनिनो न वयाः।
श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवोवृष्टिरीड्योरीतिरपाम् ॥
— ऋ० ६, १३, १

वेदमयी उपासना के क्षेत्र में साधकों ने भक्ति की जिस चरम स्थिति का अनुभव किया था आज की रसोपासना उसी का विकसित रूप है। आनन्द का अनुभव करने वाली, एक ही पथ का अनुसरण करने वाली इष्टदेव की प्राप्ति की अभिलाषा से युक्त साधक की समस्त बुद्धियाँ भगवान् की सेवा में उसी प्रकार लग जाती हैं, जिस प्रकार पत्नियाँ अपने पति का आलिंगन करती हैं।[1] यहाँ भक्त को ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी बुद्धियाँ ऐश्वर्य-संपन्न पावन प्रभु का आलिंगन कर रही हैं। वह कहता भी है कि हे दर्शन करने योग्य देवता ! सनातनत्व की कांक्षिणी और आपके भीतर स्थिरता की अभिलाषा रखने वाली मेरी बुद्धियाँ नव स्तोत्रों एवं नमन के अवलम्ब से आपकी ओर दौड़ रही हैं। हे सर्वशक्तिमान आराध्य देव ! ये बुद्धियाँ आपका ठीक उसी प्रकार आलिंगन करना चाहती है जैसे— कामनायुक्त पत्नी कामयुक्त पति का संयोग करती है।[2] वेद में जिस यज्ञ की भावना का दिग्दर्शन कराया गया है, वह भी मधुर उपासना की दृष्टि से कम महत्व का विषय नहीं है, इस भावना से भावित होकर साधक यज्ञ भगवान् को अपना सर्वस्व प्रदान कर देता है यथा आयु, दर्शन शक्ति, प्राण, श्रवण शक्ति, चिन्तन शक्ति एवं आत्मा। यहाँ पर मनुष्य की आन्तरिक तथा वाह्य दोनों प्रकार की संपत्तियाँ यज्ञभगवान् को समर्पित हो जाती है। व्रजमण्डल की समस्त गोपियों ने भगवान् श्री कृष्ण को यज्ञस्वरूप समझा था और तब अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। जीवात्मा उस परम पुरुष की शक्ति है। शक्ति शक्तिमान से पृथक हो नही सकती, केवल मायावी आवरण को विनष्ट करके उस शक्तिमान् से मिल जाना चाहती है। गोपियों की इसी आत्मरूपा शक्ति ने परमात्मरूप शक्तिमान् की उपासना की थी और उसका शाश्वत सान्निध्य प्राप्त करने के लिए सब कुछ दे डाला था। अश्विनी कुमारों की रसमयी उपासना सर्व-प्रसिद्ध है। वे भगवान् के सौन्दर्य माधुर्य रस, में उसी प्रकार सराबोर थे, जिस प्रकार युवती विधवा देवर की सुषमा के प्रति

---

१ अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उषतीर नूषत।
परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतए॥
—ऋ० १०, ४३, १

सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयो दस्मदद्रुः।
पतिं न पत्नीरुशती रुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः॥
—ऋ० १, ६२, ११

आकृष्ट होती है। ऋग्वेद में काक्षीवती घोषा ने अश्विनीकुमारों से पूछा था, हे अश्विनीकुमारो! आप लोग रात्रि में कहाँ विश्राम करते है? अपने प्रेम में किसने आपको बद्ध कर आकर्षित कर रखा है, जैसे विधवा अपने देवर को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।[1] जिस प्रकार शहद की मक्खियाँ शहद का मधुर रस पान करने के लिए उसके चारों ओर बैठी रहती हैं, उसी प्रकार साधक यहाँ अपने इष्ट-देव के प्रेम के रसास्वाद के लिए, उसमें बस जाने के लिए आतुर रहता है।[2] और समस्त प्रकृति उसे सौन्दर्य-माधुर्य रस से सराबोर परम रमणीय जान पड़ती है। साधक का मन ऐसे समय में रस समुद्र में बार-बार अवगाहन करता है और तब उसकी दृष्टि में बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत तथा शिशिर ऋतुएँ भी परम रसमयी हो जाती हैं। इस प्रकार रसमय वातावरण के भीतर ही वह रसोपासक अपने रस स्वरूप इष्ट देवता की उपासना करता हुआ तदाकार हो जाता है।[3]

इस स्थिति में रसोपासक की समस्त मन की वृत्तियाँ उस माधुर्य के एकमात्र भण्डार परमेश्वर की ओर जाकर उसी रूप को उसी प्रकार प्राप्त कर लेती हैं, जिस प्रकार भागीरथी आदि सप्त सरिताएँ सागर की ओर दौड़ती हुई तदाकार हो जाती है। दूसरे समस्त पदार्थों के बीच में भगवान् को ही एकमात्र प्रियतम जानते हुए रसोपासक निरंतर उसी की याद में तड़पते रहते हैं और असीम चाह के साथ उसकी उपासना में तल्लीन रहते हैं। तब वह प्रियतम भी साधक के समीप ठीक वैसे ही आता है, जैसे गायें सायंकाल घर वापस जाती

---

१ कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना,
कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ॥
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं,
मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥

—ऋ० सं० १०-४०-२

२ इमे हि ते ब्रह्म कृतः सुते सचा मधौ नमक्ष आसते ।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः ॥

—ऋ० ७-३२-२

३ वसन्त इन्नु रन्त्यः ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनुशरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥

—साम० ६,११,२

हैं, शूरवीर युद्ध में जाता है और पति अपनी सुन्दर पत्नी से मिलने के लिए आतुर हो उठता है।

वैदोत्तर ग्रंथों में माधुर्य—

उपर्युक्त रसोपासना या माधुर्योपासना का जो रूप हमें वेदों में प्राप्त होता है, शनैः शनैः उसका विकास उपनिषद्-काल में हुआ। उपनिषद् वेदों से भिन्न नहीं वरन् वेदों के ही ज्ञान काण्ड के नाम से विख्यात है। भगवान् के साकार स्वरूप की उपासना करने वाले भक्त सीताराम, राधा कृष्ण तथा लक्ष्मी नारायण आदि कल्याणकारी रूपों की उपासना करते हैं। इसमें सीता, राधा तथा लक्ष्मी आदिशक्ति का प्रतीक हैं और राम, कृष्ण तथा नारायण आदि शक्तिमान का हैं। शक्ति का सम्बन्ध शक्तिमाग से नित्य है। युगलस्वरूप का यही रहस्य है। यह युगलस्वरूप एक भी है और दो भी है। जो उपनिषद्, संहिता या ब्राह्मण रूप वेदों के अन्तर्गत आते हैं उनमें सर्वप्रथम यह युगल स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। भगवान् के इस शाश्वत अनेक रूपों में आस्वादन की अभिलाषा, प्राकट्य तथा संभोग आदि उस नित्य युगलस्वरूप के भीतर ही आते हैं। इस शाश्वत युगलत्व में उनकी शाश्वत एकता है। इस रूप में भी उस परमात्मपुरुष का अपने ही साथ शाश्वत रूप से रमण होता है। अनंत सत्ता, ऐश्वर्य, ज्ञान तथा माधुर्य का शाश्वत आस्वादन उनके लिए ही है। शक्ति का निरंतर संयोग ही उनकी सत्ता, ऐश्वर्य, ज्ञान तथा माधुर्य का नित्य प्रकाशक है। उपनिषद् के ऋषि भी इस स्वरूप की ही उपासना करते हैं।

भगवान् के इस युगलस्वरूप के मधुर रस का आस्वादन वही साधक तर सकता है, जो सर्वदा स्नेह-पूरित मन से उनका स्मरण करता रहे, और अपना हृदय उनके रूप में लगा दे। इसके पश्चात् ही वह नेत्रों से इष्टदेव का दर्शन करके परम आनन्दमय स्थिति में पहुँच जाता है।[1] कठोपनिषद् में इसे स्पष्ट किया गया है। ब्रज की गोपियाँ परमानंदस्वरूप ही हो गई थीं। अपने प्रियतम की उपासना में गोपियों के मन, उनकी बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सब कुछ स्थिर हो गई थीं। परमानंदमय होने के लिए कठोपनिषद् में सतत अभ्यास

---

१ न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥
—कठोपनिषद्, तृतीय वल्ली

करने का संदेश दिया गया है।[1] इष्टदेव का संयोग तभी होता है, जब इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि स्थिर हो जाती है। बिना दृढ़ता के यह आनंदमयी उपासना संभव नहीं होती। उपासना करने वाले का चित्त जब अपने प्रियतम इष्टदेव के पास लग जाता है, तब उसे इष्ट-स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और उसके प्रेम में प्रति क्षण परिवर्धन होने लगता है। इस समय उपासक पल भर के लिए भी इष्टदेव का वियोग सहन नहीं कर पाता, और तड़पने लगता है।[2] पृथ्वी से प्राण तक जितने तत्वों का उल्लेख उपनिषद् करते हैं, उन सब के एकमात्र स्वामी हैं 'परब्रह्म पुरुषोत्तम' यह बात गोपियों से छिपी न थी। अस्तु, उन्होंने अपने प्रियतम को प्रसन्नता के साथ अपने मन-प्राण का समर्पण कर दिया था। प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न में महर्षि पिप्पलाद् ने इसी साधनात्मक समर्पण की ओर संकेत किया है।[3] अन्तःकरण की निर्मलता और सांसारिक भोगों का त्याग जब प्रियतम के लिए किया जाता है, तो उन्हें वश में होते देर नहीं लगती। परमात्मा कृष्ण ने गोपियों को स्वयं स्वीकार किया था। यथार्थ में वे उसे ही प्राप्त होते हैं, जिसे वे स्वयं स्वीकार किया करते हैं। शास्त्रों का अध्ययन, श्रवण तथा तर्क-बुद्धि उनके स्वरूप को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। जिस उपासक के हृदय में उनके प्रति मिलन की उत्कट अभिलाषा जागृत हो जाती है, जो निरंतर उनकी कृपा की आकांक्षा करता रहता है, उसी के समक्ष उनका सच्चिदानंदमय स्वरूप प्रकट होता है।[4] यहाँ मन तथा वाणी सामर्थ्यहीन हो जाती है।

---

१ यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमांगतिम्॥१०॥
—कठोपनिषद् तृतीय बल्ली

२ अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः॥५॥ —केनोपनिषद्, चतुर्थ खण्ड

३ स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं हवै तत्सर्वं पर आत्मनि सं प्रतिष्ठते
—७, प्रश्नो० चतुर्थ प्रश्न

४ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥३॥
—मुण्डकोप० तृतीय मुण्डक० द्वितीय खण्ड

सच्चिदानंदमय एवं रसस्वरूप जिस परब्रह्म का यशोगान उपनिषद् करते हैं, उनका धर्म है—आनंद। ऐसे इष्टदेव के साक्षात्कार से निस्संदेह मधुर रस का आस्वाद हो जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानंद वल्ली के अष्टम अनुवाक में ब्रह्मा के जिस सर्वोच्च आनंद की चर्चा की गई है, वह उस परम आनन्द के बहुत नीचे छूट जाता है। ब्रह्मा के उस सर्वोच्च आनंद से वैराग्य ग्रहण करने पर ही साधक इस परमानंद का रसास्वाद करके आनंद की लालसा पर आधारित होकर व्रज की गोपियों की भाँति ही सिद्धरस हो जाता है। वेदों के अन्तर्गत जिन परम पुरुष की महत्ता एवं कीर्ति का वर्णन किया गया है, उनका सहज स्वभाव है—आनन्द, उस आनन्द का एकमात्र कारण है—रसमयता। रसमयता सुन्दरता से होती है। यह सुन्दरता ही संसार का विकास है और भगवान् कृष्ण उसके अक्षय भण्डार हैं। इन्हीं आनन्दमय स्वरूप कृष्ण ने गोपियों को अपनी ओर आकर्षित किया था और निरंतर अपने स्वरूप की झाँकी उन्हें दी थी। इन इष्टदेव का कार्य है सबको अपनी ओर आकर्षित करना, किन्तु जीव माया के आवरण में होने के कारण इस सुयोग को पाकर भी एकाकार नहीं हो पाता। भगवान् का रसमय ध्यान तथा उपासना ही उनके रहस्य का उद्‌घाटन करने में समर्थ हो सकते हैं, जिसका उल्लेख उपनिषद् बराबर करते हैं। सोलह कलाओं वाले कृष्ण ही परमात्मतत्व हैं, जिन्हें प्रेम की चरम स्थिति—महाभाव में पहुँच कर ही प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ पर शारीरिक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् का पंचम अध्याय इसका संकेत करता है।[1] शारीरिक संबंध समाप्त हो जाने पर ही उस मधुरतमोत्तम रस को साधक प्राप्त कर पाता है। कृष्ण तथा गोपियों का शारीरिक संबन्ध न था, वह सम्बन्ध आत्मा-आत्मा का था। मुनियों के द्वारा पूछे जाने पर भगवान् ब्रह्मा जी ने कहा था कि जिनका रूप ग्वाल बालों का सा है, जो नवीन श्यामवर्ण के समान कांति वाले हैं, जिनकी किशोर अवस्था है तथा जो कल्पवृक्ष के नीचे उपस्थित हैं, उन्हीं की उपासना करना चाहिए।[2]

---

१ भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४॥
—श्वेताश्व० पंचम अध्याय

२ गोपाल पू० तापनी०, प्रथम उप०, श्लोक ८-९-१०-११-१२ देखना चाहिए।

भगवान के जिस सौंदर्यमय रूप की आराधना हिन्दी में कृष्ण-भक्त कवियों ने की और उनके सम्बन्ध में पद—गायन किया है, यही रूप उपनिषदों में प्रत्यक्ष दिखलाई देता है यथा भगवान कृष्ण के कमल सदृश परम सौन्दर्य-वान् नेत्र, मेघ के समान श्याम वर्ण, बिजली के समान पीतवस्त्र, गले में पड़ी हुई वनमाला की छवि, गोप तथा गोपियों के घेरे में विराजमान तथा यमुना के पुलिन पर सुगंधित वायु से सेवित उनका विग्रह उपासना के लिए उपनिषदों में चमत्कृत हो रहा है।[1] औपनिषदिक् साधना करने वाला साधक उन्हीं गोपियों के प्राणधन गोविन्द को निरंतर भजता है, जिनमें समस्त उपासकों का मन रमण करता है, अस्तु राधा के मन में विहार करने वाले गोविन्द की ही उपासना श्रेष्ठ है। ये भगवान कृष्ण अपने उपासक भक्तों के साथ वैसा ही प्रेममय सम्बन्ध रखते हैं, जैसा लक्ष्मी के साथ रखते हैं।[2] उपासना की इस स्थिति तक पहुँचने के लिए अथर्ववेदीय राधिकातापनीयोपनिषद्[3] में इस बात का उल्लेख किया गया है कि बिना राधाभाव का अवलम्ब लिये कोई साधक इस माधुर्य का रसास्वादन प्राप्त नहीं कर सकता और यह राधाभाव बिना कृपा राधा जी के किसी को प्राप्त नहीं हो सकता। राधा समस्त देवों की शक्ति हैं, इसीलिए श्रुतियों ने सर्वप्रथम राधा की उपासना पर ही जोर डाला है। इन्हीं राधा की प्रेरणा से समस्त देव गतिमान होते हैं और स्वयं समस्त संसार को अपनी ओर आकर्षित करने वाले कृष्ण इन्हें प्राणों से अधिक मानते हुए एकांत में प्रेम से आर्द्र होकर उनकी चरण-धूलि को अपने मस्तक पर धारण करते हैं। जिन राधा के वश में भगवान कृष्ण क्रीतदास की भाँति रहते हैं, उन्हीं की

---

१ सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥१०॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्।
दिव्यालंकरणोपेतं रत्न पंकजमध्यगम् ॥११॥
कालिन्दीजल कल्लोलसंगि मारुत सेवितम्
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥
—गोपापूर्वता०, प्रथम उप०

२ गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद् का ५२-५३ वां श्लोक देखिए।

३ राधातापनीयोपनिषद् २

भाँति उपासना का संदेश प्रियतम भाव से श्रुतियों ने दिया है ।[1]

राधा के अंक में विराजने पर गोलोक तक का विस्मरण कर देने वाले कृष्ण तन्मय हो जाते हैं । ये दोनों यथार्थ में अभिन्न हैं—इसका संकेत पूर्व में किया जा चुका है । ये राधाभाव के माधुर्य को व्यक्त करने के लिए ही दो रूपों में प्रकट हुए हैं और रस-समुद्र होते हुए भी इन्होंने दो रूपों में क्रीड़ा भी की है । 'कृष्णोपनिषद्' में तो यहाँ तक कहा गया है कि मूर्तिमान वेदार्थ ही व्रज में गोपिकाओं तथा ग्वालों के साथ केलि करता है । उस श्रीकृष्ण की गायें तथा गोपियाँ वेद की ऋचाएँ हैं ।[2] श्री कृष्ण तो पुरातन पुरुष हैं ही और राधा हैं उनकी सर्वप्रधान आह्लादिनी शक्ति । परम अन्तरंगभूता राधा की आराधना सर्वदा कृष्ण करते हैं, इसीलिए राधा राधा के नाम से विख्यात हैं । ऋग्वेदीय राधोपनिषद् का कथन है कि राधा को न जानते हुए श्रीकृष्ण की उपासना करने वाला मूढ़तम है ।

भागवतादि में माधुर्य—

श्रीमद्भागवत में भगवान कृष्ण को लक्ष्मी, यज्ञ, प्रजा, बुद्धि, तीनों लोक, पृथ्वी, अंधक, वृष्णि तथा सात्वत वंशियों एवं सज्जनों का पति कहा गया है ।[3] पति यथार्थ में वही है, जो स्वयं किसी से भयभीत न हो और भयभीत प्राणियों की सर्वप्रकार से रक्षा करने में समर्थ हो । इन्हीं भगवान् कृष्ण की पति रूप में उपासना करने का स्पष्ट संदेश भागवत ने दिया है । भगवान ने स्वयं कहा है कि जैसे सती नारी अपने पातिव्रत्य से सुन्दर आचरण करने वाले अपने स्वामी को वश में कर लेती है, ठीक उसी प्रकार अपने हृदय के प्रेमसूत्र से मुझे बाँध रखने वाले तथा समान दृष्टि से युक्त सज्जन भक्ति के द्वारा मुझे अपने अधीन कर लेते हैं ।[4] ये सभी भक्त अपने

---

१ राधातापनीयोपनिषद् ७

२ श्रीकृष्णोपनिषद्

३ श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियांपतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चाऽन्धकवृष्णि सात्वतां प्रसीदतां में भगवान्सतां पतिः ॥
—श्रीमद्भा० २, ४, २०

४ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥
—श्रीमद्भा० ९, ४

प्रियतम आराध्यदेव के लिये ही चेष्टा करते हैं, गाते है, मन लगाते हैं तथा धन, भोग एवं सुख को त्याग देते हैं। इतना करने के पश्चात् आत्म-समर्पण कर देते हैं। इस स्थिति में भक्तों का चित्त भगवान का चित्त हो जाता है, उनके हृदय में भगवतभाव का निरंतर परिवर्धन होता रहता है, वे निरंतर उन्हीं की चर्चा करते हैं और उन्हीं के लिए सारी चेष्टाएँ करते हैं, उन्हें यहाँ पर किसी अन्य की याद तक नहीं रहती—व्रज की गोपियों की यही दशा थी। उनकी प्रेम-सरिता में मन, बुद्धि, वाणी आदि सभी प्रवाहित होने लगे थे। इसीलिये गोपीभावेन देवेश न मामेति न चेतरः" के अनुसार भगवान ने स्वयं कहा था कि हम दोनों की शरणागत होकर जो साधक गोपीभाव से हमारी उपासना करते हैं, उन्हीं को हमारी उपलब्धि होती है। गोपियों को प्राण, बुद्धि, मन, देह, स्त्री-पुत्र और धन जिसके सान्निध्य से प्यारे जान पड़ते थे, उससे अधिक उन्हें संसार में कोई प्यारा न था। इसीलिये उन्होंने उन्हें सब कुछ दे डाला। भगवान कृष्ण ने द्विज-पत्नियों से भी यही कहा था।[1] जैसे विरहिणी पत्नी अपने पति से संयोग के लिए आकुल एवं उत्कंठित रहती है, वैसे ही गोपियाँ निरंतर अपने परम प्रियतम कृष्ण के संयोग की लालसा रखती थीं। अस्तु उपासक अपने और समस्त पुरुषार्थ का सहारा त्याग कर अनन्यभाव रखते हुए गोपियों की भाँति ही पतिभाव से अपने प्रियतम कृष्ण की मधुर उपासना में तल्लीन रहता है—[2] और अपनी प्रियतम वस्तु को भगवान को समर्पित कर देता है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध में कृष्ण ने उद्धव से यही कहा था कि हे उद्धव ! संसार में जो वस्तु स्वयं को सबसे अधिक प्यारी तथा इष्ट हो, उसे मेरे हेतु भक्त को समर्पित कर देना चाहिए। ऐसा करने से वह अपार गुना होकर उस व्यक्ति को उपलब्ध हो

१—प्राण बुद्धिमनः स्वात्मदारापत्यधनादयः।

यत्सम्पर्कात्प्रिया आसंस्ततः कोन्वपरः प्रियः ॥२७॥

श्रीमद्भा०, दशम, पूर्वा० अ० २३

२—आराध्योभगवान्व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं।

रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ॥

जाती है।[1] पतिभाव में इन ब्रजांगनाओं ने श्रीकृष्ण की सेवा, चरण दबाने आदि अनेक विधियों से की थी और उन पर आसक्त होकर अपने समस्त सौन्दर्य को समर्पित करते हुए सागर में नदियों की भाँति उन्हीं में लीन हो गई थीं। रास में तो उन प्रियतम कृष्ण की प्रेममयी मुस्कान, चाल, विलासयुक्त चितवन, मनोहर वार्तालाप एवं लीला-विलास से जिनके चित्त उनकी ओर आकर्षित हो चुके थे, वे गोपिकाएँ तन्मयता से उनकी विभिन्न चेष्टाओं का अभिनय करने लगी थीं।[2] भगवान् कृष्ण को गोपियों की प्रेममयी माधुर्योपासना सबसे अधिक प्यारी थी, अतः उन्होंने अपने प्रेम को प्रगट करने के लिए तथा गोपियों के मधुर रस के परिवर्धन के लिए ही आलिंगन, कर, अलक, जंघा, कटिवस्त्र के बन्धन और स्तन आदि का स्पर्श तथा नखक्षत आदि किये थे साथ ही विनोदपूर्ण चितवन तथा मन्द मुस्कान से उस रस की राशि इकट्ठी कर दी। इन व्रज की गोपिकाओं पर श्रीकृष्ण का जो प्रसाद प्रकट हुआ, वह सुवर्ण की सी कान्तिवाली अप्सराओं पर भी कभी प्रकट न हुआ था। माधुर्योपासक जब अपने प्रियतम की रसमयी उपासना में तल्लीन हो जाता है, तो उसके शरीर में रोमांच, चित्त में पुलक, नेत्रों में आनन्दाश्रु प्रकट हो जाते हैं और साथ ही प्रेमावेश के कारण वाणी स्खलित हो जाती है, तब वह अपने मन, शरीर तथा प्राण तक को अपने भगवान के हेतु समर्पित कर देता है। इष्टदेव के त्रिभुवन सुन्दर रूप का वर्णन उस भक्त रसिक के हृदय में संयोग की आकांक्षा को उद्दीप्त कर देता है, समस्त सांसारिक विषय समाप्त हो जाते हैं और वह निर्लज्ज होकर अपने प्रियतम से न जाने क्या-क्या कहने लगता है। प्रियतम से संयोग होने पर सुख से व्यतीत होने वाला दीर्घ काल क्षण के समान व्यतीत हो जाता है और तब साधक को अपने इष्टदेव का वियोग अत्यंत दुःखदायी होता है। पतिभाव से श्रीकृष्ण

---

१ यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते॥
—श्रीमद्भा० ११, ११, ४१

२ गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः॥२॥
—श्रीमद्भा० दश० पूर्वा० अ० ३०

की उपासना करने वाली गोपियों को यही स्थिति दशम स्कंध में दिखलाई देती हैं।[1] भागवत में माधुर्यरस की सर्वोत्कृष्टता को प्रकट करने वाले जिस महाभाव की चर्चा इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में की गई है, उसके प्रथम प्रकार मोदन महाभाव के अन्तर्गत आने वाले मोहनभाव के दिव्योन्माद चित्रजल्प की पूरी छटा हमें भागवत के भ्रमरगीत वाले प्रसंग में दृष्टिगोचर होती है। गोपियों की इस रसमयी उपासना का सच्चा स्वरूप यही देखने को मिलता है।

भगवान श्रीकृष्ण का रसमय सान्निध्य प्राप्त करने के लिए गोपिकाओं में रासस्थल में कृष्ण के द्वारा ली गई परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त की थी। जब भगवान ने उन सबसे घर लौट जाने को कहा तो वे कहने लगीं कि अभी तक तो हमारा मन प्रसन्नता से घर में आसक्त था, उसका आपने हरण कर लिया, हमारे हाथ गृह-कार्य करने में लगे थे वे भी संज्ञाहीन हो गये और जब हमारे पग आपके पद-कमलों के समीप से एक इंच भी पीछे नहीं जाना चाहते, तब हम वृन्दावन के लिए कैसे जायँ ? और वहाँ भी जाकर क्या करें ? हे प्रियतम ! आपकी मधुर मुस्कान से युक्त चितवन और आपके मनमोहक गीत से हमारे चित्त में प्रबल कामानल (प्रेमाग्नि) प्रज्वलित हो रहा है, उसे अपने अधरामृत के सिंचन से संतुष्ट एवं शांत करिए, नहीं तो आपके वियोग से उत्पन्न अग्नि से हमारे शरीर ही भस्म हो जायेंगे। हे सखे ! हम आप

---

१ यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमंत्र-
लीलावलोक परिरम्भण रासगोष्ठ्याम्।
नीताः स्मनः क्षणमिव क्षणदाविनातं,
गोप्यः कथंन्वतितरेम तमोदुरन्तम्॥
—श्रीमद्भा० १०, ३९, २९

(गोपियाँ परस्पर कह रही हैं — हा! जिन कृष्ण के स्नेह के साथ खिले हुए सुन्दर मंद मंद हास्ययुक्त मनोहर मुख देखकर और उनके सुमधुर वचनों को सुनकर तथा लीला के सहित कुटिल कटाक्षों से उनका मंद मंद चितवन और प्रेमालिंगनों द्वारा रासक्रीडा में हमने बहुत सी बड़ी-बड़ी निशाएं एक क्षण के समान बिता दीं, अपने प्यारे श्रीकृष्ण के बिना हम इस दुस्सह विरहजन्य दुःख को कैसे सहन कर सकेंगी ? इसका सहन करना तो अत्यंत कठिन है।)

का चिंतन करके आपके चरणों का सान्निध्य प्राप्त करेंगी।[1] हे प्रियतम ! अलकावली से युक्त आपका मुख, कुंडलों की शोभा से युक्त कपोल, अधरामृत, मनमोहनी मुस्कान से परिपूर्ण चितवन, अभयदायक दोनों हाथ और एकमात्र लक्ष्मी जी का विहार-स्थल आपका विशाल वक्ष देख कर हम आप की दासी हो चुकी हैं। ,इस रसमय कृष्ण स्वरूप का सान्निध्य तथा प्रेम प्राप्त करने की उत्कट आकांक्षा ने गोपियों से सर्वस्व त्याग कराकर प्रियतम के प्रति सर्व समर्पण करा दिया। यथार्थ में ऐसा ही होना था। क्योंकि जिन गोपिकाओं का हृदय ही उनके पास न हो, जो अनुराग के रस में सराबोर हो चुकी हों और जिन्होंने अपने संसार को अपने प्रियतम कृष्ण में ही मूर्तिमान देखा हो, वे सांसारिक सम्बन्ध को ग्रहण करने के लिए पुनः कैसे वापस जातीं ? मधुर उपासना के विशाल क्षेत्र में अपने प्रियतम इष्टदेव का अनुसंधान करने वाले साधक की गति को सांसारिक बंधन रोक नहीं सकते और वह अपने अभीष्ट को प्राप्त कर ही लेता है। यह उपासना गोपीभाव की रसमयी मधुर उपासना के नाम भी से विख्यात है। साक्षात् ब्रह्मा जी भी रासमण्डल के मध्य में निवास करने वाले, रासोल्लास में समुत्सुक, गोपियों से सेव्यमान, राधा के ईश उस परब्रह्म श्रीकृष्ण को ही अपना इष्टदेव मानकर निरंतर प्रणाम करते हैं।[2] मधुर उपासना की इस रस-

---

१ चित्तं सुखे न भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्यामः कथं व्रजमथो करवाम
किंवा ॥ ३४ ॥
सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीत जहृच्छयाग्निम्
नोचेद्वयं विरह जाग्न्युप युक्तदेहा ध्यानेनयामपदयोः पदवीं सखेते ॥३५॥
वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री गण्डस्थलाधर सुधं हसिता वलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियेकरमणं च भवाम
दास्यः ॥३९॥
—श्रीमद्भा०,दश.मपूर्वा० अ० २९

२ ध्यानासाध्यं विद्यमानं योगीन्द्राणां गुरुं भजे।
रासमण्डल मध्यस्थं रासोल्लास समुत्सुकम ॥४८॥
गोपीभिः सेव्यमानं च तं राधेशं नमाम्यहम।
—ब्रह्मवैवर्त्तपु०, श्रीकृष्ण जन्म खण्ड, अ० २० श्लो० ४८½

मयी प्रणाली में भगवान का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए गोपियाँ निम्नलिखित प्रकार से सेवा करने में रत रहतीं थीं। यथा—कोई चंदन हाथ में लिये हुए, कोई चावल हाथ में लिये सुये, कोई कस्तूरी हाथ में लिये हुए, कोई माला हाथ में लिये हुये, कोई सिन्दूर हाथ में लिए हुये, कोई कंकतिका (कंघी) हाथ में लिये हुए और कोई महावर, कोई वस्त्र, कोई दर्पण, कोई मृदंग, कोई स्वरयंत्र तथा कोई आसव, कोई भूषण, कोई करताल, कोई पुष्प पात्र, कोई लीला कमल तथा कोई वीणा हाथ में लिये हुए राधा-कृष्ण के समीप रहती थीं। जिस प्रकार रसिका विदग्धा स्त्रियों के लिये भर्ता से बढ़कर कोई प्रिय नहीं होता, उसी प्रकार राधा की कृपापात्र इन गोपिकाओं को श्रीकृष्ण के अतिरिक्त प्यारी कोई वस्तु न थी। स्वप्न में, जागरण में, कृष्ण ही इन गोपियों के प्राण थे और इस लोक तथा परलोक—दोनों में वे ही इनके एकमात्र गुरु तथा स्वामी थे।[२] जब तक इनके दर्शन न होते तब तक गोपिकाएँ यही कहा करती थीं कि क्या मैं उनके पूर्ण चंद्र मुख को पुनः देखूँगी, क्या मैं रासमंडल में पूर्ववत क्रीड़ा करूँगीं, जल-विहार करूँगी तथा श्री नन्दनन्दन के अंग में चन्दनादि लगाऊँगी?[३] और दर्शन होते ही वे उपर्युक्त प्रकार से सेवा में तन्मय हो जाती थीं। मधुर रसोपासक कृष्णभक्त इसी प्रणाली का अनुसरण करता हुआ रसस्वरूप को प्राप्त करता है। इस रसस्वरूप को प्राप्त करने

(हे प्रियतम! अलकावली से युक्त आप का मुख, कुण्डलों की शोभा से युक्त कपोल एवं अधरामृत, मनमोहनी मुस्कान से परिपूरित चितवन, दोनों अभयदायक हाथ और एकमात्र लक्ष्मी जी का विहारस्थल आपका विशाल वक्ष देखकर हम आपकी दासी हो चुकी हैं।)

१ शत पुत्रात् प्रियः स्वामी साध्वीनां साधुसम्मतः।
रसिकानां विदग्धानां न हि भर्तुः परः प्रियः॥६१॥
ब्रह्मवैवर्तपु० श्रीकृष्ण अ० खं० पृ० ९१३

२ स्वप्ने जागरणे चापि पतिः प्राणाश्च योषिताम्।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणामिहलोके परत्र च॥ ६६॥
ब्रह्मवैवर्त पु० श्रीकृष्ण० अ० ख० पृष्ठ ९१३
First Edition—1955. 5 Clive Road. Calcutta Vol. II.

३ कृष्ण के वियोग में राधा का भी यही कथन था जिसे उद्धव के समक्ष उन्होंने स्पष्ट किया था।

के लिए सर्वप्रथम कृपा रासेश्वरी (राधा) की होना परमावश्यक है, किन्तु उसके पूर्व गोपी भाव की उपासना करने वाले को चाहिए कि वह अपने आपको भी प्रिया-प्रियतम की सेवा में लगी हुई उन सखियों में ही एक अत्यंत मनोरम, रूप-यौवन-सम्पन्न किशोर अवस्था की रमणी के रूप में भावना करे, जो विविध शिल्पों एवं कलाओं में प्रवीण तथा श्रीकृष्ण के द्वारा उपभोग के योग्य हो, किन्तु श्रीकृष्ण के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भी जो उनके साथ दिव्य संभोग के प्रति सर्वथा पराङ्मुख हो, जो श्रीराधिका किशोरी की सेवा में सदा परायण रहनेवाली इनकी अनुचरी हो, जो श्रीकृष्ण की अपेक्षा राधा किशोरी से ही अधिक प्रेम करती हो और प्रतिदिन बड़े ही प्रेम एवं तत्परता से उन दोनों का मिलन कराना ही अपना एकमात्र कर्तव्य समझती हो और उन्हीं की सेवा के सुख की परम आह्लाद का कारण मान कर अत्यंत सुखी हो। अपने विषय में इस प्रकार की भावना करके ब्राह्म मुहूर्त से लेकर रात्रि के शेष भाग तक दोनों की मानसी-सेवा में रत रहना चाहिए।[1] इस प्रकार करते हुए रसोपासक को "गोविन्दे धेहि हृदयं" के अनुसार जैसे बने वैसे अपना मन भगवान को समर्पित कर उनकी याद में तन्मय हो जाना चाहिए। तत्पश्चात् राधा-कृष्ण की दैनन्दिनी लीला का रहस्य जानने का प्रतिक्षण प्रयास उपासक के लिए वांछनीय है। इस दैनन्दिनी लीला का तत्व न समझने वाला राधा कृष्ण का सामीप्य तक प्राप्त नहीं कर सकता, सेवा की बात तो दूर रही। इस दैनन्दिनी लीला का प्राकट्य वृन्दावन की अधिष्ठात्री वृन्दा देवी ने श्रीनारद जी के समक्ष किया था। उपासना की

---

१ आत्मानं चिन्तयेत् तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवन सम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥ ७॥
नाना शिल्पकलाभिज्ञां कृष्णभोगानुरूपिणीम्।
प्रार्थितामपि कृष्णेन तत्र भोग पराङ्मुखीम्॥ ८॥
राधिकानुचरी नित्यं तत्सेवन परायणाम्।
कृष्णादप्यधिकं प्रेम राधिकायां प्रकुर्वतीम्॥ ९॥
प्रीत्यानुदिवसं यत्नसेत् तयोः संगमकारिणीम्।
तत्सेवन सुखाह्लादभावेनातिसुनिर्वृताम्॥ १०॥
इत्यात्मानं विचिन्त्यैव तत्र सेवां समाचरेत्।
ब्राह्ममुहूर्तमारभ्य यावत् स्यात् तु महानिशा॥ ११॥
— पद्मपुराण, पाताल खण्ड, ५२ (७-११)

दृष्टि से यदि उसकी भी थोड़ी चर्चा यहाँ कर दी जाय, तो कदाचित् अनुपयुक्त न होगा। पुराणों में जिस प्रकार भगवान कृष्ण की रसमयी लीलाओं का वर्णन उपलब्ध होता है, उसी प्रकार वे समस्त नित्य लीलाएँ बृंदावन में विद्यमान हैं! वृन्दा देवी का कथन है कि पंचासत कुंजों में मण्डित व्रज में कल्पवृक्षों का निकुंज है, उसमें दिव्यरत्न से शोभित मणिमय गृह में पलंग के ऊपर गाढ़ आलिंगन में बद्ध राधा-कृष्ण दोनों शयन करते हैं। मेरे आज्ञाकारी पक्षियों के जगाने पर भी उस परम सुख के नष्ट होने के भय से उठने का मन नहीं करते। जब जागते हैं, तो सखियाँ हर्ष के साथ दोनों को शय्या पर बैठा हुआ देखकर निकुंज में प्रवेश करती हैं तथा तत्कालोचित सेवा करती हैं। फिर मैंनाओं के बोलने पर दोनों गुरुजन के भय से अपने-अपने घर जाते हैं। घर पर समस्त दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर वे दोनों विहार के हेतु वन में आते हैं। कृष्ण दो-तीन प्यारे सखाओं के साथ राधा-दर्शन की उत्कंठा से प्रसन्नता के साथ संकेत-गृह की ओर जाते हैं। इधर-राधिका भी सूर्यपूजा तथा पुष्पचयन के व्याज से श्रीकृष्णसंग के हेतु बन मध्य में आती हैं। अनेक प्रयत्न के बाद दोनों का मिलन होता है। तत्पश्चात् वे कहीं झूले पर बैठ कर सखियों के द्वारा झुलाये जाते हैं, कहीं हाथ से छूटी हुई वंशी को प्रिया जी छिपा कर रख देती हैं, जिसे ढूँढ़ते हुए सखियों से छले जाते हैं, सहेलियों को विविध प्रकार से हँसाते तथा स्वयं भी हँसते हैं। कहीं प्रसन्नता के साथ बसन्त पवन से युक्त वनखण्ड में प्रवेश करके पिचकारी ले चंदन जल, केसर जलादिकों को चलाते हैं तथा गुलालादिक द्रव्यों का परस्पर लेपन करते हैं। हे मुनिवर! कहीं दोनों श्रांत होकर वृक्षमूल में दिव्य आसन पर बैठ कर मधुपान करते हैं। दोनों प्रेमावेश में रमण करने की इच्छा से एक दूसरे का हाथ पकड़कर कुंज में प्रवेश कर रमण करते हैं। श्रीकृष्ण श्रीराधिका की प्रेरणा से सभी उपस्थित सखियों के साथ कायव्यूहरूप बनकर रमण कर परमानंद प्रदान करते हैं! वृन्दा कहती हैं कि पहिले से मैं फल-फूल बनाकर रख देती हूँ। श्रीकृष्ण कान्ता के साथ वहाँ भोजन करते हैं, फिर दो तीन सखियों से सेवित होकर फूलों की सेज पर आते हैं। वहाँ पान, व्यजन, पादसंवाहनादिक से सखियाँ सेवा करती हैं, उनके साथ हँसते हुए तथा प्रिया जी का ध्यान करते-करते परम आनन्द को प्राप्त होते हैं। राधिका जी भी श्री हरि के सोने पर सहर्ष सखियों के साथ प्रियतम का अधरामृत पाकर शय्यागृह में जाती हैं। फिर राधा-कृष्ण दोनों प्रसन्नता के साथ दिव्य आसन पर सखियों

के साथ बैठ कर हार, वस्त्र, चुम्बन तथा आलिंगन आदि का पण रख कर नर्म परिहास करते हुए पाँसे खेलते हैं तथा प्रिया जी से हार कर भी 'मैं जीता हूँ'—ऐसा कहते हैं। इस प्रकार ढाई प्रहर बिताकर वे सब अपने घर चली आती हैं। रात्रि में दोनों यमुना के पुलिन पर मिलकर विविध प्रकार से क्रीड़ा करते हैं। ढाई प्रहर रात्रि बिताकर पक्षियों से भी अलक्षित एकांत-कुंज में प्रवेश कर पुष्पों से मण्डित सेज पर शयन करते हैं तथा सखियों से सेवित रहते हैं। इस प्रकार मैंने (वृन्दा ने) तुमसे (नारदजी से), श्रीकृष्ण का नैत्यिक चरित कहा। इस दैनन्दिनी लीला को भगवत् रसिक जन ही समझने में समर्थ हो सकते हैं तथा वे ही इसे समझकर रसोवैसः के साथ आनन्द लाभ करते हैं। सांसारिकता से बहुत ऊँचे उठकर आत्मसंयम के साथ ही मधुर उपासना साध्य होती है, जरा सा चूकने पर साधक का पता नहीं लगता! बिना गोपीभाव के आश्रय के राधा-कृष्ण की इस रहस्यमयी लीला का प्रत्यक्षीकरण हो नहीं सकता, इसलिए गोपीभाव के साथ सर्वप्रथम राधा की आराधना करनी चाहिए। ब्रह्मवैवर्तपुराण में कृष्ण का कथन है कि जब कोई 'रा' शब्द का उच्चारण करता है, तभी मैं भयभीत होकर उसे यह उत्तम भक्ति तुरन्त दे देता हूँ और 'धा' शब्द के उच्चारण से श्रवण के लोभ से उच्चारणकर्ता के पीछे चलता हूँ।[1] तात्पर्य यह कि राधा से ही कृष्ण की सिद्धि है। ब्रह्मा जी ने राधा की स्तुति करते समय इसी पुराण में कहा है—साठ हजार वर्ष तक पुष्कर तीर्थ में तपस्या करने के उपरान्त हे माते! (राधे) स्वयं हरि से मैंने यह वरदान माँगा था कि मुझे सुदुर्लभा राधिका के चरण-कमल का दर्शन होवे, अस्तु उन्हीं श्रीकृष्ण के प्रसाद से मैं आज आपका दर्शन कर सका हूँ,[2] समस्त गोपकन्याएँ राधा के अंग के रोम-रोम से उत्पन्न

---

१ राशब्दं कुर्वतस्त्रस्तो ददामि भक्तिमुत्तमम्।
धा शब्दं कुर्वतः पश्चाद्यामि श्रवणलोभतः॥

—श्री ब्रह्मवैवर्त पु० कृष्ण जन्म खं० अ० १५ के
७०वें श्लो० का द्वितीय एवं तृतीय चरण

२ ब्रह्मोवाच—
हे मातस्त्वत्पदाम्भोजं दृष्टं कृष्णप्रसादतः ॥९४॥
सुदुर्लभञ्च सर्वेषां भारते च विशेषतः ॥

—श्रीब्रह्मवै० पु० श्रीकृष्णजन्म खं, अ० १५

हुई थीं अस्तु वे सभी रूप तथा वय में राधा के समान ही थीं ।[1] और इसीलिए उन्होंने राधा की भाँति ही कृष्ण का सान्निध्य पतिभाव के साथ ही प्राप्त किया था । यथार्थ में श्रीकृष्ण के समान प्रियतम को पाकर ही गोपियों का पत्नीत्व सार्थक हुआ था । इस राधा-भाव अथवा गोपीभाव की उपासना करने वाला माधुर्योपासक इसी प्रकार भगवान कृष्ण को अपना पति इसलिए समझता है कि वे उसके बंधु हैं, अधिदेव, सर्वदागति, परमसम्पतस्वरूप तथा मूर्तिमान आनन्द है । वे ही धर्म, सुख, प्रीति तथा मान को देते हैं तथा मान का खण्डन भी करते हैं । समस्त बंधुओं में सार से भी सार स्वामी होता है । इसलिए साधक उन्हें स्वामी भी कहता है । वे श्रीकृष्ण भरण करने से भर्ता, पालन करने से पति, शरीर के ईश होने से स्वामी, कामना की पूर्ति करने से कान्त, सुख देने से बंधु, प्रीति दान करने से प्रिय, ऐश्वर्य दान से ईश, प्राणों के ईश्वर होने से प्राणनाथ और रति देने से रमण कहे जाते हैं । इनसे बढ़कर गोपिकाओं को दूसरा कोई प्रिय नहीं था ।[2] अस्तु माधुर्योपासक इन्हीं कृष्ण की उपर्युक्त भाव से उपासना करता रहता है । भोग से काम का शमन नहीं हो सकता अस्तु अविवेकी पुरुष की विषयों में जैसी प्रीति होती है, वैसी ही आसक्ति अपने आराध्य देव के प्रति उपासक को होती है और वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब को इष्टदेव के समर्पित कर देता है । गोपियों ने भी यही किया था ।

---

१ राधाङ्गलोमकूपेभ्यो बभूवुर्गोपकन्यकाः ।
राधातुल्याश्च सर्वास्ताः राधातुल्याः प्रियंवदाः ॥६४॥
—ब्रह्मवै० पु० प्रकृति खण्ड, अ० २

२ भरणादेव भर्ताऽयं पालनात् पतिरुच्यते,
शरीरेशाच्च सः स्वामी कामदात् कान्त एव च ॥२४॥
बन्धुश्च सुखबन्धाच्च प्रीतिदानात् प्रियः परः ।
ऐश्वर्यदानादीशश्च प्राणेशात् प्राणनायकः ॥२५॥
रतिदानाच्चरमणः प्रियोनास्तिप्रियात्परः ॥२५॥
—ब्रह्मवै० पु० प्रकृति खण्ड, अ० २

नो०—परवर्ती पुराणों में मधुर उपासना के दृष्टिकोण में वामन पुराण की माहेश्वरी संहिता तथा कूर्मपुराण की ब्राह्मी संहिता पठनीय है ।

संहितादि में माधुर्य—

श्रीकृष्ण को पांचरात्र संहिताओं में भी सच्चिदानन्दमय परमेश्वर तथा सर्वकारणों के भी कारण गोविन्द के रूप में देखा गया है। सृष्टि बनाने के इच्छुक तथा भगवान हरि की नाभि के कमल से उत्पन्न ब्रह्मा ने जब सर्वत्र अन्धकार ही देखा तभी दिव्या सरस्वती ने उनसे कहा था कि कामस्वरूप कृष्ण, गोपी जनवल्लभ तथा गोविन्द का मंत्र तुम्हें वह्नि की प्रिया से प्राप्त होगा। उस मंत्र के द्वारा ही तुम्हारी सृष्टि रचना की कामना सिद्ध होगी। ब्रह्मा जी ने बहुत समय तक ज्योति स्वरूप सनातन, शब्दब्रह्ममय, मुखाम्बुज से वेणु बजाने वाले, विलासिनियों से घिरे हुए तथा अपने अंशी देवताओं से स्तुत्य भगवान की उपासना की और सहस्रशत लक्ष्मियों के द्वारा प्रेमपूर्वक सेव्यमान उस आदि पुरुष का निरन्तर स्मरण किया।[1] वेणु बजाने वाले, कमल दल के समान विशाल नेत्र वाले, मोर मुकुट धारण करने वाले, काले मेघ के समान सुन्दर शरीरवाले तथा कोटि कंदर्प से भी सुन्दर अपने इष्टदेव का सतत् ध्यान करते हुए वे तन्मय हो गये। आन्दोलित चन्द्रकला से युक्त, सुन्दर वनमाला से सुशोभित, वंशी से विभूषित, रत्नजटित अंगद को धारण करने वाले, प्रणय-केलि की कला-विलास में निपुण, श्याम वर्ण, त्रिवल्ली से मनोहर तथा सर्व प्रकार से प्रकाशमान कृष्ण का ब्रह्माजी द्वारा उपासित स्वरूप ब्रह्मसंहिता में दृष्टिगोचर होता है।[2] इन्हीं कृष्ण को सज्जन, प्रेम रूपी अंजन से व्याप्त भक्ति रूप नेत्रों से सर्वदा अपने हृदय में अचिन्त्य गुण-स्वरूप होते हुए भी देखते हैं, जिनकी उपासना ब्रह्माजी ने की थी।[3] कृष्ण

---

१ ब्रह्म संहिता, अध्याय पंचम, श्लो० ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३८, ३९ विशेषतः देखने योग्य हैं।

२ आलोलचन्द्रकलसद्वनमाल्यवंशी,
रत्नांगदं प्रणयकेलिकलाविलासम्।
श्यामं त्रिभंग ललितं नियम प्रकाशं,
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥४०॥
—ब्रह्म सं० अ० ५

३ प्रेमांजनच्छुरितभक्ति विलोचनेन,
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

ने प्राणियों के मन में सच्चिदानन्दमय रसरूप से कामत्व को प्राप्त कर प्रतिफलित होते हुए अपनी लीलाओं से परे सारे भुवनों को वशीभूत कर लिया था[1], तभी ब्रह्मा जी ने इन्हें अपना परम प्रियतम माना था और उपासना की इस मधुरतमोत्तम प्रणाली को अपनाया था। प्रणय केलि की कला-विलास में निपुण श्याम सुन्दर को उन्होंने अपना सर्वस्व प्रदान किया था। इसी का उल्लेख ब्रह्मसंहिता में यत्र-तत्र पर्याप्त रूप में मिलता है।

पूर्ववर्ती वैष्णव संप्रदाय में माधुर्य—

महर्षि व्यास द्वारा निमित पुराणों की भक्ति-पद्धति से श्री, ब्रह्मा, रुद्र तथा सनक संप्रदाय विशेष रूप से प्रभावित हुए। पद्मपुराण में यहाँ तक कहा गया है कि परमात्मा श्रीकृष्ण ने ही स्वयं वैष्णव तत्व की शिक्षा एवं उपदेश उपर्युक्त चारों सम्प्रदायों के अधीश्वरों को दिया था।[2] श्री सम्प्रदाय के आचार्यों में सर्वप्रथम नाथ मुनि का नाम उल्लेखनीय है। नाथ मुनि शठकोपाचार्य (आलवार भक्त) की शिष्य श्रेणी में थे। इन आलवार भक्तों में गोदा-आण्डाल (रंगनायकी) की उपासना माधुर्य भाव की थी। वह भगवान को सदा अपना प्रियतम मानती थी, ठीक गोपियों की भाँति।[3] इस उपासना का पूरा प्रभाव श्री संप्रदाय पर पड़ा, फलतः आगे चल कर भगवान

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्य गुणस्वरूपं,
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥४७॥
—ब्रह्म सं० अ० ५

१ आनन्द चिन्मय रसात्मतयामनः सु,
य. प्राणिनां प्रतिफलं स्मरतामुपेत्य।
लीलायितेन भुवनानि जयत्यजस्त्रं,
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥५१॥
—ब्रह्म सं० अ० ५

२ सम्प्रदायविहीना ये मंत्रास्ते विफलामताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥
श्री ब्रह्म-रुद्र-सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्॥
—पद्मपुराण

३ भागवत सम्प्रदाय पृष्ठ १९५

राम की मधुर उपासना प्रारम्भ हो गई, जिसके केन्द्र थे मिथिला, अवध और चित्रकूट।

ब्राह्मसम्प्रदाय के प्रथमाचार्य माध्वाचार्य थे, जिन्हें पूर्व में आनन्दतीर्थ नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। माध्वमत का दूसरा नाम 'वाह्म संप्रदाय' है। वेद व्यास ने प्रसन्न होकर शालिग्राम की तीन मूर्तियाँ इन्हें (माध्वाचार्य को) दीं, जिन्हें इन्होंने सुब्रमण्यम, उदीपि तथा मध्यतल नामक स्थानों पर प्रतिष्ठित किया। समुद्रतल से निकाली गई कृष्णमूर्ति की स्थापना आचार्यचरण (माध्वाचार्य) ने उदीपि में की।[1] इस बात से ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु-भक्त होने के साथ ही माध्वाचार्य कृष्ण भक्त भी थे। जहाँ तक इनकी उपासना-पद्धति का प्रश्न है, वहाँ इनकी दृष्टि में, भगवान में प्रवेश कर, उन्हीं के शरीर से परमानंद प्राप्त करना ही सबसे बड़ा लक्ष्य है। इसे वे सायुज्य मोक्ष मानते हैं। इसका उल्लेख "भारतीय दर्शन" नामक ग्रंथ में किया गया है।

माध्वाचार्य के अनुसार उपासना दो प्रकार से की जा सकती है। इनमें से एक को शास्त्राभ्यास और दूसरे को ध्यान कहा जाता है। बहुत से साधक केवल निरन्तर शास्त्रानुशीलन द्वारा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ दूसरे भगवान की अखंड स्मृति में लीन रह कर मुक्त होते हैं। शास्त्र विचार के कारण अज्ञान एवं संशयादि का नाश हो जाता है और वस्तु तत्व का परिचय मिल जाता है। परन्तु ज्ञान परमात्माधीन है। अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर 'परम भक्ति' का प्रादुर्भाव होता है, जो स्वयं साध्यरूप है। यह एक प्रकार का प्रेम प्रवाह है, जो साक्षात्कार होने पर आपसे आप उत्पन्न हो जाता है और जो पूर्ण ज्ञानपूर्वक होने के कारण किसी भी प्रकार की बाधा के पड़ने पर रुक नहीं सकता।[3] इस प्रकार माध्वाचार्य जी की उपासना में शास्त्र विचार से तो अज्ञान एवं संशयादि का नाश होता है और अखंड स्मृति में लीन होकर इष्टदेव का सान्निध्य प्राप्त होता है। इसी सान्निध्य से ही इष्टस्वरूप का दर्शन होकर साधक हृदय में दास्यभाव से परम मधुर प्रेम का उदय हो[illegible] है। अपने इष्टदेव की महत्ता को जानकर सांसारिक सम्बन्धों की अपेक्षा उ[illegible]स्नेह को अधिक दृढ़ करते जाना ही भक्ति है। माध्वाचार्य

---

१ भा[illegible] सम्प्रदाय पृष्ठ २६२
२ भ[illegible] दर्शन, पृष्ठ ४८४
३ वैष्णव धर्म—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ८८-८९

जी का विश्वास है कि इस प्रकार की भक्ति से ही परमानंद प्राप्त होता है।[1] इष्टदेव के विष्णु स्वरूप को तो माध्वाचार्य जी ने अपनाया ही था, किन्तु कृष्ण-मूर्ति की उदीपि में प्रतिष्ठा उनके कृष्ण भक्त होने में संदेह नहीं रखती। अस्तु सोलह कलाओं वाले वृन्दावन बिहारी के इष्ट की आराधना के विशेष प्रसार के अभाव में वह रसमयता इनकी भक्ति पद्धति में नहीं आ सकी जितनी शताब्दियों के उपरान्त इन्हीं के संप्रदाय में दीक्षित श्री चैतन्यदेव के द्वारा श्रीकृष्ण को इष्ट बनाकर उत्पन्न हुई थी। निस्सन्देह चैतन्य के मधुर रस में सारा बंगाल तथा ब्रजमण्डल डूब सा गया था।

समस्त ब्रजमण्डल के मध्य में रुद्रसंप्रदाय भी अपनी एक विशेष महत्ता रखता है। इस संप्रदाय के आदि प्रवर्तक विष्णु स्वामी को माना जाता है। विष्णु स्वामी अपने भगवान के दर्शनों के हेतु निरंतर उत्कंठित रहते थे। वे चाहते थे कि उनका आराध्य देव उनके समक्ष प्रत्यक्ष रूप से आवे। अस्तु सात दिन के निरंतर ध्यान एवं उपासना के पश्चात् उन्हें शृंगार-शिरोमणि, किशोर वय वाले श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त हुए तथा भक्ति का उपदेश भी। विष्णु स्वामी के ईश्वर सच्चिदानंद स्वरूप हैं, वे अपनी ह्लादिनी, संवित के द्वारा आश्लिष्ट हैं तथा माया उनके अधीन रहती है।[2] इसी रूप की उपासना का संदेश विष्णु स्वामी ने अपने अनुयायियों को दिया और वे बालकोचित रूप में बालभाव से भगवान् श्री बालगोपाल की उपासना करने लगे।[3] इन्हीं भगवान ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर विष्णु स्वामी से कहा था कि हे सौम्य! भगवद्-गीता तथा श्री मद्भागवत—ये दो मेरे शास्त्र हैं। आत्मनिवेदन 'कृष्ण! तवास्मि' नामक पंच अक्षरों वाले मंत्र से किया जाता है। मेरा नाम ही मेरा मंत्र है। महराजोपचार विधि से सेवा करना ही कर्तव्य है। जो तुम्हारे सम्प्रदाय में दीक्षित होने के उपरान्त यशोदा, गोपी, उद्धव आदि की भाँति

---

१ माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सदृढ़ः सर्वतोधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥
—भक्तिअंक—कल्याण, पृष्ठ १८९ "श्रीमन्माध्वाचार्य और भक्ति"

२ भागवत् संप्रदा, पृष्ठ ३६८

३ सर्वेश्वरं भगवन्तं बालगोपाल स्वरूपंबालो बालवृत्या सिषेवे।
—भक्तिअंक कल्याण—(यदुनाथ-दिग्विजय) पृष्ठ १८०

मेरे अर्चा-विग्रह को भी मेरा प्रत्यक्ष रूप मानकर मेरी परिचर्या करेगा, उसकी सेवा को मैं सदा की भाँति स्वीकार करूँगा।[1] इस प्रकार के उपदेश ग्रहण के पश्चात् श्री विष्णु स्वामी ने सम्बंधरूपा, मधुरभाव तथा ज्ञानयुक्त भक्ति के अवलम्ब से श्रीकृष्ण की आराधना का संदेश अपने जनों को दिया था। किन्तु मधुर उपासना की विमल मन्दाकिनी में वेग आचार्य विल्वमंगल के समय से ही आया। आचार्य वल्लभ इन्हीं विष्णु स्वामी के मतानुयायी थे। 'सम्प्रदाय प्रदीप' में कहा गया है कि विल्वमंगल आचार्य ने स्वप्न में वल्लभाचार्य को विष्णु स्वामी की शरण में जाने का उपदेश दिया था, जबकि वे उपदेश की कामना से साशंक चित्त हो रहे थे।[2] अस्तु, भागवतादि से प्रभावित होते हुए आचार्य वल्लभ ने इसी संप्रदाय का अनुसरण कर अपने पुष्टि मार्ग का प्रसार किया था।

पूर्ववर्ती समस्त वैष्णव संप्रदायों में कृष्णभक्ति की रसमयी मधुर उपासना का सबसे प्राचीन प्रचारक निम्बार्क सम्प्रदाय है! निम्बार्क संप्रदाय के अतिरिक्त जितने भी वैष्णव सम्प्रदायों का उल्लेख ऊपर किया गया, उन सब में प्रारम्भ से कृष्ण की भक्ति का प्रसार होता दृष्टिगोचर नहीं होता। इनमें शताब्दियों के उपरान्त किसी न किसी महापुरुष के उत्पन्न हो जाने से ही कृष्ण भक्ति का रसमय स्रोत फूटता सा दिखलायी देता है। निम्बार्क संप्रदाय की प्राचीनता के सम्बंध में प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों में मतैक्य नहीं है, किन्तु यह बात सभी को मान्य है कि स्पष्ट रूप में श्रीकृष्ण की रसमयी साधना श्री निम्बार्काचार्य जी ने प्रचलित की। इस निम्बार्क सम्प्रदाय को सनक संप्रदाय के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है तथा ब्रह्मा जी के मानस-पुत्र सनकादि को इसका आचार्य माना जाता है।

निम्बार्क संप्रदाय के वैष्णवों के मध्य में श्रीकृष्ण को इष्टदेव के रूप में देखा गया है। उनका कथन है कि श्रीकृष्ण अपने भक्त जनों की अभिलाषा पूर्ण करने के हेतु ही मन मोहन रूप में सामने आते हैं, ब्रह्मा, शिव इत्यादि इन्हीं के चरण-कमल की निरंतर बन्दना करते हैं। अस्तु जीव की एकमात्र गति श्रीकृष्ण ही हैं। ये श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, कमल के समान नेत्र वाले वे प्रभु समस्त दोषों से बहुत दूर अगणित गुणों की राशि हैं। इन्हीं का ध्यान करना चाहिए, साथ ही उनके वामांग में निरंतर विराजने वाली अनुपम शोभा

१ 'संप्रदाय प्रदीप' का तृतीय प्रकरण देखना चाहिए।

२ 'संप्रदाय प्रदीप' पृ० १४, ३० ('भागवत् संप्रदाय' के पृ० ३६७ पर उद्धृत)

से युक्त तथा सहस्त्रों सखियों से सर्वदा सेवित राधा का ध्यान भी अनिवार्य रूप में करना चाहिये।[1]

निम्बार्क संप्रदाय के लोगों ने आह्लादिनी शक्ति स्वरूपा श्रीराधा के साथ ही श्रीकृष्ण को अपना उपास्य देवता स्वीकार किया है और श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा को भी उपासना के क्षेत्र में उतनी ही प्रधानता दी है। इस प्रकार की उपासना में निश्चित रूप से काम की निवृत्ति हो जाती है। श्रीकृष्णयुक्त राधा की उपासना के परिणाम स्वरूप स्त्रियों के प्रति होने वाला काम अदृश्य हो जाता है और साधक माधुर्य के क्षेत्र में शनैः-शनैः प्रवेश कर जाता है। अज्ञान के गहन-अंधकार के विनाश के हेतु निरंतर युगल स्वरूप की उपासना अपेक्षित है—सनकादि मुनीश्वरों ने समस्त तत्वों के मर्मज्ञ श्री नारद जी को यही बतलाया था।[2] श्री नारद जी से उपदेश प्राप्त करने के पश्चात् श्री निम्बार्क ने इस स्वरूप की उपासना का संदेश दिया और राधा-कृष्ण को प्रधानता प्रदान की।[3] सिद्धान्त की दृष्टि से तो श्रीराधा-माधव, उनकी

---

१ स्वभावतोऽपास्त समस्तदोष-
मशेष कल्याण गुणैक राशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं-
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥४॥
अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा,
विराजमाना मनुरूपसौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम् ॥५॥
—वेदान्त कामधेनु, दशश्लो०

२ उपासनीयं नितरां जनैः सदा,
प्रहाणयेऽज्ञानतमो ऽनुवृतेः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं,
श्रीनारदायाखिलतत्वसाक्षिणे ॥
– वेदान्तरत्न मंजूषा, द्वितीय कोष्ठ, श्लो० ६

3 "Nimbark gives almost an exclusive prominence to Krishna and his mistress, Radha, attended on by thousands of her female companions.
—Collected work of R. G. Bhandarkar vol. IV
The Nimbark system—page 93

केलि-क्रीड़ा और विलास-स्थल तथा वृन्दावन आदि सभी नित्य, शाश्वत और एक-रस हैं। युगल का केलि-विलास श्री वृन्दावन धाम में अनादिकाल से अनवरत रूप में चलता आया है और अनन्त काल तक चलता रहेगा, किन्तु लोक में इस पावन मधुर रस का प्रसार करने का श्रेय सबसे पहले श्री निम्बार्क भगवान को ही है। जैसे विष्णुपदी गंगा की स्थिति तो बहुत पहले से ही थी, किन्तु इस धरा-धाम पर उसे अवतीर्ण करने का सौभाग्य भगीरथ को ही प्रदान किया जाता है, उसी प्रकार माधुर्योपासना की परम-पवित्र सुर-सरिता में संसार को अवगाहन कराने वाले आद्याचार्य श्री निम्बार्क भगवान ही हैं।[1]

निम्बार्कीय उपासना के क्षेत्र में बिना श्रीराधिका जी के कोई भी उपासक श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त करना तो दूर रहा, सान्निध्य भी प्राप्त नहीं कर सकता, इसीलिये ही श्री निम्बार्काचार्य जी ने कहा था कि अन्य लोगों से आराधना करने में कठिन परम प्रेम-प्रवाह से श्रीकृष्ण की आराधना करके उन्हें वशीभूत कर लेने से राधा नाम को प्राप्त करने वाली, राधे! अपने नाम के कीर्तन से समक्ष विद्यमान कृष्ण रूप हरि में मुझ प्रपन्न को प्रेम प्रदान करो।[2] हे राधे! तुमने पतंग की भाँति अपने पीछे दौड़ाते हुये मुकुन्द को प्रेम रूपी डोरे से बाँध लिया है। वे कृष्ण तुम्हारे साथ क्रीड़ा करते हुये प्रेम का अनुसरण कर विद्यमान रहते हैं, अतः मेरे ऊपर उनकी कृपा कराओ।[3] इस प्रकार मुकुन्द के अनुराग से रोमांचित अंग वाली, शरीर में स्वेदबिन्दु से

---

१ सर्वेश्वर—वृन्दावनांक, पृष्ठ १०९ से उद्धृत्।

२ दुराराध्यमाराध्य कृष्णं वशे तं,
महाप्रेमपूरेण राधाऽभिधाऽभूः।
स्वयं नाम कीर्त्या हरौ प्रेम यच्छ,
प्रपन्नाय मे कृष्णरूपे समक्षम् ॥३॥
—श्री निम्बार्ककृत-राधाष्टक स्तोत्रम्।

३ मुकुन्दस्त्वया प्रेमडोरेण बद्धः।
पतंगो यथा त्वामनुभ्राम्यमाणः।
उपक्रीडयन् हार्दमेवानुगच्छन्,
कृपा वर्तते कारयातो मयीष्टिम् ॥४॥
—राधाष्टक

युक्त, परम प्रेम की वर्षा करनेवाली तथा कृपा-कटाक्ष से देखने वाली राधिका की उपासना के बिना कृष्ण के प्रति मधुर रस की साधना नितांत असंभव है। श्रीमग्निम्बार्काचार्य जी ने अपने राधाष्टक स्तोत्र के अन्तिम श्लोक में इस बात की चर्चा की है कि दामोदर की परमप्रिया राधिका के उस अष्टक के सहारे ही उपासना के क्षेत्र में उपासक युगल सेवा में तत्पर होकर सखी-भाव से उन दोनों के आनन्द का रसास्वाद कर निवास कर सकता है।[1] वृषभानु पुत्री राधिका जी के परम प्रियतम, शयन से उठे हुये युगलरूप (राधा कृष्ण दोनों) सर्वेश्वर, सुखकारी, रसिकेश्वरेश्वर, परस्पर केलि रस के चिन्हों से युक्त दृष्टिवाली सखियों से घिरे हुये, सुरत काम से शोभायमान, सुरत-सार, समुद्र के चिन्हों को अपने कपोल तथा नेत्रों से धारण करने वाले, रति आदि समस्त प्रकार के आनंद को देने वाले, काम से युक्त, पुण्यपुंज, युगल स्वरूप (राधाकृष्ण) की ही उपासना श्री निम्बार्काचार्य जी करते हैं।[2] इस प्रकार की प्रत्यक्ष रसोपासना का स्पष्ट संदेश पूर्ववर्ती वैष्णव सम्प्रदायों में सनक संप्रदाय (निम्बार्क संप्रदाय) को छोड़कर और किसी ने नहीं दिया। इस मधुर उपासना का पूरा-पूरा प्रभाव परवर्ती वैष्णवाचार्यों पर पड़ा, फलतः

---

१ इदं त्वष्टकं राधिकाया: प्रियाया:,
पठेयु: सदैवं हि दामोदरस्य।
सुतिष्ठन्ति वृन्दावने कृष्णधाम्नि,
सखीमूर्तयो युग्मसेवानुकूला: ॥९॥
—वही, राधाष्टक.

२ प्रातर्भजामि शयनोत्थित युग्मरूपं,
सर्वेश्वरं सुखकरं रसिकेशभूपम्।
अन्योन्य केलि रस चिह्नसखीदृगौघ,
सख्यावृतं सुरतकाम मनोहरं च ॥३॥
प्रातर्भजे सुरतसार पयोधिचिह्नं,
गण्डस्थलेन नयनेन च सन्दधानौ।
रत्याद्यशेषशुभदौ समुपेत कामौ,
श्रीराधिकावर पुरन्दर पुण्य पुंजौ ॥४॥
—श्री निम्बार्काचार्य पीठ-स्थान (सलेमाबाद), किशनगढ़,
राजस्थान से प्राप्त।
—श्री निम्बार्ककृत प्रातः स्म० स्तो०

वल्लभ, चैतन्य, राधा वल्लभ तथा हरिदासी संप्रदाय की रसमयी मन्दाकिनी व्रज में प्रवाहित हो चली।

परवर्ती वैष्णव संप्रदायों में माधुर्य—

राधा कृष्ण की इस रसमयी भक्ति ने लोगों के हृदय को द्रवित कर, प्रम रस में डुबो दिया। साधक को इस प्रेममयी साधना की चरम सीमा (माधुर्यभाव) में पहुँचने पर, उस प्रेम के देवता की प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है और तब वह संसार के समस्त दुःखों से छूट जाता है।[१] इस बात को ध्यान में रखते हुए आचार्य वल्लभ ने भी श्रीराधा-कृष्ण को अपना इष्टदेवता माना था। जिस पुष्टि भक्ति की प्रधानता आचार्य वल्लभ के सम्प्रदाय में है, उसके अवलम्ब से जीव को परमात्मा के साथ वार्तालाप, गायन तथा रमणादि करने की योग्यता मिल जाती है तथा अमानवीय शक्ति उसमें स्फुरित हो उठती है। यह शुद्ध पुष्टि भक्ति गोपांगनाओं को ही प्राप्त थी, अन्य को नहीं। यह बात प्रायः सभी वल्लभ संप्रदायी मानते हैं। यमुना की उपवन श्रेणियों में विहार करने वाले, व्रजनागर, गोपांगनाओं में आसक्त रहने वाले, वृन्दावन के इन्द्र, ग्वालिनियों के प्राणनायक, कामशेषर यमुना के नाविक, गोपी रूपी समुद्र में विहार करने वाले, राधा के अवरोध करने में रत, व्रजस्त्रियों के निरन्तर प्रिय, गोपियों के नेत्रों के तारे, जीवन के आनन्द के रसिक, अलक्षित कुंज-कुटीर में रहने वाले, राधा के सर्वस्व-संपुट, अत्यन्त गूढ़ रस के पंडित, गोपियों के चित्त को आनंदित करने में चन्द्रमा के तुल्य, क्रीड़ा तांडव के पंडित, कंदर्प कोटि लावण्य, नवीन मधुर स्नेह वाले, राधिका-रतिलम्पट तथा रास के उल्लास में मदोन्मत्त श्रीकृष्ण इनके इष्टदेव हैं।[२] किन्तु अकेले नहीं, साथ में राधा भी हों तब ! निम्बार्क संप्रदाय की भाँति ही वल्लभाचार्य जी ने राधा को

---

1 "Devotion to Radha-Krishna melts the heart and deepens into flaming love. Then the Lord of love reveals his blissful nature to him and frees him from the sorrows of Samsara".

—The Philosophy of Bhadabheda
By:—P. N. Sirivasachari. Page 161

२ विशेष जानकारी के लिए श्री वल्लभाचार्य का श्रीकृष्णप्रेमामृतम् नामक ग्रंथ देखना चाहिये।

अपनी सांप्रदायिक उपासना के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रधानता दी है और राधा के साथ ही कृष्ण को अपना इष्टदेवता माना है अकेले कृष्ण को नहीं, इसमें भी राधा-कृष्ण, युगल की एकांत-झाँकी ही वल्लभाचार्य जी को परम प्रिय थी। कालिंदी के तट पर विचरण करने वाली, नवीन, मनोहर, उरोज-युगल वाली गोपकन्या राधा को एकांत में देखकर हठात् उस मृगाक्षी के सुदृढ़ नीवी-ग्रन्थि को शिथिल करने वाले श्री के नायक में ही वल्लभाचार्य निरंतर रति की कामना करते हैं।[१]

अपने इन रसस्वरूप आराध्यदेव राधा-कृष्ण की जिस उपासना का प्रसार आचार्य वल्लभ ने किया, वह भगवान निम्बार्काचार्य के प्रभाव से किसी प्रकार अछूती नहीं थी। इस उपासना-पद्धति में भी साधक को राधिका की षोडशवर्षीय सहचरी के रूप में निज को देखना पड़ता है, अन्यथा युगल मूर्ति का दर्शन भी असंभव है। आचार्य वल्लभ की शुद्ध पुष्टि ही मधुर साधना का प्रतीक है। इस शुद्ध पुष्टिभक्ति में तीन अवस्थाएँ हैं—स्नेह, आसक्ति तथा व्यसन। व्यसन की स्थिति में जब साधक पहुँच जाता है, तो उसकी दशा मदिरा के नशे में चूर व्यक्ति की सी हो जाती है। वह अपने आप को भी भूल जाता है और अपने ही आनंद में तन्मय हो जाता है। इस पुष्टिभक्ति में उपासक को प्रत्येक दिशा से अपने उपास्यदेव रसस्वरूप ही जान पड़ते हैं, किन्तु यह विषय इन्द्रियों से परे है। इसे तो अन्त.साधना के बल से ही जाना जा सकता है और यह रसस्वरूप उपास्यदेव मधुररसमय साधना से ही प्रकट होता है।

पुष्टि भक्ति की इस मधुरमयी स्थिति तक पहुँचना भावना से ही संभव होता है। भावना के अभाव से प्रभु का स्मरण हो नहीं सकता। जिस प्रकार एक योगी अपने चित्त की वृत्तियों का निरोध कर देता है, उसी प्रकार यहाँ भक्त को अपने भगवान में समस्त इन्द्रियों तथा चित्त को लगाना होता है। यह भावना श्री हरिराय जी के अनुसार तीन प्रकार की विख्यात है—

१—स्वरूप भावना,

२—लीला भावना,

३—भाव भावना।

स्वरूप भावना के द्वारा भगवान का हृदय में प्रत्यक्ष अथवा नाद के

---

१ श्रीमद्‌वल्लभाचार्य के परि वाढष्टकका प्रथम श्लो० देखिये।

द्वारा प्रवेश होता है। लीला भावना से भक्त भगवान् के लीलामय रूप को प्राप्त कर लेता है और भावभावना से तो अन्तःकरण भगवत-काम से युक्त हो जाता है। इस दशा में भक्त के सारे व्यापार अपने आराध्यदेव के प्रति ही होते हैं, उसे देह की सुधि तक नहीं रहती तथा लौकिकता का पूर्ण-रूप से विनाश हो जाता है।

संसार में स्थित अगणित विषयों में 'काम' का प्राबल्य सर्वविदित है। ऐसा कोई जीवधारी न होगा, जो इसके प्रभाव से बचा हो। 'गोपियाँ' यह बात जानती थीं, इसीलिये उन्होंने निष्काम कृष्ण की उपासना कर अपने लौकिक काम का ध्वंस कर डाला था। गोपियों की उपासना अलौकिक थी—वल्लभाचार्य ने इसी साधना की ओर साधकों का ध्यान बार-बार आकृष्ट किया था। सत्य है कि यदि गोपियों का काम लौकिक होता, तो उसके पूर्ण होने पर सृष्टि उत्पन्न होती। किन्तु ऐसा न होकर उस कामनापूर्ण भक्ति से वे सब सांसारिक बन्धनों से छूट गई थीं। श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भागवत की सुबोधिनी टीका के रास प्रकरण में इसे स्वयं कहा है।[1] इसी अलौकिक कामनापूर्ण रसमयी साधना से आचार्य वल्लभ ने प्रकाशमान कृष्ण के प्रेमामृत रूपी सर्वोत्कृष्ट रस से परिपूर्ण समुद्र में अवगाहन किया था। वल्लभाचार्य के पश्चात् आचार्य विट्ठलेश्वर ने इस रसमयी साधना को अधिक विकास प्रदान किया। उन्होंने तो स्पष्ट रूप से अपने इष्टदेव श्याम सुन्दर से कहा—हे श्याम-सुन्दर! शिखण्डशेषर! प्रकाशमान मुस्कान वाले! राधिका रसिक! कृपानिधे! मुझे आप अपनी प्रिया (राधा) की चरण-किंकरी बनाओ। हे विभो! हे व्रज-महेन्द्रनंदन! हे मोहन अपने दाँतों के नीचे तिनका दबाकर मैं प्रार्थना करता हूँ कि जन्म जन्म में तुम्हारी परम प्रिया राधा ही मेरी स्वामिनी हों।[2]

---

१ क्रिया सर्वापि सैवस्त्र परं कामो न विद्यते।
तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामाति तास्तथा॥
कामेन पूरितः कामः निष्कामः संसारं जनयेत्स्फुटम्।
कामभावेन् पूर्णास्तु निष्कामः स्यात् न संशय॥
—भा० की सु० टी० रासप्रकरण

२ श्याम सुन्दर शिखण्डशेषर स्मेरहास्य मुरली मनोहर,
राधिका रसिक मां कृपानिधे स्वप्नि या चरण किंकरी कुरु॥२॥
संविधाय दशने तृणं विभो प्रार्थये व्रजमहेन्द्रनंदन।

इस संप्रदाय की यह मान्यता है कि बिना राधा की उपासना के माधुर्य भक्ति परिपक्व नहीं होती। श्री विट्ठलेश्वर निरंतर यही कामना करते हैं कि प्रियतम के नेत्र के संगम से उत्पन्न, राधे के हासयुक्त नेत्रजल से ही उनका स्नान होवे, अन्य जल से नहीं। राधे के ताम्बूल चर्वण से ही वे अपनी क्षुधा-शांति की अभिलाषा करते हैं। उनका यह विश्वास है कि भगवान की आह्लादिनी शक्ति के मुस्कानयुक्त अवलोकन रूपी अमृत से ही उनकी पिपासा शान्त होगी। इसी प्रकार श्रीविट्ठलेश्वर की दृष्टि में राधा के चरणों के प्रति प्रणति ही उनका त्रिकाल स्नान, उनके प्रति अत्यंत दीन भाव उनकी सन्ध्या और स्वामिनी जी के प्रति उनका विरह ताप-दुख ही उनका जाप है। श्री राधा के प्रति श्री विट्ठलेश्वर का जो गूढ़ ध्यान है, वही उनका स्मरण है।

अखिल निगमों के निगूढ़ रहस्य श्रीराधा रूपी धन, को इस संप्रदाय के मधुर रस की भक्ति का साधक निरंतर स्मरण करता रहता है। उसके हृदय में यमुना के पुलिन की ओर सायंकालोपरांत शनैः शनैः मधुर गति से गमन करती हुई राधा के सुन्दर युगल चरण सर्वदा निवास करते हैं और तभी अमंद प्रेम में सराबोर, किसलय से निर्मित केलिशय्या से प्रातः काल उठकर, कमल के समान अत्यंत लाल कपोलवाली तथा सुमनोहर राधा अपने घर को जाती हुई, घनीभूत मुख—कमल पर विराजित रस को अपने उस भक्त को प्रदान भी करती है। जब साधक उस मधुररस में सराबोर होकर अपनी स्वामिनी श्रीराधा से चरणदास्य माँगता है, तो प्रियतम के द्वारा आँखों से संकेतित नवनिकुंजों में, नाना प्रकार के पुष्पों से अतिशय रुचिर केलि-शय्या बनाकर गुंजायमान भ्रमरों से युक्त, मंद वायु से सेवित तथा दिन में भी क्रीड़ा करने वाली राधा उसे अपना चरणदास्य प्रदान करती हैं।

इस संप्रदाय में भी रसिकभक्त राधा की उपासना इसीलिए करता है कि उसे श्रीकृष्ण के सान्निध्य का सुख मिले। वह कहता है कि हे राधे! जब एकांत में यदुपति से तुम्हारा मिलन हो, तो तत्क्षण ही मुझे बुलाया जाय तथा प्रसन्नता से चन्द्रावली के कथन पर तुम्हारे चरणों में मैं लग जाऊँ। हे शशिमुखी! मैं तभी अपने को कृतार्थ समझूँगी (यहाँ साधक अपने आप

अस्तु मोहन तवातिवल्लभा जन्म जन्मनि मदीश्वरी प्रिया ।।४।।
—राधा प्रार्थना चतुः श्लोकी श्लो० २, ४

को राधा की सेवा करने वाली सखियों में से ही एक---किशोरावस्था की तरुणी के रूप में समझता है) जब युगल क्रीड़ा को सम्पन्न करने के बाद मुझे भेजने (राधा के पहुँचाने में) की क्रिया में भी स्मरण करें।

यहाँ साधक यह भी कामना करता है कि हे स्वामिनी, कभी दिन में यमुना में चंचल कटाक्षों से मनोहर आप, गले-पर्यन्त पैठकर स्नान करने के उपरांत अपने भीगे हुए वस्त्रों को धोने के हेतु स्मरण करेंगी। हे राधे ! अनेक प्रकार की रति के श्रम से उत्पन्न जलकण से आकुल कपोल वाले हरि को देखकर यदि क्षण भर के लिए भी व्यजन-सेवा के हेतु मुझे स्मरण करें तो मैं अपने को धन्य समझूँगी। इस प्रकार मधुर भक्ति के प्रवाह में बहते हुए साधक पुनः कहता है कि हे स्वामिनी, दिन में स्नान करने के बहाने यमुना तट पर जाने के लिये प्राणेश के योग्य अनेक प्रकार की वस्तुओं को गुप्त रूप से लेकर अपने पहिनने योग्य वस्त्रों को सँभालने के लिए यदि आप मुझे स्मरण करें तो मैं कृतार्थ होऊँगी। और अपने प्राणेश के द्वारा कुतूहलवश हस्त खींचने से यथा-स्थान फट जाने वाली अपनी अति प्रिय चोली (कंचुकी) को देने के लिए आप मुझे यदि एक बार भी प्रेम से स्मरण करें, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ। मधुर रस के उपासक को इस उपर्युक्त भाव के अभाव में किशोरी भाव दुर्लभ होता है और किशोरी भाव के अभाव में श्रीकृष्ण (जो राधा के परम प्रियतम हैं) का स्वप्न दर्शन भी असंभव है। किशोरी के रूप में राधा किशोरी से ही अधिक प्रेम रखने वाला साधक कृष्ण के मधुर रस का आस्वादक बन सकता है अन्यथा नहीं। यहाँ पर साधक को किशोरी रूप की भावना करते हुए ही निरंतर यह अभिलाषा रखनी चाहिए कि कब श्रीराधे सुन्दर प्रसूनों की बनी हुई शय्या पर विराजमान होंगी, उनके प्रियतम उन्हें अपने मुख के चर्वित ताम्बूल को उन्हें देने के लिए प्रस्तुत होंगे और तब उस समय वे अपने मुखगत ताम्बूल को देने के लिए उसे (साधक को) स्मरण करेंगी। जब रस में सराबोर साधक को इतने से भी संतोष नहीं होता, तब वह कहता है कि केलि से उत्पन्न श्रम के जल-बिन्दुओं से व्याप्त मुख-कमल की शोभा वाली तथा खोये हुये चित्र वाली राधे, आप निकुंज की पुष्प निर्मित शय्या से उठकर आती हुई अपनी स्वाभाविक कृपा-पूर्वक केलि में दलित माला को देने के लिए यदि आप तत्पर होंगी, तो उससे बढ़कर और मेरा सौभाग्य क्या है ? और हे स्वामिनी ! ऐसा कब होगा, जब रात्रि में निकुंज गृह में प्रियतम के साथ सुकोमल शय्या पर प्रियतम के द्वारा

विराजमान आप के चरण-कमल को मैं अपने केश-समूह से प्रसन्नतापूर्वक पोंछूँगी।[1]

विक्रम की १६वीं शताब्दि में अपनी मधुर भक्ति का प्रसार करने वाले स्वामी हितहरिवंश, स्वामी वल्लभाचार्य तथा महाप्रभु चैतन्यदेव की भाँति ही प्रसिद्ध हुये। जिस माधुर्यमयी उपासना के अवलम्ब से उन्होंने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को प्रसन्न किया था, वह उनकी दृष्टि में वेदों का सार स्वरूप थी। उन्होंने एक नूतन संप्रदाय को जन्म दिया और उसे राधावल्लभ संप्रदाय के नाम से विख्यात किया। इस संप्रदाय के प्रवर्तक का विश्वास है कि बिना राधा-माधव के भक्त जनों की कृपा के जीवनोद्धार असंभव है। इतना ही नहीं वरन् इष्टदेव के प्रति प्रेम भी उन्हीं की कृपा से मिलता है। जिस मधुर तत्व का प्रकाश स्वामी हितहरिवंश ने किया उसमें प्रतिक्षण परिवर्द्धन होता रहता है। इस नित्य नूतन प्रेम तत्व की व्याख्या करने के हेतु ही हितहरिवंश जी ने राधा-कृष्ण की नित्य विहार लीला का वर्णन किया है। कृष्ण के प्रेम की एकमात्र अधिकारिणी राधा की अनुकम्पा के बिना साधक उपासना की किसी भी भूमि पर नहीं पहुँच सकता। अस्तु सर्वप्रथम वह यह कामना करता है कि स्वर्ग-नरक जहाँ भी वह जन्म ले, वहाँ भी उसके हृदय में निरन्तर प्रिया-प्रियतम, सहचरि तथा वृन्दावन का ध्यान बना रहे। इस ध्यान से ही उपासना करने वाले की निष्ठा दृढ़ होती है। इस निष्ठा के साथ वह परम चतुर किशोरी के रूप में भावना करता है और प्रेम की देवी राधा की परिचर्या करते हुए उनके सामीप्य की कामना करता है। जब उपासना करने वाला श्रीराधा के रसयुक्त नैकट्य को प्राप्त कर लेता है और राधा जी का विश्वासपात्र बन जाता है, तभी वे अपनी उस सहचरि रूप भक्त को कृपापूर्वक आलिंगन देती हैं और उसके हित (प्रेम) के लिए सब कुछ करने को तत्पर हो जाती हैं।

मधुर उपासना करने वाले भक्त सर्वप्रथम राधा के चरणों में अनुराग करते हुये, उनके उस अद्भुत रूप की झाँकी की कामना करते हैं, जिसमें प्रेम, रस, सौन्दर्य, लावण्य और केलि की मधुरिमा विद्यमान है। राधा के प्रति साधक में इस प्रकार के अनुराग से कृष्ण प्रसन्न होते हैं और बदले में कृपापूर्वक अपनी प्रियतमा का प्रिय जान कर उसे आलिंगन, चुम्बन, वनमाला

---

१ श्री विट्ठलेश्वर कृत स्वामिनी स्तोत्र के आधार पर

तथा अपना चर्बित ताम्बूल तक प्रदान कर देते हैं। अस्तु, साधक यहाँ राधा को ही अपनी गति मान कर चलते है।

इस संप्रदाय में मधुररस का आस्वादन करने के लिए सखी भाव को प्रधान माना गया है, सतत् साधना करने वाला भक्त राधा की कृपा होने पर ही सखी-भाव को प्राप्त करता है।

इस माधुर्य रस का आस्वाद करने के हेतु स्वयं कृष्ण राधा से उनकी सखी बनने की प्रार्थना करते हैं। श्रीराधा की जिस रूप-माधुरी का पान कवि भक्तगण करते हैं वह अंगों में मृदुलता, मुस्कान में माधुर्य, नेत्रों में दीर्घता, उरोजों मे पीनता, नितम्ब देश में स्थूलता, कटि में क्षीणता, भ्रूलता में कुटिलता और अधर में रक्तिमा को निरंतर धारण किये रहती है। ऐसी सौन्दर्य-माधुर्य का भण्डार राधा के चन्द्र-मुख की सुधा को कृष्ण चकोर की भाँति पीते हैं तथा उनके कमल सदृश चरणों पर भ्रमर की भाँति मँडराते हैं। जिस प्रकार कृष्ण उनकी इस रूप-छटा को निरंतर देखने के हेतु लालायित रहते हैं, उसी प्रकार उनके भक्त भी अपने काव्य रूपी दर्पण में उसे निरंतर देखते हैं।

इस संप्रदाय के भक्त कवियों ने अन्य मधुर रस के उपासकों की भांति ही भगवान कृष्ण तथा भगवती राधा के एकांत कुंजविहार का भी वैसा ही वर्णन प्रस्तुत किया है, जैसा कि प्रकट सौन्दर्य का। इस वर्णन में भक्त की अंतरंग सेवा की भावना छिपी होती है। वर्णन के इस सुख में वह परम संतोष पाता है। इसके अतिरिक्त उसे मुक्ति भी प्यारी नहीं होती, संसार के ऐश्वर्य की तो बात ही क्या है ? राधावल्लभ संप्रदाय के संस्थापक ने 'राधा सुधानिधि' नामक ग्रंथ में इसी लिये बार-बार उस अन्तरंग सेवा की अभिलाषा प्रकट की है, जिससे वह राधा-कृष्ण की मधुर केलि-रस मंदाकिनी में अवगाहन कर अमृतपान कर सके। गोस्वामी हितहरिवंश इसी दृष्टि से कभी तो रतिश्रम से थके हुये राधा-माधव के ऊपर पंखा करने की कामना करते हैं, कभी राधा के सीत्कार-श्रवण को चाहते हैं, कभी राधा के मस्तक पर कस्तूरी के द्वारा तिलक लगाने की प्रार्थना करते हैं, कभी केश-पाश को बाँधने की इच्छा करते हैं, कभी रतिरण से टूटी हुई माला को पिरोने की बात कहने लगते हैं और कभी पुनः उनके नेत्रों में अंजन लगाने की अभिलाषा करते हैं। इस प्रकार वे प्रतिक्षण नूतन रहने वाले मधुर रस के आनन्द की कामना करते हैं। राधा की भक्ति में तो यह भक्त इतना तन्मय है कि यदि राधा कृपा करके मधुर

रसास्वाद के हेतु उसे अपने प्रियतम (कृष्ण) को भी सौंप दें, तो भी वह अपनी स्वामिनी श्रीराधाजी का विस्मरण नहीं करेगा। उस समय कृष्ण के साथ आलिंगित होने पर भी राधा के ही रसयुक्त चरण-कमल के रस का अनुभव करेगा। यथा—

यदि स्नेहाद्राधे दिशसि रति लाम्पट्य पदवीं,
गतं ते स्वप्रेष्ठं तदपि मम निष्ठं श्रृणु यथा।
कटाक्षैरालोके स्मित सहचरेर्जात पुलकं—
समाश्लिष्याम्युच्चैरथच रसये त्वत्पदरसम् ॥

—**राधा सुधानिधि, श्लो० ८७**

परम पावन प्रेम-लीला की एकमात्र उत्पत्ति-स्थान श्रीराधा में भक्त-जनों की निरन्तर ऐसी ही प्रीति होती है। सहचरि भाव की प्रधानता होने के कारण ही उपासक निरन्तर युगल-केलि-दर्शन करने की कामना व्यक्त करता है। यहाँ सहचरि को स्वयं रति की कामना उत्पन्न नही होती वरन् राधा-माधव की रति-केलि-दर्शन की भावना ही होती है।

राधावल्लभ संप्रदाय में राधा-कृष्ण को नित्य माना गया है। यहाँ व्रज भी नित्य है, सहचरि भी नित्य है, आनंद भी नित्य है, विहार भी नित्य है और श्रृंगार भी नित्य है। इस नित्य विहार को सहचरिभाव का साधक देखकर तथा कुंजविहारी की सेवा में प्रस्तुत रह कर अपने को धन्य मानता है। यथा—,

नित्य किशोरी, नित्य किशोर,
नित वृन्दाबन नित निशि भोर।
नित्य सहचरी नित्य विनोद,
नित आनंद बरसत चहुँ ओर।
नित्य विहार नितहिं सिंगार,
पल-पल पावत सुख कौ सार।
नित्य सखिन कै यही अहार,
नित्य सुरत रत करत विहार ॥

—**ध्रुवदास, बयालीस लीला**''''

इस नित्य विहार के उपासक को निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं:—

१—सबसे प्रेम करना,

२—निष्काम होना
३—वृन्दावन में निवास करना,
४—राधा-माधव का निरंतर ध्यान करना तथा मुख से नाम-कीर्तन, गुणगान,
५—रसिकों का सत्संग करना,
६—मन को युगल प्रेम में सराबोर रखना,
७—निरन्तर श्रीकृष्ण राधिका की झाँकी देखने की कामना करना।
८—श्रवण पुटों से राधा-माधव-यशगान सुनना,
९—सखीभाव की भावना करना,
१०—निरंतर अपने आराध्य श्याम-श्यामा के विहार-सुख के साधन जुटाना आदि।

उपर्युक्त बातों का सतत् पालन करते हुये रसोपासक किसी न किसी दिन साधना की उस भूमि पर पहुँच जाता है, जहाँ सब कुछ श्याम-श्यामा मय है। इस रस समुद्र का रस सर्वोपरि है, इसी का सेवन ललिता आदिक सखियाँ सर्वदा करती रहती हैं।[1] लौकिक अभिलाषाओं को यहाँ साधना करने वाले को समाप्त कर देना पड़ता है, तभी उसके हृदय में वैराग्य की भावना उमड़ती है, इसी वैराग्य भावना से प्रेम का अंकुर प्रियतम की समीपता पाने के लिये हृदय में उत्पन्न होता है और तब रसासक्ति! इसी रसासक्ति के वशीभूत हैं श्याम-श्यामा। इस रस की धारा प्रवाहित होते ही इतनी वेगवती हो जाती है कि किसी के संभाले नहीं संभलती। राधा-माधव इसमें अपने को भूल जाते हैं। भगवान शंकर ने जिस प्रकार गंगा के तीव्र प्रवाह को रोक कर अपनी जटा में उन्हें बाँध लिया था, उसी प्रकार नित्य सहचरियाँ श्यामा-श्याम के इस मधुर प्रेम रस के प्रवाह को अपनी आँखों में धारण किये रहती हैं। भगीरथ-साधना की भाँति ही मधुर रस का प्रेमी साधना करके रस की एक बूंद उन सहचरियों से प्रसाद रूप में पाता है और फिर इसी रस के सहारे सहचरी-भावना का हृदय में अनुभव करते हुये इष्टदेव के नित्य विहार सुख का पान करता है। जिस प्रकार राधिका जी इस नित्य विहार के सुख के वश में रहती हैं, उसी प्रकार श्याम सुन्दर भी! समस्त विधिनिषेध

---

१ सर्वोपरि है मधुर रस जुगल किशोर विलास,
ललितादिक सेवत तिनहिं मिटत न कबहुँ हुलास।
—ध्रुवदास कृत भजनाष्टक

वहाँ मर्यादाहीन हो जाते हैं और श्याम-श्यामा इच्छानुकूल परस्पर रति लीला में आनन्द-विभोर हो जाते हैं। यहाँ कलायें भी श्यामा-श्याम की कला को देखकर लज्जा का अनुभव करती हैं।[1] कलायें ही नहीं, जब कोमल पुष्पों से युक्त लताओं के मध्य में राधा-माधव रति केल में मग्न हो जाते हैं, तब वहाँ की वल्लरियाँ संकुचित होकर उस रति-रस से विवश हो जाती है।[2] वृन्दावन के मध्य में इस रस का समुद्र विद्यमान है, उसमें निरंतर आनन्द-लहरें उठती रहती हैं। काम के देवता स्वयं अपने समस्त दलबल के साथ इसी वृन्दावन के कुंज-महल को दिन-रात बनाते रहते हैं।[3] इस कुंज में प्यारे जो-जो चाहते हैं, वही-वही राधा करती है और राधा जो-जो चाहती हैं, कृष्ण भी वही करते हैं। राधा अपने प्रियतम के नेत्रों में बस जाना चाहती हैं और प्रियतम अपनी प्यारी की आँखों के तारे! प्रियतम उन्हें प्राणों से प्यारे हैं और प्रियतम को वे। इस प्रकार जैसे जल से तरंग मिली रहती है, उसी प्रकार राधा-कृष्ण एक हैं, उन्हें कोई अलग नहीं कर सकता।[4] इस प्रकार नेत्र से

---

१ नवल-नवल सुख चैन ऐन आपने आपुवस।
निगम लोक मर्य्याद भंजि क्रीडंत रंग रस।
सुरत प्रसंग निशंक करत जोइ-जोइ भावत मन।
ललित अंग वलि भंग भाइ लज्जित सुकोक गन॥
अद्भुत विहार हरिवंशहित निरखि दासि सेवक जियत।
विस्तरत, सुनत, गावत रसिक सु नित-नित लीला रस पियत॥
—सेवक वाणी, रस रीति प्रकरण, ७

२ कोमल फूली लतनि में करत केलि रस माहिं,
तहं तहं को बल्ली सबै सकुचि विवस ह्वैजाहिं।
—ध्रुवदास कृत रंग विनोद

३ अति कमनीय विराजत मंदिर नवल निकुंज,
सेवत सगन प्रीति जुत दिन मीनध्वज पुंज॥५७॥
—हित चौरासी, पृष्ठ ४६

४ जोई-जोई प्यारी करे सोई मोहि भावे,
भावे मोहि जोई सोई-सोई करैं प्यारे।
मोकों तो भावती ठौर प्यारे के नैननि में,
प्यारो भयो चाहै मेरे नैननि के तारे॥१॥

नेत्र, हृदय से हृदय, मुख से मुख मिलाये श्रीराधा-माधव रूप के समुद्र में मधुर रस का पान करते हुये संध्या-सवेरे का ध्यान भूल जाते हैं। रात भर जागकर भी वे रस विहार में कभी तृप्त नहीं होते। इस मधुर रस की कोई उपमा नहीं प्राप्त होती। इसी रस की प्राप्ति के हेतु कुंजविहारी सतत् राधा को अपने समक्ष देखना चाहते हैं। राधा उनके इस भाव को जानती हैं, अस्तु, वे स्वतः क्षण मात्र के लिये भी प्रियतम की ओट नहीं होतीं और उन्हीं के प्रेम-रंग में सर्वदा रँगी रहती हैं। परम चतुरा उन राधा के हाव-भाव प्रतिक्षण उनकी शोभा को परिवर्तित करते रहते हैं। इन्हीं राधा के रूप के वन में कृष्ण के नेत्र सदा लगे रह कर रस-लीन रहते हैं।[1] इसी रसामृतसार का वर्णन स्वामी हितहरिवंश ने किया है, जिससे राधा के कोमल चरण-कमलों में उनकी प्रीति बढ़े और रसिकों की भी। यथार्थ में रसिक वही है, जिसके हृदय में प्रतिक्षण राधा-माधव के प्रति प्रेम बढ़ता रहता है। हितहरिवंश जी कहते हैं कि राधा के मुख-कमल के इसी प्रेम रूपी मधुर रस का पान करने के लिये श्याम सुन्दर के नेत्र बराबर लगे रहते हैं। ओट होते ही पल भर शत कल्प के तुल्य जान पड़ता है। माधव की आँखें श्रीराधिका के श्रुति पर कंज, दृगों में अंजन तथा कुचों के मध्य में मृगमद होकर भी तृप्त नहीं होतीं और निरंतर उनकी प्यारी राधा जी के नाभि रूप सर की मछली बनने के लिये

मेरे तन मन प्राणहू ते प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोंसों हारे,
जै श्री हितहरिवंश हंस हंसनी साँवल-गौर,
कहौ कौन करै जल तरंगनि न्यारे ॥२॥

—हित चौरासी

१ अलबेली सुकुवांरी ननिन के आगे रहै,
जब लगि प्रीतम के प्रान रहै तन में।
यह जिय जानि प्यारी रंचकौ न होत न्यारी,
तिनही के प्रेमरंग रँग रही मन में।
परम प्रवीन गोरी हाव-भाव में किशोरी,
नये-नये छवि के तरंग उठैं छिन में।
हित ध्रुव प्रीतम के नैन-मीन रसलीन,
खोलियो करत दिन प्रति रूपबन में॥

—ध्रुवदास कृत आनंद दसा विनोद लीला, पृ० २२९

व्याकुल रहती हैं।[1] राधा भी श्रीकृष्ण के साथ प्रेम के इस मधुर रस का आस्वाद करके अपने को भूल जाती हैं। वे अपने शरीर को नहीं सँभाल पातीं, दूसरी सखियों से अपने उस मधुर मिलन की बात छिपाना चाहती हैं, किन्तु छिपा नहीं पातीं। उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं, मोतियों की लड़ियाँ टूट गई हैं, नेत्र अलसाये हुये से हैं, ओष्ठ की लालिमा फीकी पड़ गई है और वक्षःस्थल पर श्रीकृष्ण द्वारा किया गया नखक्षत विद्यमान है। सखियाँ उनकी इस दशा को जान जाती हैं और कहती हैं कि आज मोहन ने विविध प्रकार से अपनी थाती को सँभाल लिया है। राधा ये बातें सुनकर मंद-मंद मुस्कान बिखेरती हुई घर की ओर चली जाती हैं।[2] स्वामी हितहरिवंश द्वारा आस्वादित यह रस उनकी वाणियों से फूट पड़ता है।

इस अलौकिक मधुर रस के आस्वाद का कोई समय नहीं होता। रस सिद्ध उपासक दिन रात इसका आस्वादन करता है और रसहीन कोटि कल्पों तक तपस्या करके भी इसे प्राप्त नहीं कर पाता। श्रीकृष्ण इसे

---

१ कहा कहौं इन नैननि की बात!
ये अलि प्रिया वदन अम्बुज रस अटके अनत न जात,
जब जब रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात,
लम्पट लव निमेष अन्तर ते अलप कलप सत सात,
श्रुति पर कंज दृगंजन कुचबिच मृगमद ह्वै न समात,
हितहरिवंश नाभि सर जलचर जाँचत साँवल गात ॥६०॥

—हित चौरासी, पृष्ठ ४८

२ मोहन लाल के रसमाती।
वधू गुपति गोवति कत मोसौं प्रथम नेह सकुचाती ॥१॥
देखि संभार पीत तट ऊपर कहाँ चुन्नरी राती।
टूटी लर लटकत मोतिन की नख विधु अंकित छाती ॥२॥
अधर बिंब खंडित, मषिमंडित गंड, चलति अरुझाती।
अरुण नैन घूमत आलस जुत, कुसुम गलित लट पाती ॥३॥
आजु रहसि मोहन सब लूटो, विविध आपुनी थाती।
जै श्री हितहरिवंश वचन सुनि भामिनि भवन चली
मुसकाती ॥४॥

—हित चौरासी पृ० २६

पाने की दृष्टि से नित्यनिकुंज में एक बार पहुँचे, वहाँ बरसात होने लगी। सघन कुंज के द्वार पर प्यारी के साथ खड़े-खड़े उन दोनों के सारे वस्त्र भीग कर शरीर से चिपक गये, किन्तु रसदान के हेतु दोनों वहाँ से हटे नहीं। श्री-ललिता जी उनके सौंदर्य रस में भीगकर दोनों को वर्षा से बचाने का प्रयत्न करती हैं।[1] किसी प्रकार वर्षा बन्द हुई, वायुमंडल स्वच्छ हुआ। नवल नागरी और नवल नागर किशोर—दोनों ने कुंज के मध्य में पहुँच कर कमल के कोमल दल से शय्या को रचा। दोनों उस पर विराजमान हुए। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो स्वर्ण में नील मणि को रख दिया गया हो। राधा, प्रियतम के नीवी बन्ध मोचन करने वाले हाथों को बार-बार पकड़ती हैं, प्रियतम के द्वारा उरोजों के स्पर्श से वे मान करने लगती हैं तथा श्रीकृष्ण पर रोष प्रकट करती हैं। नित्य निकंज के इस विहार में माधुर्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। ललिता आदि उस रस को अपने नेत्रों से पान कर रही हैं।[2] इसे भी हितहरिवंश ने देखा था और रसिकों के लिये गाया था।

---

१ दोउजन भीजत अटके बातन,
सघन कुंज के द्वारे ठाढ़े अम्बर लपटे गातन।
ललिता ललित रूप रस भीजीं बूंद बचावत पातन ॥
जय श्रीहितहरिवंश परस्पर,
प्रीतम मिलवत रति रस घातन ॥२३॥
—स्फुट वाणी, पृष्ठ १५

२ नवल नागरि, नवल नागर किशोर मिलि,
कुंज कोमल कमलदलनि सिज्या रची।
गौर श्यामल अंग रुचिर तापर मिले,
सरस मणिनील मनौं मृदुल कंचन खची ॥
सुरत नीवीनिबंध हेत प्रिय मानिनी,
प्रिया की भुजनि में कलह मोहन मची।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत रोष,
हुंकार गर्व दृग भंगि भामिनि लची ॥
कोक कोटिक रभस रहसि हरिवंशहित,
विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची।

महाभाव स्वरूपा राधा के सौन्दर्य रस-सागर में अपने मन को डुबाकर मादन स्वरूप उन्हीं राधा के हेतु साधक इस संप्रदाय में अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। श्रीकृष्ण उस भक्त के लिये राधा रूपी पद्मिनी के राजहंस हैं, अस्तु वह राधा की रति के नायक को ही निरंतर अपने हृदय में धारण करता है। बिना महाभाव स्वरूपिणी राधा की भक्ति के भक्त इस भावस्थिति तक पहुँच नहीं सकता। इसलिये सर्वप्रथम वह परम आह्लादिनी रसस्वरूप राधा का स्मरण करता है और सभी प्रकार की अनुनय विनय भी उन्हीं से करता है। भक्त का यहाँ कथन होता है कि हे राधे ! इस निकुंज में मुझसे कुछ परिचर्या करा लीजिये। मेरे द्वारा ही अपने पादसम्बाहन एवं केश बन्धन कराइये। हे राधे ! आप तो करुणा की सागर हैं, अपने प्रियतम द्वारा प्राप्त चर्बित ताम्बूल को थोड़ा सा मुझे भी दीजिए। हे देवी ! ऐसी कृपा कीजिए, जिससे मैं भी आपकी नर्म सहचरियों के साथ सर्वदा रसास्वादन कर सकूँ। हे प्यारी ! कब आप अभिसार आदि चतुर प्रकारों की शिक्षा मुझे देंगी, जिससे मैं भी आपको साथ लेकर श्रीकृष्ण से आपका संगम करा सकूँ। इस प्रकार प्रार्थना करते हुए इस संप्रदाय का भक्त भी श्रीराधा से सर्वप्रथम दासी बनने की इच्छा प्रकट करता है और तब राधा कृष्ण की रसमयी लीला को देखने का अधिकारी होता है। 'संकल्प कल्पद्रुम' में भक्त का कथन है कि हे वृन्दावनेश्वरी ! मैं आपकी दासी बनूँगा, प्रियतम के साथ समस्त सखियों से घिरी हुई आपकी सेवा कर आनंद प्राप्त करूँगा। अनेक वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर आपको अभिसार कराऊँगा। आपके हाथ को पकड़कर जब श्री हरि कुसुम-शय्या को अलंकृत करने के हेतु आपसे कहेंगे, तब उस आनंद का मैं पान करूँगा और जब आप गद्गद अर्द्धविकसित शब्दों से कहेंगी 'माधव, मैं सती हूँ, मुझे छोड़िए; तब मैं श्रीकृष्ण का तिरस्कार आपके सामने आकर करूँगा। जब इतने से भी उस भक्त को संतोष नहीं होता, तब वह पुनः कहता है कि हे राधे ! श्रीकृष्ण के आलिंगन से जब आपकी अलकावली फैल जायेगी, वेणी खुल जायेगी, नीवी बंधन टूट जायगा, उस समय उस झाँकी को देखकर मैं अपना जन्म सार्थक समझूँगा, कुंज के रन्ध्रों से आपकी लीला के दर्शन करूँगा और रसिकों के आनंद के हेतु कविता के कुसुमों से आपको विभूषित करूँगा। रास के समय हे रासेश्वरी ! मैं स्वतः वीणा वादन करूँगा। नवनिर्मित झूले में जब आप अपने प्रियतम के साथ चढ़ेंगी, तब मैं आपको झुलाऊँगा और गायन करूँगा। इस प्रकार युगल मधुर रस के आश्रित-नेत्रोपान्त के विघूर्णनों से,

अधरामृत पान से, किंचित हास्य रस से, विशाल भुज-संचालन से, दृढ़ आलिंगन तथा चुम्बन के दर्शन से भक्त राधा कृष्ण—युगल की उपासना करता है, साथ ही उनकी उस अवस्था का भी स्मरण करता है जिसमें नेत्र दीर्घ, अपांग कुटिल, वक्षोज तथा वक्षःस्थल स्थूल तथा अंग-प्रत्यंग माधुर्य से परिपूर्ण हो जाते है। इस गोपी भाव के मधुर साधक का विश्वास है कि जब उसके इष्टदेव से उनका संपर्क होगा, तो अधर-मधुपान से रसना, शीतल क्रोड के संसर्ग से स्पर्शेन्द्रिय, परम सौन्दर्य से युक्त शरीर से नेत्र, सुगंध-समूह से नासिका तथा रसमय शब्दों से कर्ण आनन्दित होंगे।

जिस प्रेम का अवलम्ब लेकर मधुर उपासक श्रीकृष्ण की उपासना करता है, वह उस रूप में अन्यत्र प्राप्त नहीं हो सकता। वृन्दावन की उस पवित्र स्थली में निवास करने वाली कुछ गोपियाँ ही भावानुसार उसका (प्रेम रस) पान करती हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत 'प्रेमसम्पुट' नामक ग्रंथ में कृष्ण रूप सखी के (कृष्ण ही सखी के वेश में) पूछने पर श्रीराधा ने उनसे कहा—

> प्रेमाहि काम इव भाति वहिः कदाचि—
> त्तेनामितं प्रियतमः सुखमेव विन्देत्।
> प्रेमेव कुत्रचिद्वेक्ष्यत एव कामः,
> कृष्णस्तु तत् परिचिनोति वलात् कलावान्॥

—प्रेम सं० श्लोक ५८ पृष्ठ २६

यह प्रेम ही कभी-कभी काम के समान बाहर प्रकाशित हो जाता है और प्यारे श्रीकृष्ण इससे अपार आनंद प्राप्त करते हैं, परन्तु कभी-कभी यही काम किसी जन में प्रेम के समान दृष्टिगोचर होता है—कलावान् श्रीकृष्ण ही इसे जानते हैं। चैतन्य संप्रदाय की मधुर उपासना का प्राण यही प्रेम है। शीघ्र ही अपने प्रियतम के पास जाने की कामना करने वाली स्त्री का चित्त स्वभावतः ही प्रियतम के सुख से निष्ठ होता है, अस्तु उस सुख के हेतु जो काम जाग्रत होता है, उसे प्रेम ही कहते हैं, काम नहीं। मधुर भाव से ही श्रीकृष्ण की उपासना को सर्वश्रेष्ठ चैतन्य संप्रदाय में क्यों माना गया—इस संबन्ध में विश्वनाथ चक्रवर्ती का कथन है कि श्री नन्दनंदन प्रेम के समुद्र हैं। गुण रूपी रत्नों के भण्डार एवं अतिशय सौन्दर्यशाली होकर भी अंगनागण को गौरवमय

बनाने के हेतु ही अपने प्रेम को काम के समान प्रदर्शित करते हैं।[1] इसीलिए इसे ही गोपी भाव के साथ मधुर उपासना का आधार माना गया है। इस संप्रदाय के अनुसार प्रेम वही है, जिसके द्वारा प्रियतम का दोष भी गुण के समान प्रतीत हो, प्रियतम यदि शत् शत् कष्ट दें, वे भी अमृत के समान प्रतीत हों और अपने प्रियतम का अल्प-मात्र कष्ट भी सहन नहीं किया जा सके। अपने देह त्याग होने पर भी उनको छोड़ने की सामर्थ्य न हो तथा अपने प्रियतम में महिमा न होने पर भी पग-पग पर उनकी महान् महिमा का अनुभव होता रहे।

हिन्दी में इस संप्रदाय के रसिक भक्तों के द्वारा रचित जो भी रचनायें या पद प्राप्त होते हैं, उन सब का आधार आचार्य रूप सनातनादि कृत मधुरभक्ति रस शास्त्र ही है। परस्पर कंधे पर हाथ रखे हुए वृन्दावन में विहार करने वाले राधा-माधव के मिलन की आशा को अपने उर में धारण किये हुये उसी लालच से भक्त निरंतर अपनी साधना में तल्लीन रहता है तथा राधा की प्रियतम सहचरी ललिता विशाखा आदि से निरंतर इस फलवती आशा और लोभ को हृदय में बनाये रखने की प्रार्थना करता है। उस भक्त की यह धारणा है कि इन प्रिय सहचरियों की कृपा से मेरी यह उत्कण्ठा अवश्य सफल होगी। अपनी इष्टदेवी राधा से उनके कृपायुक्त अनुराग की आकांक्षा के साथ उनसे प्रार्थना करता है। भक्तों का यह अखंड विश्वास है कि यदि श्याम सुन्दर अपनी प्यारी के साथ उस उत्कण्ठा रूपी बेल पर अपने अनुराग रस की वर्षा नहीं करते तो वह बेल पनप नहीं सकती।[2]

---

१ विशेष विवरण के लिये 'प्रेम सम्पुट' नामक विश्वनाथ चक्रवर्ती का ग्रंथ देखना चाहिये।

२ वृन्दावन विहरहिं सदा गहे परस्पर बाँह,
लालच तिनके मिलन को उपजि परो जिय माँहि ॥४॥
अहो विशाखा सहचरी, तुम सब रस की मूल,
यह उत्कण्ठा वेलि ज्यों नख सिख फूले फूल ॥८॥
हो ललितादिक तुम सबै मिलि सींचो रस तोय,
यह उत्कण्ठा माधुरी वेग सफल ज्यों होय ॥९॥
श्री वृन्दावन स्वामिनी करि सुदृष्टि इहि ओर,
वष्टि करो अनुराग की कृपा कटाक्षन कोर ॥१०॥

इस संप्रदाय के साधक को बिना रस स्वरूप अपने इष्टदेव राधा-माधव के दर्शन के कुछ नहीं सुहाता। उनके प्रेम में मत्त वह उपासक अपनी आँखों को फाड़े प्रत्येक वन, पर्वत, नगर तथा गलियों की खाक छानता हुआ अपने राधा-माधव को ढूँढ़ता घूमता है। संसार के सारे सुखों का त्याग कर उनके संयोग की आशा पर ही श्वास लेता रहता है। बिना प्रियतम के उस रसिक भक्त कवि को कालिन्दी करवत्, चन्द्रमा चक्रवत्, पवन पाषाणवत् शय्या सूर्यवत् (तपाने वाली), भोजन और जल विषवत् और वस्त्र बाणवत् प्रतीत होता है। यथा —

गिरि वन पुर वीथिन सबै रहौं निहार-निहार,
कोऊ कहूँ नहि पाइये, वा मुख की उनिहार ।।२७।।
वा मुख की आशा लगी तजी आस सब जोग ।
अब स्वासा हू तजेगी जो न बनै संजोग ।।२८।।
कालिन्दी कर बत लगे चक्र लगै शशि भाय ।
जो कबहूँ उत सुखन की परै सुरति जिय आय ।।१८।।
पवन लगै पाहन मनों सेज लगै सम भान ।
भोजन जल ऐसौ लगे, गरल कियौ जनु पान ।।१९।।

*—माधुरी वाणी

अपने आराध्यदेव प्रियतम के सान्निध्य के अभाव में भक्त की यह व्याकुलता उसके अनन्य प्रेम का प्रतीक है। यथार्थ में भक्त वही है, जो अपने भगवान के बिना एक क्षण भी न रह सके और उनके लिये संसार के समस्त सुखों का परित्याग कर दे। जब पुकारते-पुकारते, ढूँढते-ढूँढते पर्याप्त समय व्यतीत हो जाता है, तो उसकी वेदना बढ़ती ही जाती है। कुछ उपाय न देखकर वह अपने देवता को सौगंध दिला देता है और कहने लगता है—

एक बार तो आय के नैनन ही मिलि जाउ ।
सौंह तुम्हें जो साँवरे नेकु दरस दिखराउ ।।

यह उत्कंठा की लता चली वेग मुरझाय ।
संग दामिनी श्यामघन जो वरषे नहि आय ॥११॥

—मा० वा० पृ० १-२

* श्री माधुरी जी श्रीमद्रूपगोस्वामी जी के प्रिय शिष्य थे।

ऊरध स्वांस समीर सों सीतल है गई देह।
तन मन डूबो जात है इन नैनन के मेह ॥
अहो प्राणपति प्राण यह नैनन में रहि जाय।
पलक एक लौं पाइहों जो पहुँचौगे धाय ॥

—माधुरी वाणी

अपने प्यारे के सौन्दर्य-माधुर्य रस के आस्वाद के बिना यहाँ साधक-हृदय बार-बार उन्हीं को पुकार रहा है। नेत्रों की बरसात से तन, मन दोनों डूब गये हैं और प्राण भी शरीर से निकल कर नेत्रों में आ गये हैं, पलक झँपी और प्राण गये इसीलिए वह शीघ्र ही मिलना चाहता है।

प्राणों से युक्त अपने नेत्रों से वह राधेश्याम का नित्य निकुंज में नवल विहार देखना चाहता है, अपने पैरों से अपने प्रियतम के साथ घूमना चाहता है और सांकेतिक भाषा में प्रियतम द्वारा कहे हुये रसरंग की वार्ता का आस्वाद करना चाहता है। किन्तु संयोग होगा, तभी वह ऐसा कर सकेगा और संयोग तभी होगा जब उसके प्रियतम अपने विशाल कमल रूपी नेत्रों से कृपापूर्वक उसकी ओर देखेंगे। जब वे उसे प्रेम सहित अपना सामीप्य प्रदान करेंगे तभी वह अपने भाव (सखी भाव) में तन्मय होकर अपने प्रियतम की सेवा का अधिकारी हो सकेगा। रूप सनातन की परम्परानुसार रसिक भक्त अपने युगल सरकार के मस्तक पर चंदन लगाने में, नेत्रों में अंजन लगाने में, शय्या रचने आदि में अपने को सौभाग्यशाली मानता है। यथा—

बार-बार जाँचत यही बिह्वल विकल विहाल,
कब लिपटाऊँ लाल के घोरि अरगजा भाल ॥९०॥
कब आँजहुगो करन सों लोचन कमल विशाल,
ता छिनु छवि ऐसी फबी जनु कुरंग परि जाल ॥९१॥
कब देखौं यह भाँति सों जुड़े नैन सों नैन,
अरस परस मुसकाति मन, समझ गूढ़ कछु सैन ॥१३७॥
कब इन कान परहिंगे प्राणन को सुख देन,
कछु ललेचोंहे लाल के लोभ लपेटे बैन ॥१३८॥

—माधुरी वाणी

कुंज सेवा के साथ-साथ मधुर रस साधना करने वाला अपने प्रियतम के उस रूप की छवि पाने को भी उत्सुक है, जिसमें वे अपनी प्रिया जी के साथ ही साथ रसमग्न होते हैं। जब इतने से भी उसे संतोष नहीं होता, तो वह

भगवान की लीला-क्रीड़ा में भी भाग लेने के लिए तड़प उठता है। किन्तु भगवान के साथ केलि करना तो सबके बस की बात नहीं होती। साधक भी इस कठिनाई को जानता है, किन्तु हिम्मत नहीं हारता। होली के त्यौहार पर वह अपने प्रियतम के साथ होली खेलना चाहता है। वह यहाँ तक प्रस्तुत हो जाता है कि यदि प्रियतम के साथ उसे होली मनाने को न मिली तो वह अपने शरीर को ही होली बना देगा। किन्तु ऐसे तो कार्य चल नहीं सकता, वह पुन: विचार करता है और कहता है कि यदि मैं इस होली का खेल ही बन जाऊँ तब तो प्रियतम मुझे ही होली का खेल समझकर अवश्य मेरे साथ खेलेंगे। इसी प्रकार कभी वह गुलाल बनकर प्रियतम के नेत्रों में पड़ जाना चाहता है, कभी प्रिया की पिचकारी बनना चाहता है, कभी केसर का रंग बनना चाहता है, कभी उस फुलवारी का फूल होना चाहता है जिसमें प्रियतम प्यारी के साथ विहार करते हैं। उपासक का यह विश्वास है कि उसके युगल इष्टदेव के हाथ में इस प्रकार वह फूल बनकर पहुँच सकेगा और तब उसे भी उनके स्पर्श का सुख अनुभूत होगा। भक्त उपासना की चरम सीमा को उस समय पार कर जाता है, जब वह नवनिकुंज शय्या ही बनने की कामना प्रकट करता है। वह कभी शय्या बनना चाहता है, कभी प्रियतम और प्यारी के मार्ग की धूल बनना चाहता है, कभी कंठ की माला होकर उनके गले से लिपट जाना चाहता और कभी अंजन बनकर उनके नेत्रों में समा जाना चाहता है। यथा—

हो-हो कहत पुकारि हों, अहो श्याम सुनि लेउ।
होरी संग न खेलि हों तो होरी है देउ ।।९७।।
वा होरीके खेल को खेल कहूँ ह्वै जाउँ।
कै सीधों ह्वै दुहन को अंग-अंग लपटाउँ ।।९९।।
कै गुलाल ह्वे लाल के परों लोचननि जाय।
कै पिचकारी प्रिया की हूजे कौन उपाय ।।१००।।
कै केसर के रंग में कीजे जाय प्रवेश।
तब क्यों हू कछु पाइये वा सुख को लवलेश ।।१०१।।
कै फुलवारी फूलिये तिन फूलन में जाय।
जिन फूलन के भावते भूषन करें बनाय ।।१०२।।
कै सोवें जा सेज पै सेज सोइ हैं जाउँ।
कै क्यों हूँ है मधुकरी मुख सुगन्धि लपटाउँ ।।१०३।।

पिय प्यारी जहँ पग धरे होंहु तहाँ की धूरि।
जो समझे नहिं प्राणपति, रहौं ठौर सब पूरि ॥१०४॥
कै उर में ह्वै माधुरी माल कंठ लपटाउँ।
कै अंजन ह्वै दोहुनि के नैनन माँझ समाऊँ ॥१०५॥

—माधुरी वाणी

किन्तु ये सब तो बड़े कठिन मनोरथ हैं, पूरे कैसे होंगे ? इस संबंध में भक्त का विश्वास है, यदि दीन दुखी जानकर श्री लाड़िली जी कृपा कर दें तभी यह पूर्ण हो सकेगा। दूसरा कोई पूरा नहीं कर सकता। वे कृपा अवश्य करेंगी। यथा—

कठिन मनोरथ मन उठे को पूरनि करे आनि।
कृपा करेंगी लाड़िली दीन दुखी मोहिं जानि ॥१०७॥

—माधुरी वाणी

इतनी कृपा से भी भक्त का काम नहीं चलेगा ऐसा समझकर वह साधक श्रीराधिका जी से निरंतर नेत्रों में बस जाने की प्रार्थना करता है[1] क्योंकि वह जानता है कि जब तक नेत्र राधामय नहीं होंगे, तब तक रस धाम की रसमयी छवि देखने को न मिलेगी।

इस प्रकार साधना की भूमि पर शनैः-शनैः बढ़ता हुआ भक्त निरंतर अपने प्यारे स्वामी तथा स्वामिनी का मधुर गुणगान करता रहता है। यथार्थ में यह गुणगान भी तो उसके वश का नहीं है। वह तो बहुत प्रयास करता है कि यह गोप्य रहस्य किसी पर प्रकट न हो, किन्तु वह विवश है, उसकी रसना पर गोप्य केलि रस के नायक का निवास जो हो गया है ! यहाँ भक्त की कविता का प्रत्येक अक्षर राधा-कृष्ण मय होकर उसके अन्तस्तल के भावों को प्रकट कर देता है। श्याम के रंग में पूर्णरूपेण रंग कर वह श्याममय हो गया है, हर समय उसे नवनिकुंज में विहार-संलग्न में दम्पति किशोर ही दिखलाई देते हैं, वह आनंदविभोर हो जाता है, रस समाये नहीं समाता, उसे वह सबको देना चाहता है। उसका कथन है—

---

१ हो निकुंज नागरि कुँवरि, नवनेही घनश्याम।
नैनन में निस दिन रहो, अहो नैन अभिराम ॥३४॥

—माधुरी वाणी, पृ० ४

चलो किन देखत कुंज कुटी ।
सुन्दर श्याम मदन मोहन जँह मनमथ फौज जुटी ।
नंदनन्दन वृषभानु नन्दिनी नेकु न चाह छुटी ।।
सुरति सेज पै लरति अंगना मुक्तामाल टुटी ।
उरज तजी कंचुकि चुरकुट भई कटितट ग्रंथि हटी ।
चतुर सिरोमनि सूर नंदसुत लीनी अधर घुटी ।।३८।।

—वाणी श्रीसूरदास मदन मोहन जी[1]

भक्ति का यही सर्वश्रेष्ठ रूप है और यही सर्वश्रेष्ठ रस है, किन्तु पात्र बन कर ही इसे साधक प्राप्त कर सकता है। किशोरी भावना की यहाँ उसी प्रकार आवश्यकता है, जैसे अन्य रसोपासक वैष्णव संप्रदायों में है। इस स्थिति में पहुंच जाने पर स्वप्नों का संसार भक्त को अपने सामने साकार होता दिखाई देता है। इसी सरस माधुरी को निरंतर देखकर साधना करने वाला रसानंद पाता है। प्रेम-माधुर्य से उसका मन, रूप-माधुरी से उसके नेत्र और रति माधुर्य से उसका तन-मन आदि सब कुछ छके रहते हैं। ललितादिक सखियों की कृपा से इस संप्रदाय के साधक को यह अवसर प्राप्त हो जाता है। यथा—

प्रेम माधुरी मन छक्यो रूप माधुरी नैन,
नैन माधुरी मन छक्यो छके कहत मुख बैन ।।३०५।।
ललितादिक सब सहचरी, कीनो परम सहाय,
सरस माधुरी जुगल को निरखि सदा सुख पाय ।।३०२।।

—माधुरी वाणी, पृष्ठ ४९।

स्वामी हरिदास हरिदासी संप्रदाय के प्रवर्तक थे और निम्बार्क साधना-पद्धति के समर्थक थे। ये निम्बार्क परम्परा की तिरसठवीं पीढ़ी के संत थे, जिसका उल्लेख "अष्टादश सिद्धान्त के पद" नामक ग्रंथ में किया गया है। इस संप्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है कि अनेक प्रकार की विषय रूपी तरंगों से युक्त विशाल भँवर रूप दुःख से व्याप्त तथा बुद्धि के विनाश रूपी शेवाल से आच्छादित तृष्णा रूपी नदी से राधा-माधव की मधुर भक्ति ही पार लगाती है। इसलिये कोमल मन को निरंतर हंस बन कर कमल-

---

१ श्री सूरदास मदन मोहन महाप्रभु चैतन्य के पार्षदप्रवर श्रीसनातन गोस्वामी के शिष्य थे।

वन की भाँति श्रीकृष्ण के चरण-कमल की सेवा करना चाहिये। इन स्वामी हरिदास का अपने प्रियतम के प्रति अनुराग वृक्ष स्वरूप है, प्रियतम की रहस्य-केलि उस वृक्ष के जड़, पत्र, फल तथा पुष्पादि हैं, इस वृक्ष का सेवन एक निर्भीक पक्षी के रूप में इस संप्रदाय का साधक करता है। यहाँ की मान्यता है कि श्रीकृष्ण के मुख रूपी चंद्र का अमृतपान तभी हो सकेगा, जब उनके सौन्दर्य आदि गुणों के गान में मन तल्लीन हो जायेगा और श्रीराधा कुंजविहारी के रहस्य क्रीड़ा में जो नित्य रस है, उसे किंचित मात्र भी प्राप्त कर पायेगा। वृन्दावन में परस्पर कंधे पर हाथ रख कर विहार करने वाले मंद मुस्कान से युक्त श्रीराधा कुंजविहारी ही इस संप्रदाय के इष्टदेव हैं। इस संप्रदाय में भी श्रीराधा जी की ही सर्वप्रथम प्रधानता है। निकुंज विहारी परम प्रियतम कृष्ण से आलिंगित, सुरत रंग से सुशोभित, कोटियों कामदेव को पराजित करने वाली, बायें कपोल पर बाम भुजा को रखने वाली तथा श्रीकृष्ण के नाभि-कमल में अपनी नाभि को मिलाने वाली छवि-पुंज श्रीराधा को यहाँ का साधक निरंतर अपने हृदय में धारण करता है।

जिन श्रीराधा कुंजविहारी को इस संप्रदाय में उपास्य माना गया है वे नित्य आनंद की मूर्ति हैं तथा रसिकों के द्वारा आराधित हैं। राधा-माधव युगल के मंत्र जाप से ही इष्टदेव का रूप प्रकट होता है। सखीभाव की इसमें प्रधानता है। बिना कृपा श्री ललिता जी के इस भाव को उपासक प्राप्त नहीं कर सकता—ऐसी धारणा इन भक्तों की है। अस्तु, मधुर उपासक निरंतर अनन्य प्रेम के द्वारा साधना के इस क्षेत्र में आगे बढ़ता रहता है। हरिदासी संप्रदाय के उपासक, स्वामी हरिदास जी को श्रीललिता सखी का अवतार मानते हैं। उनका विश्वास है कि श्रीललिता जी (हरिदास) ने जिस प्रकार की उपासना किशोर वयवाले राधा कृष्ण की की है वह अत्यंत कठिन है तथा प्राप्त करने में सिंहनी के क्षीर के समान है। श्रीराधा की प्रियतम ललिता जी का अत्यंत विश्वास पात्र सखी समाज ही उपासना की इस भूमि पर पहुँच पाता है। भगवतरसिक का कथन है—

आचारज ललिता सखी रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना युगल मंत्र को जाप।।
युगल मंत्र को जाप वेद रसिकन की बानी।
श्री वृन्दावन धाम इष्ट श्यामा महारानी।।

प्रेम देवता मिले बिना सिधि होय न कारज।
'भगवत' सब सुखदान प्रगट भये रसिकाचारज।।

और भी—

संप्रदाय नवधा भगति, वेद सुरसरि नीर।
ललिता सखी उपासना ज्यों सिंहिन कौ खीर।।
ज्यों सिंहिन की खीर रहे कुन्दन के ब्रासन।
कै बच्चा के पेट और घट करे विनाशन।।
भगवत नित्य विहार परैं सब ही के परदा।
रहे निरंतर पास रसिकवर सखी संप्रदा।।

इस संप्रदाय में मधुर उपासना के द्वारा निरंतर कुंजविहारी की कुल लीला के दर्शन से परमानंद प्राप्त करना ही सबसे बड़ा मोक्ष माना गया है। स्वामी हरिदास जी नियमित रूप से युगल मंत्र को जपते हुये कुंजविहारी राधा माधव की नित्य केलि रस का आस्वाद करते थे तथा अपनी वाणी में उसे रूप प्रदान करते थे। प्रियतम कुंजविहारी के क्षण भर ओट होने से वे तड़प उठते थे। व्यास जी ने इसीलिये कहा था—

'ऐसो रसिक भयो नहिं व्हैहै,
भुव मण्डल आकाश ।।'

सुरति केलि में तन्मय राधाकृष्ण की उपासना ही स्वामी जी की मधुर उपासना का सर्वोच्च रूप था। उन्हीं से वे प्रेम करते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में उस प्रेम के समक्ष कहे जाने वाले सारे प्रेम फीके पड़ जाते हैं, यह प्रेम मंजीठ के रंग के समान है, जो छूट नहीं सकता। रस रसिक होकर साधक इसी को अपनाता है और सारे संसार के वैभव को त्याग देता है। यथा—

हित तो कीजै कमल नयन सों
जाहित के आगे और हित लागे फीको।
कै हित कीजै साधु संगति सों,
ज्यों कलमष जाय जी को।
हरि को हित ऐसो जैसो रंग मजीठ संसार हित,
रंग कसूम दिन दुती को।

कहि श्री हरिदास हित कीजे विहारी जू सों और
निबाहु जानि जी को ।।

—अष्टादश सिद्धान्त पद ७

जिस प्रकार कामी पुरुष को कामिनी, लोभी पुरुष को द्रव्य प्रिय होता है उसी प्रकार इस संप्रदाय के उपासक को श्यामा-श्याम प्यारे लगते हैं। ये श्यामा-श्याम मधुर भक्त की आँखों के काजल है, इसके सहारे वह उनकी केलि-दर्शन करता है। भगवत रसिक ने कहा है—

कामी के प्रिय कामिनी लोभी के प्रिय दाम,
ऐसेहि भगवत रसिक के प्रिय श्री श्यामा-श्याम।
प्रिय श्री श्यामा-श्याम भये नैनन को कजरा,
केलि विलोकत रहें और नहि आवे नजरा ……।।

इस प्रकार राधा-माधव की कुंज-लीला के अनन्य उपासक इस संप्रदाय के रसिक भक्त हैं। वे नित्य प्रति क्षण-क्षण में नवीनता को धारण करने वाली प्रिया-प्रियतम की केलि के दर्शन करते रहते हैं तथा उनके रुख को देखकर पान, वस्त्र, सुगंधित द्रव्य एवं दर्पण आदि लेकर सेवा में तत्पर रहते हैं, साथ ही उनके प्रेम के प्रसाद को पाने की आकांक्षा भी करते हैं। यथा—

हैं हम रसिक अनन्य प्रिया पिय कुंजमहल के वासी,
नई नई केलि विलोकें क्षण-क्षण रति विपरीति उपासी।
बीरी बसन सुगन्ध आरसी रुख ले करत खवासी,
देन प्रसाद प्रेम से हँसि-हँसि कहि-कहि भगवत दासी ।।

रसिक विहारी की उपासना में तल्लीन साधक मन, बुद्धि, चित्त, तन, धन तथा यौवन का सब कुछ अपने इष्टदेव को समर्पित कर एकांत वास करता है। स्वामी जी भी एकांत वास करते थे, और उनके हृदय में निरंतर उनके इष्टदेव का निवास रहता था। उन्हीं की कृपा से वे सर्व रसों के सार स्वरूप मधुर रस की वर्षा में भीगते रहते थे। उनके इष्टदेव की कुंज-केलि के समीप पक्षी, भ्रमर तक तो पहुँच नहीं सकते थे, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है। इसी कुंज के अन्तरंग में श्यामा-श्याम निरंतर विहार में रत रहते हुए, अपने रसिक भक्तों का हित करते रहते हैं। वे वहां राधा के साथ क्रीड़ा करके प्रेम रस में सराबोर हो जाते हैं। इस प्रकार प्रिया की आँखों के तारे बनकर वे निरंतर वहाँ विराजमान रहते हैं। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को

अपनी ओर आकर्षित किये रहता है, उसी प्रकार राधा, कृष्ण को आकर्षित किये रहती हैं। वे प्रेम में मतवाले होकर राधा का शृंगार करते हैं, उनके बाल संवारते हैं, वेणी गुहते हैं और तब उसी रंग में रँग जाते हैं।[1] इसी दिव्य केलि को स्वामी हरिदास जी ने रसिकों के हेतु अपने काव्य का विषय बनाया और इसी का प्रसार किया। एक ही कुंज में नित्य विहार का रस लेने वाले दोनों परस्पर प्रीत में सने हैं, इनके प्रेम की पीर का अनुभव दूसरा नहीं कर सकता। वे ही दोनों एक दूसरे की पीर का अनुभव करते हैं, परस्पर मान छुड़ाते हैं तथा प्रार्थना करते हैं।[2] श्रीकृष्ण अपनी प्रिया को आनंदित करने के लिये नृत्य करते हैं, उनके नृत्य पर कोयल अलाप देती है, पपीहा स्वर देता है और मेघ मानो गर्जन कर मृदंग बजाता है। प्रिया तब प्रसन्न होती हैं और उन्हें अपने वक्ष:स्थल पर खींच लेती हैं।[3] इस प्रकार स्वामी हरिदास के शब्दों में राधा-माधव के नित्य विहार कुंज में होते रहते हैं। उनकी दृष्टि में राधे के मुख रूपी चन्द्रमा को देखकर ही कृष्ण के हृदयरूपी सरोवर में मनोरथ रूप

---

१ वैनी गूँथ कहा कोऊ जानें मेरी सी तेरी सों।
विच-विच फूल सेत पितराते और को करि सकेरी सों।
बैठे रसिक सँवारन वारन कोमल कर ककही सों।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज विहारी दै काजर नखही सों।

—केलिमा० पद सं० ७०

२ प्यारी हम तुम दोऊ एक कुंज के सखा रूठें क्यों बने।
इहाँ न कोऊ मेरो न तेरो हितू जो यह पीरजने।
हौं तेरौ वसीठ तू मेरो तो मेरे बीच और न सने,
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी कहत प्रीति पने।

—केलिमा० पद ७९

३ नाचत मोरनि संग स्याम. मुदित स्यामहि रिझावत।
तैसी ये कोकिला अलापत पपीहा देति सुर,
तैसोई मेघ गरज मृदंग बजावत…………।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज विहारी रीझि राधे हँस कंठ लगावत।

—केलिमा० ९६

कुमुदनी खिलती है। यहाँ संसार का सारा सौन्दर्य अपनी गति को भूल जाता है—वे प्रिया के पैर पकड़ते है, मिन्नतें करते हैं और उन्हें मनाते हैं।[1] राधा का मान टूटता है शरीर से शरीर, मन से मन, चित्त से चित्त मिलकर एकाकार हो जाते हैं, कुन्दन में उसकी लाली समा जाती है। किन्तु दूसरे ही क्षण एक दूसरे को न देखकर दोनों व्याकुल हो जाते हैं, उन्हें अपनी संयोग स्थिति में रसमग्न होने के कारण विस्मरण हो जाता है, राधा इस क्षणिक वियोग को नहीं सह पातीं और प्रियतम को पुकारने लगती हैं।[2] इसी प्रकार कृष्ण अपनी प्रिया की दृष्टि से छिपते ही व्याकुल हो जाते हैं। संयोग में विरह की यह भावना प्रेम का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। एकाकार होने में चूँकि एक दूसरे को देख न पायेंगे—उसका अनुभव कर कृष्ण व्याकुल हैं।[3] प्रेम का यह रूप संसार में दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। हरिदास ने इसे अपनी आँखों से देखा और आत्म-विभोर होकर गाया। अतः इस निकुंजविहार की झाँकी देखने के लिए तथा इष्टदेव राधा-माधव की उपासना के लिए उपासना करने वाले को इस संप्रदाय के अनुसार निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहियेः—

---

१ प्यारी तेरो वदन चंद देखें मेरे हृदे सरोवर ते कमोदनी फूली।
मन के मनोरथ तरंग अपार, सौन्दर्यता तहाँ गति भूली॥
तेरो कोप ग्राह ग्रसे लिये जात, छुड़्यो न छूटत रह्यो बुद्धिबल गह भूली॥
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा चरन वंसी
गहि कढि रह लटपटाय गहि भुज मूली॥
—केलिमा० पद सं० ५७

२ देह मिली अरु मन मिले मिले चित्त एक रूप।
बड़ौ अंदेसो या मिलन कौ, प्रीतम कहाँ अनूप॥
ता रस के मन बास पर्‌यो निमुष न लेत उसांस।
निसि दिन पीवत माधुरी पीवत पिवावत प्यास॥
—सिद्धांतरत्नाकरान्तर्गत स्वामी रसिकदेव जी कृत रससार, दो० सं० १९-२०

३ ऐसी जीय हौत जो जीय सों जीय मिलें,
तन सौं तन समाइ ल्यौतौं देखौं कहा हो प्यारी…… ……॥
—केलि मा० पद सं० ३५

१—रसिकों का सत्संग करना।

२—नित्य निकुंजविहार का इष्ट रखना।

३—नित्य विहार का श्रवण।

४—गुरु-चरणों में अनुराग।

५—निकुंज विहार का गान।

६—सखीभाव की भावना।

७—तन मन से राधा-माधव के सुख-हेतु प्रयत्न करना।

८—उनके विहार-सुख को देखकर आनंदित होना।

९—प्रत्येक क्षण उनकी सेवा के लिये तत्पर रहना (स्नान करना, वस्त्राभूषण पहिनाना, पुष्पमाला धारण कराना, भोजन, जलादि देना, वीरी देना, शय्या का निर्माण कराना, झूला झुलाना, जल विहार कराना आदि। स्वामी हरिदास जी के इस संप्रदाय की उपासना प्रणाली के अनुकूल होकर सखी-भाव से साधक विहार के मध्य श्री युगल के श्रम को निवारण करने का अधिकारी होता है। स्वयं श्याम सुन्दर भी सौन्दर्य-माधुर्य की राशि स्वरूपा श्रीराधिका जी की सेवा की कभी-कभी सखी रूप से आकांक्षा करते हैं, श्री बिहारिनदेव जी कहते हैं—

लालन मन ललचात है अपने तन सुख हेत।
बिहारिन दास प्रसन्न ह्वै सेवत मोहिं समेत।। १२०।।
—रस साखी, विहारिनदेव जी कृत

इस प्रकार सखीगण के अवलम्ब से वे श्री भी प्रिया जी की सेवा में रहते हुये आनंदित होते हैं। विहार के मध्य में उपस्थित सखियाँ के नयनों के संकेत से सारा कार्य संपादित कर देती हैं और मधुर रस का आस्वाद करती हैं। इन सखियों के अतिरिक्त कोई भी वहाँ पहुँच नहीं सकता। इस रस के आस्वाद में रोम-रोम पुलकित हो जाता है, नेत्रों से आनंदाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। जिस प्रकार जल के बिना जल के जीव आकुल हो जाते हैं, उसी प्रकार राधा-माधव नित्य विहार के बिना व्याकुल हो जाते है और उसी प्रकार उपासना-पद्धति को अपनाने वाला साधक भी बिना राधा-माधव की झाँकी के व्याकुल हो जाता है। अस्तु, 'सब सारनि को सार सुनि सब तत्वन को तत्व' जानकर ही रसिकों ने उसे अपनाया है।

विक्रम की तेरहवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध से व्रजभाषा में राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का वर्णन सर्वप्रथम निम्बार्कसंप्रदायाचार्य श्रीभट्ट-देव ने किया। इस परंपरा की चौदहवीं शती में हुये इन्हीं के शिष्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्य जी ने इसे आगे बढ़ाया, फिर तो व्रजभाषा राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला में तन्मय होकर स्वयं नृत्य करने लगी और माधुर्य की समस्त कलाओं को उसने रूप प्रदान किया।

सांप्रदायिक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि माधुर्योपासकों की एक बहुत बड़ी संख्या कृष्णभक्ति के वैष्णव संप्रदायों में है। यदि इस दृष्टि से यहाँ उनका विवेचन प्रस्तुत किया जाय, तो ऐसा अनुमान है कि प्रबंध का कलेवर बहुत बढ़ जायगा, अस्तु श्रीरामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इति-हास के काल-विभाजन के अनुसार प्रमुख मधुर उपासक कवियों का वर्णन ही यहाँ श्रेयस्कर होगा।

आचार्य शुक्ल ने वि० सं० १३७५ से १७०० तक भक्तिकाल, सं० १७०० से १९०० तक रीतिकाल तथा सं० १९०० से लगभग २०२० तक आधुनिक काल माना है। उपर्युक्त समय में होने वाले जिन प्रमुख मधुररसोपासक कवियों का विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है, उनमें कुछ का ही उल्लेख शुक्ल जी ने अपने इतिहास में संक्षिप्त परिचय के साथ किया है।

भक्तिकाल में वि० सं० १३०० से १७०० तक होने वाले प्रमुख मधुर रसोपासक संत एवं भक्त-कवि:—

क्र०सं०	नाम	समय (वि०सं०)	सम्प्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
१	श्री श्रीभट्टदेवाचार्य जी	१३२५-१४६०	निम्बार्क संप्रदाय	निम्बार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण भक्त हिन्दी कवि	डा० नारायणदत्त जी शर्मा	२२८	२०१५
२	श्रीहरिव्यासदेवाचार्य जी	१४५०-१५५५	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीयुगलशतक की भूमिका	श्रीब्रजवल्लभशरण जी वेदान्ताचार्य	१३	२००९
३	श्रीकुम्भनदास जी	१५२५-१६४०	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९६	२००६
४	श्रीसूरदास जी	१५३५-१६४०	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९६	२००६
५	श्रीस्वामी हरिदास जी	१५३७-१६३२	निम्बार्क संप्रदाय के अन्तर्गत हरिदासी संप्रदाय के प्रवर्तक	निजमत सिद्धांत "मध्यखंड"	महन्त श्रीकिशोरदास जी	५४	१९७१
६	श्रीबीठलविपुलदेव जी	१५३२-१६३२	हरिदासी संप्रदाय	निजमतसिद्धांत "अवसानखंड"	महन्त श्रीकिशोरदास जी	५	१९७१
७	श्री परशुराम देवाचार्य जी	१५५०-१६६९	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीयुगलशतक की भूमिका	श्रीब्रजवल्लभशरण जी वेदान्ताचार्य	१३	२००९

८	श्रीपरमानन्द-दास जी	१५५०-१६४१	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९६	२००६
९	श्रीआनन्दघन जी	१५५०-१६००	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मितल	१३९	२०१९
१०	श्रीकृष्णदास जी (अधिकारी)	१५५३-१६३६	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९६	२००६
११	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी	१५५९-१६०९	राधा वल्लभ संप्रदाय के आदि प्रवर्तक	राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	९६	२०१४
१२	श्रीरामराय जी गोस्वामी	१५६०-	माध्व गौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१४५	२०१९
१३	श्रीभक्तिमती मीराबाई	१५६०-१६०७	स्वतंत्र संप्रदाय	भक्तमालांक 'वृन्दावन'	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	१०३	२०१७
१४	श्रीबिहारिनदेव जी	१५६१-१६५९	हरिदासी संप्रदाय	निजमत सिद्धांत 'अवसान खंड'	महन्त श्रीकिशोर दास जी	१०३	१९७२
१५	श्रीगोविन्द स्वामी	१५६२-१६४२	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९६	२००६
१६	श्रीहरिराम जी व्यास	१५६७-१६५५	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	भक्तकवि व्यासजी	श्रीवासुदेव गोस्वामी	४०	२००९
१७	श्रीनन्ददास जी	१५७०-१६४०	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९६	२००६
१८	श्रीचन्द्रगोपाल जी	१५७२-	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१६१	२०१९

क्र०सं०	नाम	समय (वि० सं०)	संप्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
१९	श्रीछीतस्वामी	१५७३-१६४२	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९६	२००६
२०	श्रीचतुर्भुजदास जी	१५७५-१६४२	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९६	२००६
२१	श्रीसेवक जी (श्रीदामोदरदास जी)	१५७७-१६१०	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	३४९	२०१४
२२	श्रीगदाधर भट्ट जी	१५८०-१६१०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और व्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१५७	२०१९
२३	श्रीनरोत्तम-दास जी	१५८०-१६६८	माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय	चैतन्यमत और व्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	५६	२०१९
२४	श्रीरूपरसिकदेवजी	१५८७-	निम्बार्क संप्रदाय	वृहद्उत्सवमणि-माल की भूमिका	श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	ख	२०१८
२५	श्रीसूरदास मदन-मोहन जी	१५९०-१६२०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्य मत और व्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१५०	२०१९
२६	श्रीरसखान जी	१५९०-१६७५	वल्लभ संप्रदाय	श्रीकन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ	श्रीभवानीशंकर जी याज्ञिक	३१५	२०१०
२७	श्रीनागरीदेव जी	१६००-१६७०	हरिदासी संप्रदाय	निजमत् सिद्धान्त "अवसान खंड"	महन्त श्रीकिशोर-दास जी	९४	१९७२

२८	श्रीसरसदेव जी	१६११-१६८३	हरिदासी संप्रदाय	निजमत सिद्धान्त "अवसान खंड"	महन्त श्रीकिशोर-दास जी	१०५	१९७२
२९	श्रीनेहीनागरी-दास जी	१६२०-१६६०	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरणजी	४२२	२०१४
३०	श्रीध्रुवदास जी	१६३०-१७००	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	४२७	२०१४
३१	श्रीनरहरिदेव जी	१६४०-१७४१	हरिदासी संप्रदाय	निजमत सिद्धान्त 'अवसान खंड'	महन्त श्रीकिशोर-दास जी	१२०	१९७२
३२	श्रीगोस्वामी हरिराय जी	१६४७-१७७२	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	७९	२००६
३३	श्रीकल्याण पुजारी	१६६०-१७००	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिता चरण गोस्वामी	४७३	२०१४
३४	श्रीमाधुरी जी	१६७५-१७१०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और व्रज-साहित्य	श्री प्रभुदयाल जी मीतल	१९७	२०१९
३५	श्रीचतुर्भुजदास जी	१६८६-१६९०	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	४१०	२०१४
३६	श्रीरसिकदेव जी	१६९२-१७५८	हरिदासी संप्रदाय	निम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारी शरणजी	३१३	१९९७

रीतिकाल में वि० सं० १७०० से १६०० तक होने वाले प्रमुख मधुर रसोपासक संत एवं भक्त कवि:—

क्र०सं०	नाम	समय (वि०सं०)	संप्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
१	श्रीचन्द्रसखी जी	१७००-१७९०	राधावल्लभ संप्रदाय	चन्द्रसखी की जीवनी और पदावली	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	४७	२०१४
२	श्रीरूपसखी जी	१७२५-	हरिदासी संप्रदाय	श्रीरूपसखीजी की वाणी	श्रीरूपसखी जी	हस्तलिखित	
३	श्रीवल्लभरसिक जी	१७२५-	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२२३	२०१९
४	श्रीललितकिशोरी देव जी	१७३३-१८२३	हरिदासी संप्रदाय	अष्टाचार्योत्सव सूचना (श्रीभग-वत रसिक की वाणी के अन्तर्गत)	श्रीसहचरिशरण देव जी	१३६	१९७१
५	श्रीपीताम्बरदेव जी	१७३५	हरिदासी संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहार शरण जी	२९७	१९९७
६	श्रीहितरूपलाल जी	१७३८-१८०१	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिबंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरण जी	४८४	२०१४
७	श्रीवृन्दावनचन्द्र जी	१७४०-१८१०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२४९	२०१९

८	श्रीप्रियादास जी	१७४०-१८००	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२४३	२०१९
९	श्रीरसिकदास जी	१७४३-१७५३	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	५००	२०१४
१०	श्रीघनानन्द जी	१७४६-१७९६	निम्बार्क संप्रदाय	ब्रजमाधुरी सार	श्रीवियोगी हरि	१७३	२०१३
११	श्रीवृन्दावन-देवाचार्य	१७५४-१७९७	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीवृन्दावनांक 'वृन्दावन'	सं० श्रीब्रजवल्लभ शरण जी	४९१	२०१४
१२	श्रीअनन्य अली जी	१७५९-१७९०	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	४९१	२०१४
१३	श्रीनागरीदास जी (कृष्णगढ़ नरेश)	१७५६-१८२२	निम्बार्क संप्रदाय	भक्त-चरितांक (गीताप्रेस)	सं० श्रीहनुमान-प्रसाद पोद्दार	५७८	२००८
१४	श्रीमनोहर दास जी	१७५७-	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२३५	२०१९
१५	श्रीवंशी अली जी	१७६४-१८२२	विष्णु स्वामी संप्रदाय	विष्णु स्वामी जी और उनका संप्रदाय	श्रीगोविन्ददास जी 'वैष्णव'	४४६	२०१८
१६	श्रीचाचाहित वृन्दावनदास जी	१७६५-१८४४	राधावल्लभ संप्रदाय	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल	३२७	२०१४
१७	वृन्दावनदास जी	१७७५-१८४०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२८०	२०१९

क्र०सं०	नाम	समय(वि०सं०)	संप्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
१८	श्रीललितमोहनी देव जी	१७८०-१८५८	हरिदासी संप्रदाय	अष्टाचार्योत्सव सूचना (श्रीभगवत रसिक की वाणी के अन्तर्गत)	श्रीसहचरिशरण देव जी	१३६	१९७१
१९	श्रीरामहरि जी	१७९०-१८४०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२८६	२०१९
२०	श्रीमहन्त किशोर दास जी	१७९१	हरिदासी संप्रदाय	"श्रीबृन्दावनांक" बृन्दावन	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	२८६	२०१३
२१	श्रीभगवतरसिक देवजी	१७९५-१८५०	हरिदासी संप्रदाय	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्ल	३२९	२०१४
२२	श्रीगोविन्ददेवजी	१८००-१८१४	निम्बार्क संप्रदाय	"श्रीबृन्दावनांक" बृन्दावन	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	२२४	२०१३
२३	श्रीगोविन्दशरण देव जी	१८१४-१८४१	निम्बार्क संप्रदाय	"श्रीबृन्दावनांक" बृन्दावन	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	२२४	२०१३
२४	श्रीव्रजनिधि (सवाई) श्रीप्रतापसिंह जी	१८२१-१८६०	स्वतंत्र संप्रदाय	ब्रजनिधि ग्रंथावली	सं० श्रीहरि नारायण जी	४०	१९९०
२५	श्रीसहचरिशरण देव जी	१८३०-१८९४	हरिदासी संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क संप्रदाय	श्रीविहारी शरण जी	४१६	१९९७
२६	श्रीहठीजी	१८३७	राधावल्लभ संप्रदाय	ब्रजमाधुरी सार	श्रीवियोगी हरि	२३६	२०१३

२७	श्रीसर्वेश्वरशरण देवाचार्य	१८४१-१८७०	निम्बार्क संप्रदाय	"श्रीवृन्दावनांक" बृन्दावन	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	२२४	२०१३
२८	श्रीलाड़िलीदासजी	१८४२	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरण जी	५२१	२०१४
२९	श्रीरसिकगोविंद जी	१८५०-१८९०	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीविहारी शरण जी	४८७	१९९७
३०	श्रीकृष्णदास जी	१८५३	निम्बार्क संप्रदाय	माधुर्य लहरी	सं० श्रीकेशवदेवजी	६	२००६
३१	श्रीव्रजजीवन-दास जी	१८६१	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरण जी	५२२	२०१४
३२	श्रीहरिदेव जी	१८६२-१९१९	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और व्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३१५	२०१९
३३	श्रीनन्दकिशोर जी	१८७०-१९१२	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और व्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३१९	२०१९
३४	श्रीललितकिशोरी	१८८२-१९३०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	अभिलाष-माधुरी	श्रीललितकिशोरी	२	१९८८
३५	श्रीगल्लू जी	१८८४-१९४७	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और व्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३२८	२०१९
३६	श्रीललित माधुरी जी	१८८५-१९४२	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	अभिलाष-माधुरी	श्रीललितकिशोरी	११	१९८८
३७	श्रीनारायण स्वामी	१८८५-१९९७	स्वतंत्र संप्रदाय	व्रजमाधुरी सार	श्रीवियोगी हरि	२५९	२०१४

क्र०सं०	नाम	समय(वि०सं०)	संप्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
३८	श्रीसहचरिसुख जी (सुख सखी)	सत्रहवीं शती	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरण	४६७	२०१४
३९	श्रीरसिकमोहन राय	सत्रहवीं शती	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१८८	२०१९
४०	श्रीकिशोरीदासजी	अठारहवीं शती	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२१४	२०१९
४१	श्रीब्रह्मगोपाल जी (प्रियासखी)	अठारहवीं शती	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३०४	२०१९
४२	श्रीअलबेलीअलि जी	अठारवीं शती	विष्णु स्वामी संप्रदाय	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य श्रीराम-चन्द्र शुक्ल	३२७	२०१४

——————

आधुनिक काल में वि० सं० १९०० से २०२० तक होने वाले प्रमुख मधुर रसोपासक संत एवं भक्त कवि:—

क्र०सं०	नाम	समय (वि०सं०)	सम्प्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
१	श्रीसुदर्शनदास जी	१९०३-१९७९	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	६९०	१९९७
२	श्रीभारतेन्दुहरिश्चंद्र	१९०७-१९४१	वल्लभ संप्रदाय	ब्रजमाधुरी सार	श्रीवियोगीहरि	३१५	२०१३
३	श्रीदुर्गादत्त जी	१९१३-१९७५	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क संप्रदाय	श्रीबिहारीशरण जी	६८४	१९९७
४	श्रीराधाचरण गोस्वामी	१९१५-१९८२	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३४६	२०१९
५	श्रीनवनीत चतुर्वेदी	१९१५-१९८९	वल्लभ संप्रदाय	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य श्रीरामचंद्र शुक्ल	५३४	२०१४
६	श्रीपरमहंसदास जी	१९१६-१९९४	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	७३२	१९९७
७	श्रीमाधवदास जी	१९१९-२००१	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीसर्वेश्वर वर्ष ८ अंक १०	श्रीजयरामदेव जी	११	२०१७
८	श्रीदाऊगोवर्द्धनदास जी	१९२०-१९९३	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधरी	श्रीबिहारीशरण जी	७१९	१९९७

क्र०सं०	नाम	समय (वि०सं०)	संप्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
९	श्रीदामोदरदेव भट्टाचार्य	१९२३	वल्लभ संप्रदाय	ध्यानमंजूषा	प्रका०—विद्या-विभाग कांकरोली		१९९९
१०	श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर	१९२३-१९८९	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३५०	२०१९
११	श्रीबाँकेप्रिया	१९३२-१९९६	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३५७	२०१९
१२	श्रीराधिकादास जी	१९३३-१९८९	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क-माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	७२६	१९९७
१३	श्रीकृष्णानंददास जी	१९४०-१९९८	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३६१	२०१९
१४	श्रीमुरलीधर जी गोस्वामी	१९४७-१९८६	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क-माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	७०६	१९९७
१५	श्रीभोलानाथ जी (श्रीहितभोरी सखी)	१९४७-१९८९	राधावल्लभ संप्रदाय —	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरण जी	५२६	२०१४
१६	श्रीकुंजविहारीदास जी	१९५६	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क-माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	७८३	१९९७
१७	श्रीशीतलदास जी	१९वीं शती	हरिदासी संप्रदाय	श्रीस्वामी हरिदास	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१४१	२०१८

१८	श्रीकिशोरीलाल जी गोस्वामी	१९वीं शती	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क-माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	६९८	१९९७
१९	श्रीप्रीतमदास जी	२०वीं शती	राधावल्लभ संप्रदाय	साहित्य रत्ना-वली	श्रीकिशोरीशरण जी अलि	७६	२००७
२०	श्रीमनोहरलाल जी गोस्वामी	२०वीं शती	राधावल्लभ संप्रदाय	साहित्य रत्ना-वली	श्रीकिशोरीशरण जी अलि	७८	२००७
२१	श्रीहीरासखी	२०वीं शती	राधावल्लभ संप्रदाय	साहित्य रत्ना-वली	श्रीकिशोरीशरण जी अलि	८१	२००७
२२	श्रीकिशोरीदास जी	२०वीं शती	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क-माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	६६४	१९९७
२३	श्रीव्रजवल्लभ-शरण जी	वर्तमान	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क-माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	७८८	१९९७
२४	श्रीयमुना वल्लभ जी	वर्तमान	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और व्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३६४	२०१९
२५	श्रीरामदास जी शास्त्री	वर्तमान	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और व्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३६७	२०१९

अष्टछाप के भक्त तथा अन्य भक्तों में माधुर्य (१३००-१७०० वि० तक):-

परम रम्य वृन्दावन के निकुंज में वृषभानुनंदिनी के साथ विहार करने वाले नंदनंदन इन रसिक भक्तों के प्राण हैं। इनके प्रेम के प्रवाह में बहते हुए वे एक क्षण भी उन्हें विस्मृत नहीं करते।[1] इसका एकमात्र कारण है—प्रिया-प्रियतम के परम मधुर रस का आस्वाद निरंतर करना। वे भक्त यह कामना करते हैं कि यह आनंद सदा उनके हृदयों को आह्लादित करता रहे और वे प्रत्येक क्षण युगलकिशोर का विलास तथा हुलास देखते रहें।[2] इन रसिकों का यह विश्वास है कि राधा-कृष्ण का यह नित्य विलास ही समस्त पापों को क्षार कर भवसागर से पार-उतार देगा। रसिकों की उपासना का सर्वस्व ही माधुर्य है। इस माधुर्य का अवलम्ब रखने वाला ही निरंतर राधा-कृष्ण का सामीप्य प्राप्त कर उनकी कुंज-लीला का दर्शन करता है। अत्यंत सौभाग्यशाली साधक श्रीराधा की कृपा प्राप्त करने के उपरांत सखी स्वरूप से इस विहार का माधुर्यपान करता है। अपनी लीलाविंशति के सिद्धान्त माधुरी नाम के प्रकरग में श्री रूप रसिक देवाचार्य ने कहा भी है"..... धन्य भाग है, सजनी! रसिक रसीले जू की रहसि निहारें दिन रजनी, ताते यह सुख जू है सु इनिके आश्रय विना अति दुर्लभ है। सुल्लभ जाही को है कि जा पर श्री निजदासी जू निज करि कृपा करें। यातें प्रथम इनिकौ आश्रय

---

१ सेऊँ श्री बृन्दाविपिन विलास।
जहाँ जुगल मिलि मंगल मूरति करत निरंतर वास।
प्रेम प्रवाह रसिक जन प्यारे कबहुँ न छाँड़त पास।
कहा कहौं भाग की श्रीभट राधाकृष्ण रस चास।
—श्रीभट्ट देवाचार्य कृत युगल शतक पृष्ठ २४

२ यह सुख रहौ सदा उर मेरे।
स्यामा स्याम सहज रंग-भीने कौ सखी! साँझ सबेरे।
बिलसनि हुलसनि हिय के हित की निरखत रहु नित नेरे।
श्रीहरिप्रिया और अभिलाष न लाखन कहुँ बहुतेरे।
—श्रीहरिव्यासदेवाचार्य कृत महावाणी पृ० १७०

लेइ जब इनिकी कृपा होइ तब सखी स्वरूप कौं प्रापति ह्वै करि श्रीमन्निज वृन्दावन में नित्य विहार कौ सेवन करें अरु निरंतर रूप माधुरी कौं पान करें।' इस प्रकार इस मधुर प्रणाली से भक्त जब अपने भगवान को प्यार करने लगता है, तो समस्त सुखों के एकमात्र कारण उसके प्रियतम कुंज-विहारी भी उसे प्यार करने लगते हैं। वृन्दावन के मनोहर कुंज में मानिनी राधा के वश में हुए श्याम सुन्दर निरंतर भक्तों के हेतु रस-सरिता की धारा बहाते रहते हैं और भक्त भी निरंतर उस रस की मधुरिमा का अनुभव करते हुये कभी तृप्त नहीं होते।[1] राधा वही करती हैं जो प्रियतम कृष्ण चाहते हैं और प्रियतम कृष्ण वही करते हैं, जिसे राधा चाहती हैं। दोनों एक दूसरे के बिना जीवित नहीं रह सकते, क्योंकि दोनों एक दूसरे के प्राणस्वरूप हैं।[2] इस झाँकी का दर्शन रसिक संप्रदाय के सान्निध्य से मधुर रसोपासक पाता है तथा यह कामना करता है कि जो जो लीला उसके युगलकिशोर करेंगे, उन्हें वह जीते-मरते किसी प्रकार भी सखियों के साथ सतृष्ण देखेगा और सेवा का अधिकार पायेगा।[3] जब तक भक्त को अपने भगवान

१—सुनहु रसिक श्री वृन्दावन को जस।
कुंज केलि मानिनी मनोहर परवस भये नाहिनै अपने वस।
यह वन नित्य नवीन जुगलवर द्रुम दल दिव्य स्रवत सलितालस।
श्रीवीठलविपुल विनोद विहारी को पान कियो चाहत रसना रस।
—वाणी वीठलविपुल देव पद सं० १

२—प्यारी जू प्यारे कौं भावे जो सहज करें,
करैं सोई प्यारे जो भावै प्यारी कौं सदा।
तन सों तन मन सों मन प्रान-प्राण बिक्री कियो,
जीवित न बिना देखें कोऊ कबहुँ एकदा।
प्यारी कौं पाय कें प्यारौ भयौ महाधनी,
प्यारी हू प्यारे कौं मानैं निज सम्पदा।
जय जय श्री रामराय श्री अनंग मंजरी के पाय,
परि परि पाइ जुगल रसिक प्रेम सम्प्रदा॥
—आदिवाणी, पद–१ (गो० रामराय कृत)

३—जीअत मरत मैं सेउँगो राधाकृष्ण।
तासु लीला स्थान देखूं होय कै सतृष्ण॥

के चरण युगल प्राप्त नहीं होते, उसका हृदय विरह की अग्नि से दग्ध होता रहता है। उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता, कभी वह जल में डूबने की बात सोचता है, तो कभी अग्नि की प्रज्वलित लपटों में अपने उस शरीर को भस्म करने की बात सोचता है, जिसे प्रियतम का सान्निध्य नहीं मिला। और जब कभी उसे अपने प्यारे के दर्शन हो जाते हैं, फिर तो वह और भी विकल हो जाता है, उसे कोई दिशा ऐसी नहीं दिखाई देती जहाँ उसके प्यारे श्यामसुन्दर की झाँकी न मिले। वह कहता है कि बिना प्रभु के देखे भी चैन नहीं पड़ता और जब दिखाई देते हैं तो आस-पास, इधर-उधर, चारों तरफ। इस स्थिति में उसका अपने भगवान के साथ निरंतर रहने का दृढ़ निश्चय हो जाता है।[1] कितनी कठिन साधना है, बिलकुल ठीक तलवार की धार की तरह तीखी, जब जरा सी चूक हुई और सब कुछ बेकार हो गया। इसलिए मदन मोहन का यह व्रजविलास रसिक भक्तों के लिए ही सार स्वरूप है, अन्य जन इसे देखकर केवल मात्र आश्चर्य कर सकते हैं और रसिक जन तो प्रतिक्षण आनंद के साथ इस रस-माधुर्य का पान ही करते हैं।[2]

राधा-कृष्ण का प्रेम-तत्व अत्यंत रहस्यमय, दुर्लभ, दुर्घट तथा दुर्गम है, इसका आदि, मध्य और अंत कल्पना के परे है। रसिक उसे प्रत्यक्ष करते

जहाँ जो जो लीला करै युगल किशोर,
सखिन के संग लख होऊँ मैं विभोर....... ।।
—नरोत्तम दास कृत प्रार्थना, २७

१ हौं कहा करौंरी कितहि जाउं।
जित देखौं तित ही देखो यैरी नंदनन्दन बिन कनहू ठाउं।
बिन देखेऊ न रह्यौ परै सखीरी कहि कैसे रात जौ गाउ।
सूरदास मदनमोहन मेरे अब यहै आवति हीये इनिही सौं हिल-
मिलि रहाऊँ ।।
—वाणी सूरदास मदनमोहन, २३

२ श्री वृन्दविपिन विलास सार है।
घीर गंभीर भीर कोलाहल बानी गुन गाढ़ौ विचार है।
रसिकन कौं रसखान दान सुख औरनि कौं अद्भुत अपार है।
श्री व्यास सुवन पद बल नागरीदास ताही सौं बानी हिय हार है ।।
—नागरी दास जी की वाणी, पद सं० ३०

हैं। जिस प्रकार गजराज समुद्र को झकझोर कर अपनी तृषा को शांत करता है उसी प्रकार के भक्त रस-समुद्र से अपनी रसोपासना की लालसा-प्यास को शांत करते हैं। उस रस का एक बार आस्वाद हो जाने पर संसार के सभी रस बेकार हो जाते हैं। और तब भक्त हर समय रसमत्त रह कर अपने प्रभु को सर्वस्व अर्पण कर देता है। उसके लिए वही घड़ी, वही पल, वही क्षण सौभाग्यशाली होता है, जब उसे उसके प्यारे मिल जाते हैं, इतना ही नहीं उसे वे भी प्यारे जान पड़ते हैं, जिन्होंने उसे यहाँ तक पहुँचाने में अपना योगदान दिया है। राधा-माधव के इस मधुर रस के पीने वाले का जीवन ही तो जीवन है। जिसने इसे पी लिया वह प्रफुल्लित हो जाता है, उसे शरीर की सुधि भूल जाती है और वह नाचने लगता है। इस रस का पान करने वाला ही वास्तविक रसिकों का प्यारा है और मदनमोहन उसी को अपनी कुंज सेवा का अधिकार भी दे देते हैं। भक्त कवि व्यास जी का कथन है—

कोई रसिक स्याम रस पीवैंगौ,
पीवैंगौ सोई जीवैंगौ।
पीवैंगौ सोई फूलैंगौ,
तन-मन देख न भूलैंगौ।
पीवैंगौ सोई नाचैंगौ,
साधु-संग मिलि राचैंगौ।
चाखैंगौ सो जानैंगौ,
कहनै कौन पत्यानैंगौ।
व्यासदास जिय भावैंगौ,
तब अंग खवासी पावैंगौ ॥२२३॥

—भक्त कवि व्यास, पृष्ठ २५२

विश्वास कोई नहीं करेगा। करेगा भी कैसे! विश्वास करने योग्य कोई बात हो, तो विश्वास किया जाय। यह तो अनुभव की वस्तु है, जिसने अनुभव किया उसी ने जाना है। संसार से वैराग्य और रसिकों का संपर्क दोनों ही बातें अत्यंत कठिन हैं और फिर उससे भी कठिन है—वृन्दावन-वास। जिसने ब्रज को पवित्र करने वाली कालिन्दी के मनोहर कूल पर अपना निवास बनाया हो और प्रेम या मधुर उपासना के द्वारा कुंज-केलि के मधुर रस का आस्वादन निश्चय किया हो, वही इस रस को जान सकेगा। इसी की

प्रशंसा निरंतर रसिक जन करते हैं। इस रस का पान करने वाला निश्चय ही उस हंस के समान है, जो मानसरोवर में मुक्ताओं को चुगता है। श्री राधिका जी की परम प्रिय सखी ललिता आदि इस सर्वोपरि रस का निरंतर पान कुंज के मध्य में करती हैं।[1] रसिकजन निम्नलिखित प्रणाली से इसे प्राप्त कर राधा-माधव का सामीप्य प्राप्त करते हैं:--

प्रथमहिं मंजन कीजिए, सौरभ अंग लगाइ।
ता पीछे रचि-पचि करै सुन्दर तिलक बनाइ।
तिय के तन को भाव धरि सेवाहित शृंगार।
युगल महल की टहल को तब पावे अधिकार।

—ध्रुवदास कृत, भजन सतलीला (बयालीस लीला) पृ० ६८

अष्टछाप के कवियों की दृष्टि में, यह वृन्दावन, उसमें निरंतर विद्यमान रहने वाले श्री राधिका-कृष्ण, उनका रास एवं कुंजविहार आदि सब कुछ नित्य है। समस्त संसार को इस रस का आस्वाद कराने के हेतु ही साक्षात् ब्रह्म ने मदन मोहन का रूप अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा के साथ धारण किया है और शीतल मंद सुगन्ध नित्य वायु से परिपूरित नित्य निकुंज में अपने उस नित्य विहार का दर्शन एवं रस का प्रसारण किया है,[2] जिसे गोपीभाव से युक्त होकर ही साधक प्राप्त कर पाता है,[3] इस भाव को प्राप्त

---

१ सर्वोपरि है मधुर रस, युगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवति तिनहिं मिटत न कबहुँ हुलास॥

—बयालीस लीला पृष्ठ ६३

२ नित्यधाम वृन्दावन स्याम, नित्य रूप राधा ब्रजधाम।
नित्य रास जल नित्य विहार नित्य मान खंडिताभिसार॥
ब्रह्मरूप येई करतार करन हरन त्रिभुवन येई सार।
नित्य कुंज-सुख नित्य हिंडोर नित्यहिं त्रिविध-समीर झकोर॥

—सूरसागर (ना० प्र० स०) ३४६१

३ जो कोइ भरता भाव हृदय धरि ध्यावै,
नारि पुरुष कोउ होइ श्रुति ऋचा गति सो पावै।
तिनके पद रज जो कोई वृन्दावन भू माहिं,
परसे सोऊ गोपिका गति पावे संसय नाहिं॥

सूर सागर (वे० प्रे०) ३६४

करने के उपरांत ही सुन्दर श्याम कमल दल लोचन अपनी प्यारी वृषभानु किशोरी के साथ उस साधक के हृदय में निवास करने लगते हैं, जो एक दीर्घ काल से इसकी कामना में रत था। इनके दर्शन प्राप्त होने पर साधक उस सौन्दर्य-माधुर्य को अभिव्यक्त नहीं कर पाता है।[1] अष्टछाप के कवियों ने भी श्याम सुन्दर की उपासना को रसमय करने की दृष्टि से ही अपनी प्रणाली में राधिका जी की उपासना को प्राथमिकता दी है। वे जानते हैं कि श्रीकृष्ण का प्रेम राधा जी की कृपा से ही प्राप्त होता है—

रूप रासि, सुख रासि राधिका सील महागुण रासी।
कृष्ण चरण ते पावहिं स्यामा जे तुव चरण उपासी।।
—सूर सागर (ना० प्र० स०) १६७३

भक्तों के लिये श्यामा के चरण मधुर रस के स्रोत हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण का रूप अखंड है, उसी प्रकार परम उज्ज्वल रस का यह स्रोत अखंड है।[2] इस उज्ज्वल रस के स्वभाव तथा शोभा में एक विचित्र बाँकापन है। इसके प्रभाव से पत्थर पानी और पानी पत्थर हो जाता है।[3] भक्तों का तो यहाँ तक कथन है कि इस रस को साक्षात् कमला ने निरंतर अपने प्रियतम की सेवा करने पर भी नहीं प्राप्त कर पाया था। यथार्थ में इसका स्पर्श तथा अनुभव करने वाला रसिक ही इसके तत्व को समझ पाता है। जिस प्रकार भ्रमर की अपेक्षा कमल को कोई पहचान नहीं सकता, उसी

---

१ बसो मेरे नैननि में यह जोरी।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन, संग बृषभानु किसोरी।।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल पीताम्बर झकझोरी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कों का बरनौं मति थोरी।।
—सूर सागर, (ना० प्र० स०) १२०७।१८२५

२ जैसोई कृष्ण अखंड रूप चिद्रूप उदारा।
तैसोई उज्जल रस अखंड तिन कर परिवारा।।६१।।
—सिद्धांत पंचाध्यायी (नंद ग्रं०) पृ० ४५

३ उज्जल रस को यह सुभाव बाँकी छवि छावे।
बंक चहनि पुनि कहनि बंक अति रसहिं बढ़ावे।।७१।।
—नंद ग्रं० रासपंचाध्यायी पृष्ठ १०

प्रकार रसिक के बिना रस तत्व को कौन जान सकता है ?[1] इस में सराबोर भक्त के हृदय में भगवान श्रीकृष्ण की वह त्रिभंगी मुद्रा जम कर इस प्रकार से बैठ जाती है कि फिर प्रयत्न करने पर भी उसे हटाया नहीं जा सकता। यह प्रभाव रँगीले प्रेम का ही है कि श्माम सुन्दर निकाले से नहीं निकलते। हरि के भक्तों का सत्संग और उनकी रसमयी लीला का गान करने वाला रसिक ही इस एकांत मधुर भक्ति को प्राप्त करता है। यथा—

हरि दासन को संग करे हरि लीला गावे।
परमकांत एकांत भगति रस तो भल पावे ।।११८।।

—न० ग्र० रास पंचाध्यायी पृष्ठ ३७

वृन्दावन के इस मधुर रस का रंग चढ़ते ही साधना करने वाले का सारा अभिमान चूर हो जाता है, समस्त सांसारिक विषय नीचे छूट जाते हैं और सखी भाव उत्पन्न हो जाता है। उसके हृदय में रस की तरंगें उठने लगती हैं, मन का कलुष दूर चला जाता है और साधक के लौकिक काम का नाश होकर मधुर प्रेम का प्राकट्य होता है।

लगे जो श्री वृन्दावन रंग।
देह अभिमान सबै मिटि जैहै अरु विषयन कौ संग।
सखीभाव सहज होय सजनी पुरुष भाव होय भंग।
श्री राधावर सेवत सुमिरत उपजत लहर तरंग।
मन कौ मैल सबै छुटि जैहै मनसा होय अपंग।
परमानन्द स्वामी गुन गावत मिटि गये कोटि अनंग ।।८३७।।

—परमानन्द सागर पृ० २९४

इसके प्रकट होते ही रसिक भक्त अपने युगल सरकार पर अपना तन, मन न्योछावर करने लगता है। और यह कहता है कि कुंज के रन्ध्रों से कब ऐसा होगा जब मैं बार-बार राधा-माधव की रस-लीला को देख सकूँगा। इसके साथ ही साथ वह अपनी सेवा-भावना को भी प्रकट कर देता है, दर्शन करने पर उसे अपने इष्टदेव की प्रत्येक चेष्टा रसमय दीख पड़ने लगती है

---

१ रस परसे बिनु तत्व न जाने।
अलि बिनु कँवलहिं को पहिचाने ।।

—रूप मंजरी, (नंद ग्र०) पृ० ११७

और फिर समस्त मर्यादाओं की चिन्ता न करते हुये वह रस स्वरूप नंद-नन्दन के मधुर प्रेम में तन्मय हो जाता है—

रसिक सिरोमनि नंद नंदन ।
रसमय रूप अनूप विराजित गोपब्रंधु उरु सीतल चंदन ।
नैननि में रस चितवनि में रस बातनि में रस ठगत मनुजपसु ।
गावनि में रस मिलवनि में रस बेनु मधुर रस प्रगट पावन जस ।
जिहि रस मत्त फिरत मुनि-मधुकर सो रस संचित ब्रज बृन्दावन ।
स्याम धाम रस रसिक उपासित प्रेम प्रवाह सुपरमानंद मन ।।४५।।

—परमानन्द सागर पृ० ४५६

हरि के नेत्रों की चितवन, रसमयी बातन और सुरीले गायन की रसमयी झाँकी को कौन अपलक नहीं देखना चाहता ? मुनिजन भी तो उसी को देखने की लालसा में रसमत्त रहकर दिन रात वृन्दावन का सेवन करते रहते हैं। यही वृन्दावन तो रस रूप का धाम है। राधाकृष्ण दोनों एक दूसरे के हेतु रस-रूप होकर यमुना के पुलिन पर निरंतर त्रिविध समीर का सुख लेते हुए परस्पर कंधे पर हाथ रख कर विचरण करते हैं। उनका चमचमाता हुआ कुंडल और पीताम्बर तथा मुरली की मधुर ध्वनि समस्त गोपीजनों को क्यों नहीं मोहित करती ? वे तो मोहन हैं ही, इसीलिये सभी को वे मोहित कर लेते हैं। चतुर्भुजदास भी इस आनंद को निरंतर लूटते हैं। यथा—

विहरत लाल विहारी दोउ श्री जमुना के तीरे-तीरे।
त्रिविध समीर सुवन घन बरसत अंसनि पर भुज भीरें-भीरें ।
केकी कच पीतम्बर ओढ़े कुंडल छवि नग हीरें-हीरें ।
मुरली धुनि सुनि धाईं ब्रज जुवती आपुन हैं हरि नीरे-नीरे।
मनो मत्त गजराज विराजत धरनि धरत पग धीरें-धीरें ।
'चतुर्भुज दास' आनंद सब निरखत लोचन हैं अति
सीरें-सीरें ।।२१०।।

—चतुर्भुज दास पद-संग्रह, पृष्ठ ११४

इन्हीं प्रियतम इष्टदेव को रसिक भक्त अपनी प्रीति से अपने वश में कर लेता है। एक क्षण भी वह इनका विरह सहन नहीं कर पाता, क्योंकि मधुर रस के रँग में वह रंगा हुआ होता है। इस रंग में रँगा हुआ रँगीला रसिक बार-बार परमात्मा से यही कहता है—

अहो विधना ! तोपर अंचरा पसारि माँगौं,
जनमु-जनमु दीजै याही ब्रज बसिबो ।
अहीर की जाति समीप नंद-घरु,
घरी-घरी घनश्याम हेरि-हेरि हँसिबो ।
दधि के दान मिस ब्रज की बीथिन में,
झकझोरनि अंग-अंग को परसिबो ।
'छीत स्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल,
सरद-रैनि रस-रास को बिलसिबो ।। ११७ ।।

—छीत स्वामी पद-संग्रह, पृष्ठ ५१

रस-रास में विलास प्राप्त करना महान कल्पना है । अंग प्रत्यंग का स्पर्श, वह भी संसार के संचालक के साथ ? बड़ा कठिन कार्य है । किन्तु सरल है उनके लिए जिन्होंने अपने आप को सौंप दिया है उस रसिक-शिरोमणि के चरणों में । वे रसिक अपने प्राण प्यारे के मुख-कमल पर, उनके गीत गायन पर और उनके वेणुवादन पर अपने को बलिहार कर देते हैं । वे सतत् अपने प्रियतम से यही कहते हैं कि आप अपनी अमृतमयी मुस्कान से मेरे नेत्रों की तपन को मिटा दीजिये तथा शरीर की विरहाग्नि को शांत कीजिए । हे प्यारे ! बड़े भाग्य से मैंने तुम्हारे जैसा प्रियतम पाया है । कितना माधुर्य है इस 'प्रियतम' शब्द में ! शब्द के कानों में पड़ते ही रति आगे बढ़ जाती है, समस्त संसार का त्याग नाग की केंचुल के समान हो जाता है । यथा—

प्रीतम सूचक शब्द सुनत जब अति रति बाढ़ै ।
होत सहज सब त्याग नाग जिमि कंचुकि छाँड़े ।। ३२।।

—सि० पं० पृ० ४०

ऐसे प्रीतम मन मोहन से किसका मन नहीं उलझता ? फिर रसिकों की तो बात ही क्या है, वे तो निरंतर उस छवि का गान ही किया करते हैं । नव निकुंज में खड़े हुए रसिक शेषर से जिसका मन लग गया, उसे कौन छुड़ा सकता है ? वह तो प्रीत के फंदे में ऐसा जकड़ जाता है कि फिर छूटता नहीं । ठीक भी है, प्रेम के घेरे को तो इतना सुदृढ़ होना ही चाहिए । प्रेम के उस पवित्र घेरे में जाकर रसिक अपने प्यारे का सौन्दर्य और उनकी मुस्कान के माधुर्य का ही पान करता है, गिरधर लाल के सिवा फिर उसे कोई नहीं भाता । यथा —

अरुझि रह्यौ मोहन सों मन मेरौ।
छूटत नेकु न छुड़ायौ सजनी ! चहुँ दिशि प्रेम रह्यौ करि घेरौ।
नख सिख अंग रंगीली बानिक मुसकनि मंद महा रस झेरौ।
'कुँभनदास' लाल गिरधर बिनु भावत नाहिन कोउ अनेरौ ।।२३८।।

कुंभनदास पद संग्रह, ८६

रीतिकालिक कृष्ण भक्तों में माधुर्य (१७००-१८००)

इस युग के मधुर रसोपासक भक्त कवियों ने सखीभाव से युक्त होकर निकुंज में विहार करने वाले राधा-कृष्ण युगल को अपना इष्टदेव बनाया था और सिद्ध सखियों की भावना कर युगल किशोर की सेवा का अधिकार प्राप्त किया था। १३वीं शती से लेकर १७ वीं शती तक तो भक्ति का प्रवाह ही तेजी से गतिमान हो उठा था, इसलिए भक्तिपरक रचनाओं का होना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं थी। किन्तु इस रीति युग में (जब कि कवि जन लौकिक शृंगार की धारा को अपने आश्रयदाताओं की तुष्टि के हेतु प्रवाहित कर रहे हों) साधना की इस रस-प्रणाली के अवलम्ब से भक्ति के मार्ग को प्रशस्त कर राधा-कृष्ण की अलौकिक लीला की अभिव्यंजना करना बहुत बड़ी बात थी। हिन्दी कृष्ण-काव्य की पवित्र मन्दाकिनी को इस युग के मधुर रसोपासकों ने निस्सन्देह कलुषित होने से बचाया है और काव्य की कला को सार्थकता प्रदान की है। इन भक्त कवियों की दृष्टि में शायद कला वही थी, जो निरंतर स्थूल से सूक्ष्म की ओर चले। जिस कला की भोग में विश्रांति है, उसे इन रसिकों ने कला नहीं समझा। यही कारण है कि इनकी कविता में शृंगार भक्ति का माधुर्य होकर चमत्कृत हो उठा। उसने संतोष भी दिया और शांति भी। यहाँ एक बात यह स्मरण रखने योग्य है कि इन कवियों का समूह रीतिकाल के शृंगारी कवियों की शाही जगमगाहट से बहुत दूर एकांत में निवास करने वाला था। इन रसिक भक्तों ने अपना केन्द्र वृन्दावन को बनाया था और वहीं की रज में पड़े रह कर वे निरंतर अपने प्रियतम इष्टदेव राधा-माधव की याद में तल्लीन रहा करते थे, तथा उनकी कुंजलीला का गान करते थे। इन माधुर्योपासक रसिक भक्तों की यह धारणा नितांत रूप से सत्य है कि राधा-कृष्ण के प्रेम का माधुर्य वही लूट सकता है, जिसने कनक और कामिनी का त्याग कर संसार के विषयों से विरक्ति ले ली हो। गोपियों ने संसार का त्याग करके ही अपने प्यारे मदन

केलि के रस का पान करता रहे। राधा-कृष्ण युगल की रूप-माधुरी का निरंतर पान करते हुए भक्त मिलकर इस रस को पीता है। उसके प्यारे इष्टदेव उसे प्रत्येक चेष्टा में रसमय ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी बात भी रस की है और घात भी, दृष्टि भी रस की है और रीति भी, उनकी प्रीति भी रस की है तथा उमंग भी रस की—यहाँ तक कि समस्त सखियाँ उसे रसमयी दृष्टिगत होती हैं।[1] इस महा मधुर रस के आनन्द का ग्रहण उनके मन ने अत्यंत विचार करने के उपरान्त सांसारिक विषयों को त्याग कर किया है। वह निरंतर गौर-स्याम का स्मरण करता है। ऐसे रसिक के हृदय में नित्य निकुंजेश्वरी सर्वदा निवास करती हैं और वह स्वयं भी राधा के भाव के अन्दर निरंतर रहता है। केलि-सुख के दर्शन तथा रसास्वाद की चाह भक्त को इस स्थिति में पहुँचा देती है कि वह निरंतर कुंज महल में कनक केलि के समान लिपटी हुई गौर-श्याम की झाँकी देख सके। यह झाँकी ही उसकी सबसे बड़ी निधि है। नेत्रों से युगल का रूप, रसना से युगल का नाम, श्रवण से युगल की कीर्ति आठोयाम सुनने की वह (भक्त) चाह करता है। यथा—

कुंज महल में बैठक राखे कुंज महल में केलि।
गौर स्याम लपटे रहैं मानो कनक की बेलि।
नैन विहारी रूप निरखि रसन विहारी नाम।
श्रवन विहारी सुयश सुनि निस दिन आठों जाम।

---

१ रस में रस पिये कुंज बिहारी।
रस की बात घात पुनि रस की रस ही सों रस दृष्टि निहारी।
रस की रीति प्रीति पुनि रस की रस की उमगनि सहज हियारी।
रस की सखी रसिक हरिदासी रसभयो ललित प्रिये उर हारी ॥६३॥ ललितकिशोरी
—अष्टाचार्य वाणी पृष्ठ ८५६ (हस्तलिखित प्रति)

ना काहू सों रुसनो ना काहू सो रंग ।
ललित मोहिनी दास कों अद्भुत केलि अभंग ।।

—अष्टाचार्य वाणी पृष्ठ ८९२-९३
(हस्तलिखित प्रति)

भक्तों का तो यहाँ तक विश्वास है कि वे श्याम सुन्दर अपनी प्रियतमा श्रीराधिका जी के साथ नेत्रों के सुन्दर मार्ग से प्रवेश कर काया रूपी कुंज के मन रूपी निकुंज में नित्य विलसते हैं। यथा—

काया कुंज निकुंज मन नैन द्वार अभिराम ।
भगवत हृदय सरोज सुख विलसत स्यामा स्याम ।।५।।

—अनन्यनिश्चया० नवरस दो० पृष्ठ २८

प्रिया-प्रियतम का यह स्वच्छंद विचरण समस्त रसिकों के मन को रस पान करने वाले भ्रमर के समान मतवाला बना देता है। उनका यह माधुर्य भक्तों के प्राणों का आधार है। वृन्दाविपिन विहारी रसिकवर नागर वृषभानुनंदिनी की अनुपम प्रीति के साथ रास-रसासव में मत्त विहार करते हुए अपने उज्ज्वल रस-सागर में सब को डुबा देते हैं—

श्री राधा रमण रसिकवर नागर वृन्दाविपिन विहारी ।
आनंदघन ब्रजराज लाडिले मिलि वृषभानु दुलारी ।
कीरति कुंवरि कुंवर जसुमति के ललितादिक सुखकारी ।
रास रसासव मत्त परस्पर अनुपम प्रीतम प्यारी ।
नवल किशोर किशोरी सोहन भोंह नैन चहु चारी ।
गौर स्याम तन वसन आभरन अंग-अंग उनहारी ।
उज्जल सागर सब विधि आगर प्रेमामृत विस्तारी ।।

---

१ मन तें भली कीनी बीर !
महामधुर रस पान कीनो छाँड़ि विषया नीर ।
गौर स्याम हित चित्त दीनों जानि यह निज पीर ।
ललित केलि के रंग रन में मढ्यो सुभट सुधीर ।।
—अष्टा० वा० पृ० ७८९ ललित किशोरी (हस्तलिखित प्रति)
(नोट—प्रबंध लेखक को अष्टाचार्यों की वाणी की हस्तलिखित प्रति श्रीहरिदास संप्रदायानुयायी भक्त-प्रवर श्री राधामोहनदास जी से प्राप्त हुई है।)

निसि-वासर अनुराग रगमगे सह सात्विक संचारी.......।
छिन-छिन नव-नव महा माधुरी परिजन प्राण अधारी।
अन-गन गुन गंभीर अपरिमित शोभा संपति धारी।
श्री गोपाल भट्ट प्रभु सर्वस धन परम मनोहर बलिहारी॥

—मनोहर दास जी राधारमण रस सागर पृ० ३

निस्संदेह राधा-माधव के इस निसि-वासर अनुराग में रंगे हुए समस्त खग, मग, द्रुम तथा बेलि आदि सच्चिदानन्दमय हो जाते हैं और भक्तों के हृदय इस महामधुर के आस्वाद हेतु मधुप बन जाते हैं। इस माधुर्य को उत्पन्न करने वाली जो प्रीति है उसका तो कहना ही कठिन है—इसे तो वही जान सकता है जिसके गले यह पड़ गई हो। यथा—

कहा कहौं, कैसी कहौं जैसी है यह रीति।
तब ही कोऊ जानि है गरे परेगी प्रीति॥

इस प्रीति के वशीभूत हो कर रूप, प्रेम तथा रस के सार रूप वृन्दावन में राधा-कृष्ण विहार करते हैं। इस विविध प्रकार के विलास का आनंद सखी जन ही उठा सकते हैं। यथा—

विलसत विविध विलास विहारी।
या सुख की सखि है अधिकारी॥

—रसिकदासकृत अद्भुत लता*

इस विहार की गति अद्भुत है। निरंतर आनंद का स्रोत इसमें उमड़ता रहता है, और भाता भी उन्हीं को है जिनके नेत्रों की ज्योति हैं—वे रसमय युगल। मधुर प्रेम में पगे भक्तों के चरण-कमल का सामीप्य पाने की लालसा इस उपासना-पद्धति पर चलने वालों को होती है। यथा—

मधुर प्रेम में जे पगे हित चरननि दृढ़ आस।
तिन के चरण-सरोज में अनन्यअली को वास॥ ६॥

—आशाष्टक ९

सांसारिक जनों के लिए तो यह मार्ग अत्यंत कठिन है और इस पद्धति से प्राप्त होने वाला रस नितांत दुर्लभ! इसे प्राप्त करने के लिए ललित त्रिभंगी को हृदय में धारण करना ही पड़ेगा। इतना ही नहीं, जब मस्तक

---

* श्रीहितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य पर उद्धृत।

को हाथ पर ले लिया जायगा (सर्वस्व त्याग), नेत्रों से अविरल आंसुओं की धार बहने लगेगी, धैर्य छूट जायगा, संसार के विषयों से चित्त विरक्त हो जायगा और इसी रसासव को एकमात्र पाने की भावना रहेगी, तभी इसे पाया जा सकेगा, अन्यथा नहीं। यथा—

बिन सिर प्रेमी रहे निरंतर सिर सांटे पिय पावे।
नैननि नीर धीर तजि जीवे छिन-छिन गुण गन गावे।
जगत तें सदा उदास आस इक रस रस आसव भावे।
(जै श्री) रूपलालहित ललित त्रिभंगी हितचित और न आवे*॥

सखी भाव के बिना यह रस अत्यंत दूर रहता है। सर्वप्रथम गुरु-मुख से इसे श्रवण कर भावुक भक्तों का सत्संग अपेक्षित है, तत्पश्चात् रस-पद्धति के गौरंग मंत्र का चित्त में धारण और फिर युगल की प्रेम-लीला का गान, यही विधि है इसे पाने की।

यह रस दूरि बिनु अलिभाउ।
गुरु-मुख लहि रस भेद भावक भक्त संग उपाउ।
रस पद्धति गौरंग मंत्र उपास धरि चित चाव।
वृन्दावन हित रूप लीला प्रेम गरुवो गाव॥ १६॥

—रसिक पथचंद्रिका, पद भाग, चाचा वृन्दावन दास

जिस प्रकार पतिव्रता अपने पति की आज्ञा के अधीन रहती है उसी प्रकार दम्पति (इष्टदेव राधा-कृष्ण) की सेवा में रसिक भक्त तल्लीन रहता है। यथा —

पतिव्रता जैसे रहे पति अग्या आधीन।
ऐसे रसिक अनन्य रहैं, दम्पति सेवा लीन॥ ५॥

—विवेक-पत्रिका वेली, चाचा वृन्दावन दास

जब अनन्य भावुक जनों के नेत्र उन माधुर्य रस-सिन्धु दम्पति के यहाँ मीन रूप होकर विचरने लगते हैं, तभी यह तल्लीनता संभव है। प्रीतम के गले में बाँहें रख कर कुंज में नित्य रस बरसाने वाली छवि ही इस तल्लीनता का एकमात्र आधार है। रसामृत को सरसाने वाली इस युगल छवि की ललित लीलाओं का स्वाद जो पा गया है, उसकी जिह्वा फिर और कुछ नहीं गाती। महा मधुर रस पान से छका हुआ मन, विवश दशा, रोमांचित शरीर और

* श्रीहितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य पृ० ४८७ पर उद्धृत।

रूपरस के प्यासे नेत्रों को लिए हुये अनन्य रसिकों के लिये राधा-माधव युगल के सिवाय और कौन (दूसरा) उपास्य हो सकता है ?

या रस को स्वाद जो आवे ।
रसना फिर न और कछु गावे ॥ ८५ ॥
महा मधुर रस पान छकै मन ।
विवस दशा अति रोमांचित तन ॥ १८१ ॥
विवस दशा गति कही न परई ।
दरस प्यास नैननि जल भरई ॥ १८६ ॥
जीवन एक युगल रस जाके ।
मन में और ठौर नहिं ताके ॥ २०३ ॥

—घनानंद-भावना प्रकाश

ऐसे उपास्य देव के प्रति रसिक भक्त का कथन है कि वह उनकी शय्या बनायेगा, उन्हें रसरीति से विहार-स्थल पर लायेगा, उनके मुख-कमल की प्रेममयी लालिमा की शोभा देखेगा, प्रिया-प्रियतम की केलि में सहायक रूप से रहेगा, भोर होते ही भैरवी सुनायेगा और युगल के अलसाते शरीर को सहारा देगा—इस प्रकार अपने रँगीले श्याम-श्यामा को अपने हृदय में बसाकर चातक के समान उस घने-आनंद का पान करेगा।[1]

प्रेम के इस आनंन्द से परिपूर्ण सरोवर में प्रवेश करते ही हृदय में

१—राधा मदन गोपाल की हौं सेज बनाऊँ ।
लाल बिहारिन को तहाँ रस रीतिन ल्याऊँ ।
जुगल बदन मद मदन को लाली लखि छाऊँ ।
आँचरु ऐंचि रहैं प्रिया हौं कछुक छुटाऊँ ।
या बिधि मन भायो करौं जागि रैन बिताऊँ ।
बड़े भोर अनुराग सों भैरवी जमाऊँ ।
निरखि डगमगी डगनि को भुज गहि सम्हराऊँ ।
नित नूतन रस रीति की चित चोंप बढ़ाऊँ ।
सहज रँगीली जोट कौं जिय बीच बसाऊँ ।
चित्त-चातक आनंदघने रस परस रमाऊँ ।।

—घनानंद पदावली, पृष्ठ३४२-४३-४४

उस प्रेम के देवता का निवास हो जाता है।[1] जिन्होंने अपने हृदय को उस युगल छवि के प्रति समर्पित कर दिया है, उन्हें अन्य वस्तु की चाह फिर नहीं रहती, हृदय अत्यंत निर्मल हो जाता है और उसके नेत्रों में कुंज से निकलते हुये अलसाये शरीर से युक्त छवि वाले राधा-माधव समा जाते हैं। नागरीदास का कथन है—

नींद भरे तन लटपटे छके दृगनि की हेर।
नागरिया के हिय बसौ कुंज भुरहरी बेर ॥१८३॥

—नागर समुच्चय सिंगार सागर पृ० २६५

पलक भर भी ये प्रिया-प्रियतम नहीं बिछुड़ते और बिछुड़ते हैं, तो क्षण कल्प के समान व्यतीत होने लगता है। ऐसे प्रिया-प्रियतम को कौन नहीं चाहेगा, जिनके साथ चन्द्रमुखी, कमल के समान कोमल राधिका जी सर्वदा विराजती हैं। भक्त तो कोटियों रमा, रति तथा वाणी को मनमोहन के साथ रहने वाली इस छवि पर न्योछावर कर उसे अपनी स्वामिनी मान लेता है। यथा—

चंद सों आनन, कंजन-सों तन हौ लखि के बिन मोल बिकानी।
औ अरविन्द-सी आँखिन कों हठी देखत मेरियै आँखि सिरानी।
राजति है मन मोहन के संग वारौं मैं कोटि रमा रति बानी।
जीवनभूरि सबै ब्रज की ठकुरानी हमारी है राधिका रानी॥

—ब्रज माधुरी सार पृष्ठ २४३ पर उद्धृत

इन स्वामिनी के चरणों का ध्यान क्षण मात्र भी धारण करने से मधुर रसोपासक को निश्चय ही सखीभाव की प्राप्ति हो जाती है और तब वह युगल की विहार सेवा का अधिकारी बन जाता है। यथा—

दंड पल परमाणु लव को लेसहू जे ध्यावहीं।
सहचरी तन धारि निश्चै जुगल सेवा पावहीं।
जुगल नित्य विहार सुख जो लेन कीजिय चाह है।
श्री किशोरी चरन रज बल एक यह निरवाह है॥

—श्री कृष्णदास कृत, माधुर्य लहरी, पृ० २९४

१—प्रेम सरोवर प्रेम सों पूरन परम रसाल।
　नेंक नीर के परसि तें बसैं हिये जुग लाल॥२५॥

—प्रिया० कु०र० मो० पृ० ७

भक्तों का विश्वास है कि जो राधा-माधव के आनंद का समुद्र है उसमें निरंतर माधुर्य की तरंगें उठती रहती हैं, किन्तु वे रसिकजन ही इसे जान पाते हैं, जिन पर राधा कृपा-कटाक्ष की बौछार पड़ गई हो और जो उनके गुणों का स्मरण कर नित्यविहार का गान करते हो—

राधा कृपा-कपाक्ष की लागी हिय बौछार।
राधा गुन सुमिरत कथन छिन-छिन नित्य विहार ॥[1]

—व्रज जीवन जी

यह नित्य विहार उस दिव्य कनकमय भूमि पर होता है, जो विभिन्न प्रकार के सुन्दर तरुओं तथा लताओं से आच्छादित है, जिसमें स्थान-स्थान पर आनंद ही आनंद दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सुरम्य स्थल में कुंज-महल के मध्य रचित शय्या पर श्यामा-श्याम विराजते हैं, रंगदेवी आदि सहचरी उनकी सेवा करती हैं और वे अखिल रसामृतमूर्ति रस की समस्त शक्तियों को साथ लेकर वहीं विहार करते हैं:—

मूर्तिमान श्रृंगार हरि, सब रस को आधार।
रसपोषक सब शक्ति लै, व्रज में करत विहार ॥ ५ ॥

—श्रीवृन्दावनदेवाचार्यकृत, गीतामृत गंगा, प्रथम घाट

इस विहार में प्यारी प्रिय के अधीन हो जाती है और प्रिय प्यारी के। दोनों परस्पर वशीभूत होकर रसलीन हो जाते हैं:—

श्री राधा माधव रँगे सुरति रंग रस लीन ॥
प्यारी पिय के प्रेम वश, प्रिय प्यारी आधीन ॥

—प्रियासखी कृत हरिलीला, पृ० ३

इस दम्पति रस के आस्वाद करने वाले को विधि-निषेध से ऊपर उठकर चित्त को रसमग्न करना पड़ता है। रसिकों का सत्संग वांछनीय है, क्योंकि इसे करने पर ही भावना सिद्ध होती है और रसानुभव होता है:—

जो जन दम्पति रस को चाखै।
सो जन विधि निषेध रस कौ पहिले चित तें नाखै ॥
करे मिलता रसिक वृन्द सों तबै रसिक अपनावै।
व्रजनिधि जब ह्वै सिद्धि भावना रस वानेत कहावै।

राधा-माधव युगल का यह मधुर रस यथार्थ में उस पारस के समान है,

---

१ हितहरिवंश गो० सम्प्र० और सा० पृष्ठ ५२३ पर उद्धृत

जिसका स्पर्श होते ही लोहा स्वर्ण में परिवर्तित हो जाता है, इसीलिये तो रसिक बार-बार इसी रस की उपासना करते हुये कहते हैं कि वृन्दावन के मध्य आनंद का दान करने वाले श्रीराधा-कृष्ण के इस मधुर रस को जिन्होंने नहीं पाया उनकी जननी बाँझ ही रही—

गौर श्याम सुखदान हैं श्री वृन्दावन माँझ।
जे या रस नहिं जानहीं तिनकी जननी बाँझ ।। ७४ ।।

—ब्रजनिधि ग्रंथावली-प्रीति लता पृ० १०

आधुनिक कृष्ण-भक्तों में माधुर्य (१९वीं २०वीं शती)—

साँवरेगोरे-दम्पति जिनके हृदय के प्राण हैं. ऐसे नेही उपासक इस युग में बहुत थोड़े रह गये हैं। रसमयी उपासना का यह सुमिरन, यह प्रेम और यह नेम उन लोगों के लिये है भी नहीं, जो आज के इस ऐश्वर्य-प्रधान युग में वासना का लक्ष्य बन चुके हैं। फिर भी मधुर रस की इस कठिन उपासना-पद्धति से अपने इष्टदेव को प्रसन्न करने वाले, जिन भक्त कवियों ने अपनी परंपरा का निर्वाह इस युग में किया है, वह सभी के लिये गौरव का विषय है। वल्लभ, चैतन्य, हरिदास तथा हरिवंश ने जिस रस धारा की गति में वेग उत्पन्न किया, वह न तो कहीं रुका और न रुक सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रवाह में वह शक्ति विद्यमान है, जो बीच में पड़ने वाले झाड़-झंखार तथा पर्वतीय खंडों तक को आत्मसात् करने में पूर्ण समर्थ है। वृन्दावन को केन्द्र रखने वाले रसिक भक्तों की भाँति हो सकता है कि इस युग के भक्त कवियों ने अपना केन्द्र वृन्दावन न बनाया हो, किन्तु उनकी रसभावना में किसी प्रकार भी सदेह नहीं किया जा सकता। इस युग के भक्त-कवियों का भी यही विश्वास है कि राधा-माधव युगल की रस-लीला ही महामंगल को देने वाली है तथा ऐसे आनन्द को प्रसारित करने वाली है, जो नित्य है—अखण्ड है। इन कवियों ने भी राधा की उपासना को सर्वप्रधान माना है, क्योंकि वे जानते है कि युगल रस का माधुर्य,[1] वृन्दावन का वास और रस रूप को नैकट्य इन्हीं

---

१ श्री राधे मोहिं अपुनों कब करिहौ ?
जुगल रूप रस आमल माधुरी कब इन नैननि भरिहौ ?
कब या दीन हीन निज जन कौ ब्रज को बास बितरिहौ ?
'हरी चद' कब बूड़त तें भुज भरि धाइ उबरिहौ ।। १ ।।

—भारतेन्दु ग्रं० भाग २ प्रेम फुलवारी, पृ० ५७७

की कृपा से प्राप्त होता है। इससे भी अधिक महत्व इन कवियों की दृष्टि में उन सखियों का है, जो सतत् इष्टदेव दम्पति की सेवा में रत रहती हैं। वे सर्वप्रथम सखियों से ही यह प्रार्थना करते हैं कि वे उसे राधेश्याम युगल का सामीप्य लाभ करायें, यथा—

सखियो याद दिवावत रहियो।
समय पाइ कै सदा हमारिहु कबहुं जुगल सों कहियो।
केलि कोप अरु काज समय तजि सुख में तुम रुख लहियो।
कहियो कबौं धाइ के बाहैं, हरिचंदहु की गहियो।

—भारतेन्दु ग्रं० भाग २ प्रेम फुलवारी पृ० ५९६

इस सामीप्य को प्राप्त करने के लिए इस युग के भक्त के भाव अनुकरणीय हैं। बह अपने प्यारे प्रभु से कहता है—

नैनन मै निवसौ पुतरी ह्वै हिय मै बसौ ह्वै प्रान।
अंग-अंग संचरहु सक्ति ह्वै ए हो मीत सुजान॥
मन में वृत्ति वासना ह्वै के प्यारे करौ निवास।
ससि सूरज ह्वै रैन-दिना तुम हिय-नभ करहु प्रकास॥
वसन होय लिपटौ प्रतिअंगन भूषन ह्वै तन बाँधौ।
सोधौं रहै मिलि जात रोम प्रति अहो प्रानपति माधौ॥
ह्वै सुहाग-सेंदुर सिर विलसौ अधर राग ह्वै सोहो।
फूलमाल ह्वै कंठ लगौ मम निज सुवास मन मोहौ॥
नभ ह्वै पूरौ मम आँगन मैं पवन होइ तन लागौ।
ह्वै सुगंध मो घरहिं बसावहु रस ह्वै के मन पागौ॥
श्रवनन पूरौ होइ मधुर सुर अंजन ह्वै दोऊ नैन।
होइ कामना जागहु हिय मैं करहु नींद बनि सैन।
रहौ ज्ञान में तुम ही प्यारे तुम-लय तन मम होय।
'हरीचंद' यह भाव रहै नहिं प्यारे हम तुम दोय॥३॥

—भारतेन्दु ग्रं० भा० २, विनय प्रेमपचीसी, पृ०५३८

इस सामीप्य को प्राप्त करने के उपरांत ही साधक प्रिया-प्रियतम के इस नित्य विहार का सुख उठाता है, जिसकी प्रत्येक कला कल्याणमयी है, यथा—

मंगलमय सखि जुगल-विहार ।
बड़े प्रात ही कुंज ओट तें क्यों चुपके नहिं लेत निहार ।।
मंगल सेस भवन रस मंगल तहाँ जुगल मंगल की खानि ।
मंगल बाहु बाहु मै दीने मंगल बलि अलसौंही बानि ।।
मंगल जागत आलस पागत मंगल नींद भरे जुग नैन ।
मंगल लपटि लपटि के पुनि-पुनि कबहुँ उठत करि कबहूँ सैन ।।
मंगल परिरंभन आलिंगन मंगल तोतरे शब्द उचार ।
'हरीचंद' मंगल वल्लभ-पद जाबल विहरत बिना विकार ।।

—भारतेन्दु ग्रं० भाग २, प्रेमाश्रु वर्षण पृ०११४

इस मंगलमय विहार की झाँकी पाने तथा रसानुभव करने के हेतु अत्यंत लगन की आवश्यकता होती है । चलते-फिरते साधक को प्रिय-मिलन की आशा रखनी चाहिए। निरंतर रसिक संतों का सत्संग करना तथा युगल के वियोग में दिन-रात आँसू बहाना ही इन साधकों का उत्तम व्रत है । बिना अपने महबूब के इन रसिकों का संसार सूना ही रहता है । लगन हो तो ऐसी हो कि जिसमें सर्वत्र मोहनलाल ही दिखलायी दें, यथा—

नारायण तब जानियें, लगन लगी या काल ।
जित तित में दृष्टी परै, दीखें मोहनलाल ।। १७७ ।।
चलत फिरत बैठत उठत, लगी रहै यह आस ।
श्याम राधिका निरखिबो, वृन्दाविपिन निवास ॥ १२४ ।।

—श्रीनारायण स्वामिकृत अनुराग रस

इस उपासना-पद्धति में दोनों का परस्पर साथ होना परमावश्यक है, क्योंकि दोनों के मुख-चन्द्र के रस का पान दोनों की आँखें चकोरी रूप से करती हैं, दोनों एक दूसरे के दया के पात्र हैं । दोनों एक दूसरे के चित्त को चुराते हैं । दोनों प्रेम की राशि हैं । इसलिए मधुर-रसोपासकों के लिये दोनों ही उपास्य हैं । साधक इन्हीं को पाने वाले मधुर मार्ग के लिए कहता है—

कब मैं या मारग पग धरिहौं ।
श्री वृन्दावन वास निरंतर राधा कृष्ण रूप लखि अरिहौं ।
सुनिये लाल कृपाल दयानिधि यह निश्चय दृढ़ कबहुँ कि करिहौं ।
किशोरीदास, हरिव्यास कृपा बल महल टहल सेवा सुख टरिहौं ।।८।।

—निम्बार्क माधुरी पृ० ६६९

बरसाने वाली के साथ प्यारे कृष्ण रस की वर्षा करते हुए, इस साधना के साधक के हृदय में प्रेम को उत्तरोत्तर परिवर्द्धित करते रहते हैं। उनकी भक्ति की भूमि हरी भरी हो जाती है और वे परम संतोष का अनुभव करते हुए व्यंजना करते हैं :—

मोर मुकुट अलकावली, कुण्डल छवि द्युति घोर।
'मुरली' टेर सुनाय कर, हरहु सदा मन मोर॥
हरी हरत हो व्याध तुम, गोपिन हिय के हार।
'मुरली' हिय अभिलाष यह, मम उर करहु विहार॥
बाँह बिहारी की गहूँ, धरूँ बिहारी ध्यान।
निरखूँ नित्य विहार-छवि, मुरली हिय अभिमान

—निम्बार्क माधुरी पृ० ७१०

राधा-विहारी के नित्य विहार के प्रति अनुराग को पाने के लिए इस युग में भी भक्तों ने सर्वप्रथम भामिनी-भावना को प्रधानता दी है, यथा—

प्रथम भामिनी भावना, पाछे रस सिंगार।
ता पीछे गावौं सुनौं, देखौं जुगल बिहार।

—ललित किशोरी (अभिलाष मा० पृ० ३१)

नवीन मेघ के समान श्यामल श्रीकृष्ण और चमचमाती हुई चपला के समान राधा जिस समय कुंज में परस्पर लीला करते हुए रसिकों को क्षण मात्र भी देखने को मिल जाते हैं, तो फिर उनका मन-मयूर नृत्य कर मत्त हो जाता है। ऐसे युगल किशोर का विहार दर्शन ही रसिकों की संध्या, पूजा तथा पाठ है। इस विहार-सुख की उपासना के सम्बन्ध में ललितकिशोरी जी अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहते हैं :—

कदम कुंज ह्वैहौं कबै, श्री वृन्दावन माँहि।
ललित किशोरी लाड़िले, विहरेंगे तिहिं छाँहि॥५३॥
कृष्ण राधिका कुंड को ह्वैहौं कबहूँ नीर।
करिहैं केलि कलोल सों, श्याम गौर शरीर॥५४॥
कब धौं सेवा कुंज में, ह्वैहौं श्याम तमाल।
लतिका कर गहि बिरमिहैं, ललित लड़ैती लाल॥५५॥
कालीदह कब कूल की, ह्वैहौं त्रिविध समीर।
जुगुल अंग-अंग लागिहौं उड़िहैं नूतन चीर॥५६॥

कब ह्‌वैहौं हों मोरिनी, श्री बृन्दावन धाम।
नचिहौं संग अंग मोरि कैं, सुन्दर श्यामा श्याम ॥५७॥
कब गहिवर की गलिन में, फिरिहौं होय चकोरि।
जुगुल चन्द मुख निरखिहौं, नागर नवल किशोरि ॥५८॥
कब कालिन्दी कूल की ह्‌वैहौं तरवर डारि।
ललितकिशोरी लाड़िले, झूले झूला डारि ॥५९॥
कब गोवर्द्धन खोरि की ह्‌वैहौं हों पाषान।
चरन कमल धरिहैं दऊ, सागर छवि रसखान ॥६०॥

—अभिलाषमाधुरी पृ० ११२

कितना आत्मविस्मरण है और कितना अटूट विश्वास है—यदि साधक उपर्युक्त बातों मे से एक को भी सिद्ध कर ले, तो अवश्य उसे प्रियतम प्रभु का स्पर्श प्राप्त हो जायेगा। सर्वस्वसमर्पण की यही भावना उसे अपने प्रभु के निकट निस्संदेह खींच ले जाती है और फिर प्रियतम भी तो यही चाहते है कि उनका भक्त समस्त तीर्थ आदि को त्याग कर उन युगल में अनुराग करे। ऐसे अनुरागी रसिक के लिए ही वे वैकुण्ठ को छोड़कर इस परम रम्य भूमि पर अपनी प्यारी आह्‌लादिनी के साथ नित्य नई रीति से विहार करते हैं और रसिक भी निरंतर श्यामसुन्दर में आसक्त रहकर गोपिकाओं के गुणगान के साथ श्रीराधा की प्रीतिपूर्वक उपासना करते हुए उनकी कृपा प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। वे ऐसी कृपा चाहते हैं, जिससे उनके हृदय में उनकी मनोहर मूर्ति जमकर बैठ जाय। राधा के कटाक्षों का माधुर्य तथा उनके हर्षोल्लास का लालित्य रसिकों के हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर दे—यही उनकी चाह है, यथा—

ऐसी कृपा किन करहु किशोरी।
उर में गड़ै मनोहर मूरति मंद हास मुख थोरी।
हियरा नैन बान सों बेधहु हँसि-हँसि भौंह मरोरी।
घायल कर भटकावहु प्यारी झूमत निधुवन खोरी।
जियरा टूक-टूक ह्‌वै जावै इतनौ माँगत भोरी।

'जियरा टूक-टूक ह्‌वै जावै' कितनी टीस है इसमें, और कितनी आकुलता है हृदय में। यह सत्य है कि जिसने भी इस रस को जान लिया, उसे रसिकों के सत्संग के सिवा अन्य कुछ भी नहीं सुहाता। ऐसा रसिक अपने हृदय में गुरु-चरण-कमल का स्मरण कर सहचरी के रूप में उस परम अद्‌भुत

युगल-विहार देखने की कामना करता है और श्रीराधिका की प्रार्थना करते हुए उनसे उनकी कृपा की भीख माँगता है। नवल निकुंज की शोभा को देखने की लालसा तथा प्रिया-प्रियतम के युगल केलि-दर्शन की अभिलाषा उसे वृन्दावन में बसा देती है और तब वह अपने प्राणनाथ के सिवा और किसी की छाया तक को भी नहीं देखता। बरसाने वाली के साथ श्रीकृष्ण की वह विलसन उस साधक के हृदय में माधुर्य का रस-सागर आन्दोलित कर देती है और वह कहने लगता है—

शोभा नवल निकुंज की, अवलोकन उर आस।
केलि युगल लखि छकि रहूँ, करि बृन्दावन वास।।
करि बृन्दावन वास, रास रस अधिक सुहावे।।
प्राणनाथ छवि छाँड़ि और पर छाँह न भावे।।
विलसन सो सुख ललित, बहुत ही मन अब लोभा।
हीराहित चित्त बसौ सदा निसदिन यह शोभा।।

—हीरा सखी कृत अनुभवरस पृ० १७८

जिसके चित्त में निशिदिन कुंजविहार की शोभा बसी रहती है वह निस्संदेह अपना सर्वस्व उस पर न्यौछावर कर देता है। श्रृंगार के वे मूर्तिमान रूप युगल उसके हृदय से तब हटाये नहीं हटते और परस्पर केलि से रस-धार प्रवाहित कर अपने रसिक भक्त को उस माधुर्य का पान कराते हैं, जो सखियों के यूथ में रासेश्वरी के साथ प्रकट होता है। उसका अनुभव करते हुए जय-ध्वनि के साथ गोविन्द रसिक जन कहते हैं —

श्री जै-जै सर्वेश्वर शरण सखी सदा।
रिझवति श्यामा श्याम अंग-अंग सर्वदा।
निरखति नित्य विहार रास रस कुंज में।
रंगदेवी के वंश विदित सखि पुंज में।
सखि पुंज में दिन विदित बाहिर भक्त हित नर वपु धर्यौ।
निज सदाचार कथादि सत्संग कृतारथ सब जग कर्यौ।
धरि जुगल तन सेवत जुगल हरिप्रिया के परिकर मुदा।
जै-जै श्री सर्वेश्वर शरण सखी सदा।

—श्री सर्वेश्वर (मा० प०) वर्ष ७, अंक २, पृ० ९
(श्री व्रजवल्लभ शरण वेदांताचार्य के लेख से)

साधकों का यह विश्वास अटल है कि परब्रह्म और उसकी शक्ति ने कृष्ण-राधा के रूप में रसिक भक्तों को सुख प्रदान करने के हेतु ही इस लीला

के रसमय आनंद का विस्तार किया है । इसीलिए वे राधा-कृष्ण को सर्वस्व त्याग कर ढूँढ़ते हैं और उस रूप का ध्यान करते हैं, जिसकी विषयी जन तो कल्पना भी नहीं कर सकते । राधा-कृष्ण का वह दिव्य रूप ज्योतिस्वरूप है । परम सौन्दर्यमय होकर वही दिव्य वृन्दावन में राधा-कृष्ण के रूप में चमत्कृत होता है—

> लखौ कोई एक ज्योति दो रूप ।
> बाईं ओर प्रिया छवि सोहति चम्पक कनक निरूप ।
> दाहिन छटा छैल अलबेलो सुन्दर श्याम स्वरूप ।
> दोऊ रसिक रसिक-जन-वल्लभ रसनिधि रसमय यूप ।
> अकथनीय रस मारग दर्शक रसिक गम्य रस-भूप ।
> यह रस लगे रसिक के नासत त्रिविध ताप भव-कूप ।
> "दुर्गा" यह रस विषयि अगोचर सेवत करत अनूप ।
>
> —निम्बार्क माधुरी पृ० ६८६

इस प्रकार राधा-माधव की नित्यता को सिद्ध करते हुये माधुर्योपासकों ने इस युग में भी अपनी परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखने का पूरा एवं सफल प्रयत्न किया है । उनकी धारणा है कि विना भगवान की कृपा और गुरु के आशीर्वाद के साधक साधना का यह दुर्गम पथ पार नहीं कर पाता, क्योंकि गुरु-कृपा से ही वृन्दावन-विहारी तथा विहारिणी में स्नेह होता है और चित्त उज्ज्वल होकर अनन्य भाव से उनके कुंज-विहार की छवि को देखता है, यथा—

> श्री हरिदास चरण-रज बंदौं सहित सनेह ।
> जा बल नित्य बिहार को बाढ़त रंग अछेह ।
> जेहिं निकुंज मन्दिर मँह जुगल किशोर विहार ।
> तेहिं चौखट को आखर "अलि नरहरि" नित उर धार ।
> कनक जटित मनिमय सदा सदानंद मय नित्य ।
> यह निकुंज मम सों लखै जाकौ उज्ज्वल चित्त ।

यह छवि उसके नेत्र-मन्दिर में ऐसी समा जाती है कि फिर उसे कुछ और नहीं सुहाता । युगल पदों का ध्यान और राधे-राधे नाम यही उसकी दिनचर्या हो जाती है । ब्रह्मलोक तथा वैकुंठ से फिर उसे किसी प्रकार का सरोकार नहीं रहता और वह राधा-माधव युगल के नित्य विहार का निरंतर रसास्वाद करता हुआ यही गाता रहता है—

श्री वृषभानुनन्दिनी के संग श्री ब्रजराज कुमार।
विहरत सुभग सहेलिन लीन्हें सजि सुन्दर सिंगार।
पीत वसन भूषण तन धारे सोभा सहज अपार।
जेहि लखि चंद मंद मन लाजत कोटिन रति अरु मार।
कुसुमित तरुन लता लपटानी मुदित मधुप झंकार।
धीर समीर तीर जमुना के सुमन सुगन्ध पसार।
फूले फले फूल डारन मदनायुध सुखसार।
किंसुक कुंद कंज गुल गेंदा त्यों गुलाब़ कचनार।
करि पंचम सुर मोर क्वैलिया चढ़ी आम की डार।
बाजत ब़ीन, मृदंग, झाँझ, डफ, बेनु, सरोद, सितार।
गावत वाम काम मदमाती रह्यो न अंग सम्हार।
विलसि बसंत कंत संग सुन्दरि दीन सुमन मनहार।
सुभग गात भेंटे पिय प्यारे बिहंसि गरे भुज डार।
जुग-जुग जीवहु "रसिक किसोरी" जीवन प्रान अधार।

—गो० किशोरीलाल जी

निम्बार्क माधुरी पृ० ७०५

तीसरा अध्याय

हिन्दी में कृष्ण-भक्तों की माधुर्य उपासना का स्वरूप

भक्तों का रूप-माधुर्य

रूप ही कुछ अनिर्वचनीय होकर शरीर के माधुर्य की संज्ञा प्राप्त करता है।[1] जिस परम पुरुष रसिक-शिरोमणि कृष्ण ने भू लोक के उपकारार्थ अपनी योगमाया रूपिणी शक्ति का प्रकाश करते हुए तथा स्वयं को भी आश्चर्यान्वित करते हुए परम सौन्दर्ययुक्त एवं भूषण को भी भूषित करने वाले शरीर को ग्रहण किया था, उसी में उनका रूप-माधुर्य है। वे अमृतमय सौन्दर्य के लावण्य-माधुर्य का भाण्डार हैं। इन्द्र नील मणि या नील कमल की जो कांति है, उससे वे आवृत्त है। पीताम्बरधारी, विविध प्रकार की वनमालाओं से युक्त तथा विभिन्न प्रकार के रत्नों से मण्डित अंग वाले कृष्ण केलि के सागर हैं। उनके लम्बे-लम्बे कुंचित केश विविध गंधों से परिपूर्ण हैं और उनकी चूड़ा की सुन्दरता पुष्प-मालाओं के सौन्दर्य को तिरस्कृत करती है। उनके मस्तक पर तिलक तथा अलकावली की छटा से सौन्दर्य मूर्तिमान हो रहा है। वे लीला से अपनी उन्नत भ्रूभंगिमा के द्वारा कामिनीगणों के हृदय को मोहित करने वाले हैं।[2] उनके दोनों नेत्र घूर्णयिमान तथा रक्तनील उत्पल की कांति के तुल्य हैं। गरुण चंचु के सदृश एवं कान्तिमान सौन्दर्यमयी नासिका से वे युक्त हैं। उनका कर्ण युगल मणि-कुण्डलों से, उनका कमल-मुख कोटि चंद्रमा की कांति से, और उनका कंठ विभिन्न प्रकार की मालाओं से निरंतर सुशोभित होता रहता है। त्रिभंगी से ललित, त्रैलोक्य मोहन स्निग्ध ग्रीवा तथा लावण्यों से रमणी-

---

१ रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोर्माधुर्यमुच्यते ।।३४।।

—उज्ज्वलनीलमणि पृ० २७५

२ श्री मँल्ललाट पाटीरस्तिकालकशोभितः,
लीलोन्नत भ्रूविलास-कामिनी चित्तमोहनः ।। ।।

—रूपगोस्वामी कृत राधाकृष्णगणोद्दीपिका के परिशिष्ट से उद्धृत (प्रथरत्नपंचकम् पृष्ठ ४९)

गण के रमण में उत्सुक उनका वक्षःस्थल है।[1] उनका वक्ष-लावण्य क्रीड़ा से युक्त है। रमणियों के केलि में लालस, सुधा से भी सुन्दर उनका पृष्ठ तथा पार्श्व देश है। कन्दर्प-मोहन में उत्सुक, सुधाम यकमल की तरह कटिबिम्ब है। मनोहर रम्भा की भाँति उर युगल है, परम मधुर, मरमोज्ज्वल सुन्दर लावण्य मय दोनों जंघाएँ हैं। रत्न-नूपुरों से विभूषित, नाना रत्नों से सुशोभित जवा पुष्पों की तरह कांति वाले महा सुमधुर युग चरण-कमल हैं। वे युगचरण चक्र, अर्द्धचन्द्र, त्रिकोण, यव, अम्बर, छत्र, कलस, शंख, गोष्पद, स्वस्तिक, अंकुश, कमल, धनुष, जामन चिन्हों से शोभायमान हैं। अंगुलियाँ अरुण कांति के तुल्य तथा नख-चन्द्रों से युक्त हैं। ये चरण युगल ही प्रेम-माधुर्य सुख के सागर हैं। इस विवरण से स्पष्ट है कि भगवान के सभी अवतारों से कृष्ण रूप में विशेष माधुर्य दृष्टिगोचर होता है। उनकी सभी चेष्टायें ललित हैं, इसलिये उन्हें ललित त्रिभंगी कहा गया है। क्योंकि—

श्रृंगार प्रचुरा चेष्टा-यत्र तं ललितं विदुः ।।८८।।

—भक्ति० र० सि०

पुष्प की भाँति भगवान का यह रूप-माधुर्य विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार खिलता रहता है। अन्तर केवल इतना है कि यह माधुर्य शाश्वत है और पुष्प का अस्थायी। कौमार, पौगंड तथा कैशोर भेद से अवस्था तीन प्रकार की होती है—पाँच वर्ष पर्यन्त कौमार, दस वर्ष पर्यन्त पौगंड तथा सोलह वर्ष पर्यन्त कैशोर, तत्पश्चात् यौवनावस्था का प्रादुर्भाव होता है। वत्सल रस में कौमार अवस्था उचित है और भिन्न-भिन्न खेलादिकों के संबन्ध होने से प्रेयस में पौगण्ड अवस्था उचित है किन्तु वय में कैशोर ही श्रेष्ठ तथा उज्ज्वल है। प्रायः कैशोर में समस्त रसों के औचित्य का समावेश हो जाता है। रसिक-शिरोमणि कृष्ण के रूप-सौन्दर्य को प्रकाशित करने में उपर्युक्त अवस्थाओं की अपनी-अपनी विशेषता है, किन्तु कैशोर में माधुर्य मूर्तिमान

---

१ कण्ठदेशः सुलावण्यो मुक्तामाला-विभूषितः।
त्रिभंगी ललितस्निग्ध ग्रीवस्त्रैलोक्य मोहनः ।।९।।
वक्षस्थलं च लावण्ये रमणीरमणोत्सुकम्।
मणि कौस्तुभविद्युद्भा मुक्ताहार विभूषितम् ।।१०।।
—ग्रंथरत्नपंचकम् पृष्ठ ५०

होता है। इस कैशोर वय के तीन भेद "भक्ति रसामृत सिंधु" में माने गये हैं, यथा—

आद्यं मध्यं तथा शेषं कैशोरं त्रिविधं भवेत् ॥
भ० र० सिंधु
—दक्षिण विभाग, विभाव लहरी

जिस वय मे वर्ण में अपूर्व उज्ज्वलता, नेत्रों में लालिमा तथा रोमावली का प्राकट्य दृष्टिगोचर हो उसे आदिकैशोर कहते हैं। इस कैशोर के रूप माधुर्य को वैजयन्ती माला, मयूर पंखादि, उत्तम नटवर वेश, वंशी का माधुर्य तथा वस्त्रों की शोभा आदि साधन पुष्ट करते है। नख के अग्रभाग में तीक्ष्णता, धनुपाकार भ्रू तथा दाँतों में राग आदि इस अवस्था में रूप माधुर्य के लक्षण हैं।

जिस वय मे दोनों जंघायें, दोनों बाहुओं तथा वक्ष:स्थल की अपूर्व शोभा हो जाती है तथा आकृति में भी माधुर्य आ जाता है, उसे मध्यकैशोर कहते हैं। स्मित से परिपूर्ण मुख, विलास से युक्त चंचल कटाक्ष आदि सुन्दर चेष्टाओं के माधुर्य का प्राकट्य इस वय-रूप के लक्षण हैं।

जिस अवस्था में अंग-प्रत्यंग पूर्ण उत्कर्षता को प्राप्त हो जाते हैं तथा त्रिवली का प्राकट्य भी हो जाता है, उसे शेषकैशोर कहते हैं। विद्वानों की दृष्टि में हरि की यही नवीन यौवनावस्था है। इसी अवस्था में गोकुल देवियों के प्रेम संबन्धी समस्त भाव प्रकट हुए थे, साथ ही प्रेम-वशीभूत अनेक अनुपम लीलोत्सवादि भी इसी अवस्था मे गोपियों द्वारा किये गये थे। श्रीकृष्ण की अंग-कांति से अलंकार भी अत्यन्त भूषित हो जाते हैं और उनके शरीर में सौन्दर्य मूर्तिमान हो उठता है। विद्वानों की धारणा है—

भवेत्सौन्दर्यमंगानां सन्निवेशो यथोचितम् ।
विभूषणं विभूष्यंस्याद्येन तद्रुपमुच्यते ॥ १३४ ॥
—दक्षिण विभाग, विभाव लहरी

श्रीकृष्ण के रूप में सब कुछ माधुर्य से परिपूर्ण है—उनका श्याम वर्ण मधुर है, किशोर अवस्था मधुर है, क्रीड़ायें मधुर हैं, एकादश इन्द्रियों की क्रियायें भी मधुर हैं, यथा दृग्भंगी, अंगभंगी, वचनभंगी सब कुछ मधुर है। इसके अतिरिक्त उनकी देह मधुर है, रूप मधुर है, भूषण मधुर हैं, वंशी

मधुर है, वस्त्र-पीताम्बर तथा कटि-काछिनी भी मधुर है। इतना ही नहीं वंशी की ध्वनि, चरण की रज, मुख का उच्छिष्ट, वसनांचल का पवन, मोर का पंख, गुंजा की माला तथा वनमाला आदि सब माधुर्यमय हैं।[1]

भगवान श्रीकृष्ण का अवतार मधुरतमोत्तम तथा परिपूर्णतमोत्तम है, क्योंकि कृष्ण निराकार से साकार रूप में मधुर तथा पूर्ण हैं। साकार से लीलावतार के रूप में मधुरतर तथा पूर्णतर हैं।

गोपाल सखा के रूप में मधुरतम तथा पूर्णतम हरि हैं और गोपीजन वल्लभ से रसिक-शिरोमणि के रूप में मधुरतमोत्तम तथा परिपूर्णतमोत्तम हैं तथा भगवान हैं। तीनों लोक में जितने भी मधुराकृतवान रूपवान, गुणवान तथा सौन्दर्यवान हैं, उनके मस्तक पर विराजमान होकर के ही इन कृष्ण का राज्याभिषेक हुआ है। अस्तु, वह 'मधुरिमस्वाराज्यम्' का सम्राट हैं। सारांश यह कि इस भुवन-मोहन, ललित-ललाम श्यामघन के अतिरिक्त कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसमें माधुर्य का पूर्ण परिपाक और सौन्दर्य की पराकाष्ठा हो। यही कारण है कि कृष्ण-भक्तों ने ऐसे श्याम वर्ण किशोर श्रीकृष्ण की उपासना की है, जो कालिन्दी के पुलिन पर रास विलास करते हुये अपनी तिरछी चितवन से सबको वशीभूत करता है।

यदि कृष्ण के नेत्र-सौन्दर्य की मधुरिमा पर किंचित दृष्टिपात करें तो उनके नैन-कमल लीला के कारण विशाल, रस के कारण शीतल, मद के कारण अरुण, मध्य में नील तारकायुक्त तथा अद्भुत विलासमय प्रतीत होते हैं। अपने प्रियतम रसिक-शिरोमणि के रूप-माधुर्य का वर्णन करते हुए महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कहा है—'श्री मधुराधिपति का सभी कुछ मधुर है' उनके अधर, हृदय, मुख, नेत्र, हास्य, गति, वचन, चरित्र, वस्त्र, अंगभंगी चाल, भ्रमण

---

१ श्याम श्रीर्मधुयस्य, यस्यमधुतरकैशोरमत्यद्भुतं।
क्रीडायस्य मधूनि यस्य च मधून्येकादशाक्षक्रियाः।
माध्वीयस्य विलोकनाङ्ग वचसां भङ्गी यदीयं वपु,
रूपं मधुयथ भूषणादि च मधु व्यामोहयेत्कं न सः॥
— कृष्णकर्णामृत की रसिकरोचिनी टीका, पृष्ठ ७९

वेणु, चरण-रज, कर-कमल, चरण, नृत्य, सख्य, गान, पान, भोजन, शयन, रूप, तिलक कार्य, तैरना, हरण, रमण, उद्गार, शांति, गुंजा, माला, यमुना, उसकी तरंगें, उसका जल, कमल, गोपियाँ, उनकी लीला, उनका संयोग, वियोग, निरीक्षण, शिष्टाचार, गोप, गायें, लकुटी, रचना, दलन, और उसका फल, अति मधुर है।[1] अभिप्राय यह है कि वे मधुरिम स्वराज्य के सम्राट हैं। जो इतना सौन्दर्य-माधुर्य से परिपूर्ण हो, उनका सान्निध्य कौन न प्राप्त करना चाहेगा? यहीं पर रसिक भक्त अपने भगवान के लिए कहने लगता है कि 'विभो! कब मैं आपके काले घुँघराले स्निग्ध घने केशों को समेट कर उनका जूड़ा बना कर उसके हेतु मयूर पुच्छ तथा सुमन-गुच्छ का शिरोभूषण बनाऊँगा। अपने सौन्दर्य सुधानिधि विभु के मुख-पद्म के सुगन्ध के लोभ से तथा केश-स्थित कुसुम के लोभ से आ-आकर उनके मुख पर पड़ने वाले भ्रमर-कुल को मैं कब निवारण करूँगा? ये भ्रमर तो बड़े नटखट है, मेरे मुख पर ही घिरे

---

१ अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ १॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितम् मधुरम्।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ २॥
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः पाणिर्मधुरः पादौ मधुरौ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ३॥
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम्।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ४॥
करणं मधुरं तरणं मधुर हरणं मधुरं रमणं मधुरम्।
वसितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ५॥
गुंजा मधुरा मालामधुरा यमुनामधुरा वीचीमधुरा।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ६॥
गोपी मधुरा लीलामधुरा युक्तं मधुरं मुक्तंमधुरम्।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ७॥
गोपीमधुरा गावोमधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ८॥
—आचार्य वल्लभ कृत मधुराष्टक,
बृहत्स्तोत्रसरित्सागर, पृ० ६१

रहते हैं, कमल पर क्यों नहीं जाते, उनको उड़ाने के लिए—ऐसे जो वचन विभु श्रीकृष्ण कहेंगे—उनको कब मैं इन कर्णों से सुनूँगा ? आनंद रस-सरोवर की तरंग-मालाओं से तरंगित लीलायत विशाल लोचन युगल के कब दर्शन करूँगा ? विभु के नयन भी तो विभु ही होंगे ? मधुरस अधर को वंशी-वादन करते हुये कब निहारूँगा ; अथवा उस माधुर्यमय वदन के दर्शन कब करूँगा ?[१] एक वह वदन ही तो नयन माधुरी, अधर माधुरी, अलक माधुरी, वचन माधुरी तथा समस्त माधुरी का अंकुरत आगार है। मेरे भाग्य में कब उसके दर्शन होंगे ? और विभु के चपल चरित, अनन्त, अपार मधुररससार का यत्किंचित कब अनुभव कर सकूँगा ? इस प्रकार के अनुभव या आनन्द को ही तो परमरसानंद कहते हैं। इसी को पाने के लिए साधक उन गौर-श्याम युगल को अपने हृदय में धारण करता है, जिनके अंग प्रत्यंग प्रतिक्षण उमंग से परिपूर्ण रहते हैं, जो एक दूसरे के रूप का पान करते हुए नहीं अघाते, जिनका अंग प्रत्यंग एक दूसरे के अंग में प्रतिबिम्बत होकर उनके लावण्य को बढ़ाता है और जो एक दूसरे के चन्द्र-मुख को चकोर की भाँति एकटक देखते रहते हैं।[२] जिस प्रकार इनके रूप की छवि अपार है उसी प्रकार उससे मिलने वाला परम मधुर रस भी। राधा-माधव की अद्‌भुत

---

१ चिकुरं वहुलं विरलं भ्रमरं मृदुलं वचनं विपुलं नयनम्।
अधरं मधुरं वदनं मधुरं चपलं चरितं च कदानु विभो।
—कृष्णकर्णामृत-रसिकरोचिनी टीका पृ० १८९

२ गौर-स्याम अभिराम विराजैं।
अति उमंग अंग अंग भरे रंग मुकुर मुकुर निरखत नहिं त्यागैं।
गंड सों गंड बाहु ग्रीवा मिलि प्रतिबिम्बित तन उपमा लाजैं।
नैन चकोर विलोकि वदन ससि आनंद-सिंधु मगन भए भ्राजैं।
नील निचोल पीत पट कै तट मोहन मुकुट मनोहर राजैं।
घटा छटा आखंडल-कोदंड दोउ तन एक देस छबि छाजैं।
गावत सहित मिलत गति प्यारी मोहन मुख मुरली सुर बाजैं।
औभट अटकि परे दंपति दृग मूरति मनहुँ एक ही साजैं।
—युगल शतक पृ० ८९, सहजसुख

जोड़ी नित्य इसी रस में तन्मय रहती हुई, साधकों के हेतु नित्य विहार करती है। इनके नख-शिख सौन्दर्य को रसिक अपने हृदय में धारण कर प्रेम की हिलोरें लेते हैं। अपने युगल इष्टदेव के श्रीमुख को देखने की निरंतर अभिलाषा उनके हृदय में विद्यमान रहती है। उनके पैर भले ही थक जायँ, किन्तु नेत्र नहीं थकते—पल नहीं लगती। दोनों युगल दोनों के प्राण जीवन और सम्पत्ति हैं। वे दोनों एक ही रंग में सराबोर हो रसिकों के समक्ष अपनी दिव्य केलि करते हैं।[1] मदनमोहन की मधुर मुस्कान, अधखुली पलकें और कटीली भौंहों की शोभा को देख कर नेत्र थकित हो जाते हैं और जब राधा प्यारी उनके अंक में विराजती हैं, तब तो रसिक आनंद-विभोर होकर अपने को भूल ही जाते हैं।[2] सदा उन भक्तों की यह कामना रहती है कि यह सौन्दर्य निरंतर सामने बना रहे और वे उसके रस का पान छिप कर ही कर लें, क्योंकि यह छवि ही, रसिकों का ऐसा विश्वास है कि, उनका प्राण है। इसी रूप-माधुर्य का पान करने के लिए सखियाँ परस्पर एक दूसरे को उत्साहित करती हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण का हास, उनके श्यामल अंग का लावण्य, उनका नख-शिख शृंगार, सुरंगपाग, कुटिल अलक, कुंडल-मंडित कपोल, दंत-मुक्ताओं की कांति, सुन्दर पीताम्बर, वक्षःस्थल पर विराजमान मंदार की माला और गजराज के समान उनकी गति प्रत्येक को मोहित कर लेती है। यथा—

---

१ वदन विलोकन में न अघात।
पल न लगे पग रहे थकित ह्वे डगभरि चल्यो न जात।
दोउ दोउन के प्रान जीवनधन छिन बिछुरे न सुहात।
एक रंग रंगि रहे रंगीले एक प्रान द्वै गात।
महासुकुमार किसोर किसोरी जोरी अति अवदात।
निरखत श्रीहरिप्रिया सहचरी आनंद उर न समात ॥२३॥

—हरिव्यासदेवाचार्य, महावाणी, पृष्ठ ३० सेवासुख

२ आज छवि फबी है री मदनमोहन की।
मंद-मंद मुसकनि मोहनि तन अधखुलि पल जोहन की।
देखत ही दृग रहत थकित ह्वै शोभा कटीली भौंहन की।
श्रीहरिप्रिया अंकमधि अंकित अति निसंक सोहन की ॥६७॥

—हरिव्यासदेवाचार्य-महावाणी-सेवासुख पृ० ४४

लाल की रूप माधुरी नैननि निरखि नेकुसखी ।
मनसिज मन हरन हास, सांमरौ सुकुमार राशि,
नख सिख अंग अंगनि उमंगि सौभग सींव नखी ।
रंगपगी सुरंग पाग लटकि रही बाम भाग,
चंपकली कुटिल अलक बीच-बीच रखी ।
आयत दृग अरुण लोल, कुंडल मंडित कपोल,
अधर दसन दीपति की छवि क्यों हू न जात लखी ।
अभयद भुज दण्ड मूल पीत अंगसानुकूल,
कनक निकष लसि दुकूल दामिनी धरखी ।
उर पर मंदार हार, मुक्ता हार वर सुढार,
मत्त दुरद गति, तियन की देह दशा करखी ।। २२ ।।

— हितहरिवंश स्फुटवाणी

श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी तो गोपियों के चित्त को विचलित कर देती है, किन्तु राधा की माधुरी की तो बात ही क्या है ? वह तो स्वयं श्रीकृष्ण को अपने वश में निरंतर किये रहती हैं । माधव राधाप्यारी के प्रत्येक संकेत को पहले ही से समझ कर उसी के अनुसार बर्तते हैं । नेत्रों से देखते ही वे राधा के वशीभूत हो कर अपना सर्वस्व उन्हें समर्पित कर देते हैं । राधिका का भ्रू विलास और मनोहर हास उनके सौन्दर्य का निरंतर परिवर्धन करता रहता है । कृष्ण इसी रूप के रसिक हैं । बड़ी करामात है इन नेत्रों में, संकेत से ही कृष्ण के हृदय में काम जागृत हो जाता है और फिर वे राधा के कमल-मुख के भ्रमर बन जाते हैं । उनका शरीर राधा के शरीर से, मन राधा के मन से और हृदय राधा के हृदय से उलझ जाता है । वृन्दावन में विद्यमान रहने वाली राधारूपी कनक-बेलि पर खिलने वाले उरोजरूपीफल रसिकों को जो आनंद देते हैं, वह कामी पुरुषों के लिए यथार्थ में स्वप्न ही है । चन्द्रमा के समान अपनी कांति को विस्तीर्ण करने वाला श्रीराधा जी का उज्ज्वल मुख ब्रज के कुमुदिनी रूप रसिकों को निरंतर प्रमुदित करता रहता है । उनकी अलकों की झलक तथा दाँतों की चमक ने चन्द्र-मुख की किरणों का काम किया है और गंडकोष के श्रमकण रूपी अमृत बिन्दुओं ने कृष्ण की रसना को चकोरी बना दिया है, इसीलिये कृष्ण राधा के अधरामृत की प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते । यथा—

गौर मुख चन्द्रमा की भाँति ।
सदा उदित वृन्दावन प्रमुदित कुमुदिनि-वल्लभ जाँति ।
नील निचोल गगन में सोभित, हार तारिका-पाँति ।
झलकति अलक, दसन-दुति दमकति मनहुँ किरनि-कुल-कांति ।
गंड-कोष पर श्रम-जल-ओसजु अधरनि सुधा चुचाति ।
मोहन की रसना जु चकोरी पीवत रस न अघाति ।
हास कलाकुल सरद सुहाई, तन-छवि चांदिनि राति ।
नैन कुरंगनि, कटि सिंघनि डर उन पर अति अनखाति ।
नाह निकट, नहिं राहु विरह डर, पट सोभा न समाति ।
देखत पाप न रहति 'व्यास' तन दासिनि ताप बुझाति ।।३४९।।

—भक्त कवि व्यास शृंगार रस विहार पृष्ठ २८१

जितने सुभग गात राधा के हैं, कृष्ण के उससे कम नहीं। कवियों के कुल दोनों के अंगों की उपमा के लिए अकुलाते हैं। किन्तु समस्त कोमल अंगों के नायक—राधा के कुच—कठोर है। रसिकों की इस भावना को तनिक देखिये। यथा—

सब अंगिनि के हैं कुच नाइक ।
जिन पर पहिलैं दृष्टि परत ही, कया होत मन भाइक ।
मन को दुख न रहत मुख देखत ताप नसावत काइक ।
पीर, व्याधि मैटत देखत ही कर परसत सुख दाइक ।
दोऊ सूर वीर रति-रन में, टरत न सनमुख पाइक ।
मेरौ उर बेधत तो कारन सहत नखर नख-साइक ।
घूँघट पट, अंचल, चोलीबंद, ये सब मेरे घाइक ।
'व्यास' स्वामिनी प्रेम-नेम तें, हौं कछूक तौ लाइक ।।३५५।।

—भक्तकवि व्यास, शृंगार रस विहार पृ० २८२

राधा के कुच, उनका घूँघट पट, अंचल तथा चोलीबंद आदि सब कुछ रसिक भक्तों के हृदय को आनंदविभोर कर देते है और वे राधा जैसी स्वामिनी पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं। निकुंज में रस केलि करने वाले राधा कृष्ण युगल के सिवाय साधक अन्य कुछ नहीं चाहता है। राधा की अलबेली चितवन, मुस्कान और चलन उसके मन में समा जाती है। रूप की राशि इन्हीं राधा के साथ विहार करने वाले कृष्ण चन्द्र के समस्त अंग सुकुमार

साधकों के नेत्रों में और हृदय में निरंतर विराजैं—यही उनकी कामना रहती है। रूप के इस सिंधु में पड़ कर जब स्वयं कृष्ण ही न निकल पाये, तो रसिकों की बात ही क्या है ? इन्हीं कृष्ण के रूप-रस का पान करने के लिए किसी गोपी-कथन के माध्यम से सूर कहते है—

> सखि, मोहि हरि दरस रस प्याइ।
> हौं रँगी अब स्याम मूरति, लाख लोग रिसाइ।
> स्याम सुन्दर मदन मोहन, रंग रूप सुभाइ।
> सूर स्वामी प्रीति कारन सीस रहौ कि जाइ ॥४८॥
>
> —अनुराग पदावली (गीता प्रेस) पृ० ३९

इन्हीं कृष्ण की रूप-माधुरी का पान करने की दृष्टि से किसी गोपी के कथन को मध्यम बनाकर रसखान जो भाव व्यक्त करते हैं, उन्हें देखिये—

> नवरंग अनंग भरी छवि सों वह मूरति आँखि गड़ी ही रहै।
> बतिया मन की मन ही मैं रहै, घतिया उर बीच अड़ी ही रहै।
> तबहूँ रसखानि सुजान अली नलिनी दल बूँद पड़ी ही रहै।
> जिय की नहिं जानत हौं सजनी रजनी अँसुवान लड़ी ही रहै ॥१२७
>
> —रसखानि, पृ० ४१

जिस समय फूलों के महल में विराजमान राधा-माधव रसरंग की वार्ता करते हैं, सुरत से उनके वक्षःस्थल की माला विगलित हो जाती है और वे श्रमित हो जाते हैं, तभी वे दोनों ललिता से पूछते हैं कि हम दोनों में कौन अधिक सुन्दर है ? बात यथार्थ में यह है कि कवि स्वयं नहीं कह पाता कि राधा-माधव में कौन अधिक सुन्दर है, परमानन्द दास का यह पद इस भाव को स्पष्ट करता है—

> बात कहत रस रंग उच्छलिता।
> फुलन के महल विराजत दोऊ मेद सुगंध निकट बहै सलिता।
> मुख मिलाय हँसि देखत दरपन सुरत स्रमित उरमाल विगलिता।
> परमानंद प्रभु प्रेम विवस हम दोउन में सुन्दर को कहि ललिता ॥७७४॥
>
> —परमानंद सागर

फूल के समान कोमल एवं माधुर्यमय शरीर वाले राधा-कृष्ण युगल एक दूसरे पर इस प्रकार प्रेम की वर्षा करते हुये निरंतर सखीजनों को मधुर रस का पान कराते हैं। इसी शोभा को देखकर भक्त सर्वदा युगल मूर्ति पर अपने आपको ही नहीं वरन् सौन्दर्य के देवता कामदेव तथा रति देवी तक को न्यौछावर कर देता है। दोनों को एक दूसरे का अधरामृत पान करते हुये देख कर रसिक अपने भाग्य को सराहता है और अपने ईष्टदेव को कोटिशः प्रणाम् देने लगता है। समस्त प्रकार के भूषणों से भूषित राधा-माधव जब कुंज से बाहर आते हैं, तो खिलौने के समान प्रतीत होते हैं। उनका नख-शिख परस्पर साथ रहने से द्विगुणित हो जाता है और वे रसमत्त होकर विहार करते हैं। यद्यपि उनके अंग शिथिल हो जाते हैं, किन्तु हृदय की उमंग प्रतिक्षण नवीन ही बनी रहती है। रूप के सागर—दोनों जब परस्पर मिलते हैं, तब सौन्दर्य-माधुर्य की अगणित तरंगें उठने लगती हैं और साधक आनन्द-विभोर हो जाता है।

राधा जी के नेत्र तो श्यामसुन्दर के रूप की वारुणी पीकर मतवाले हो जाते हैं। उन नेत्रों की इस मस्ती को देखकर स्वयं मोहन (जो दूसरों को मोहित करते है) मोहित हो जाते हैं और राधा के अधरामृत पान कर अमृतमय हो जाते हैं। राधा भी प्रियतम के इस अधरामृत की पान के अभिप्राय को जान कर, सोलहो शृंगार से युक्त हो, रसमत्त होकर, प्रेम के साथ उनके पास विराजती हैं। सेवक या रसिक भक्त के लिये यही अवसर स्वर्णमय होता है। जब ललिता, विशाखा आदि आनंद-मत्त युगल के पंखा तथा चँवर आदि करती हैं, उसी समय वह इत्रादि देने के व्याज से वहाँ पहुँचने की सिद्ध भावना करने लगता है और उस छवि को देख कर मुग्ध हो जाता है।[1]

---

१ सोरह सिंगार सजि गोरी हित-बोरी राधा,
प्रीतम के पास बैठी महारसरंग मैं।
ललिता विसाखा सखी बीजना चँवर लिये,
प्यासौ भौंर चंचरीक गुंजत उमंग मैं।
ताही समैं ब्रजनिधि अतर मैं तर करि,
दोउ कर प्यारी के लगाये अंग-अंग मैं।
नासिका-सकोरन मैं नैनन की कोरन मैं,
जकि थकि रहे बाँकी भौंहन उतंग मैं॥३५॥
—ब्रजनिधि ग्र०, ब्रज शृंगार पृष्ठ १५१

इस छवि की छटा कभी-कभी थोड़े से शृंगार में भी फब जाती है। कंचुकी हो या न हो, कर में कंकन हो या न हो, राधा के सौन्दर्य में कमी नहीं आती। उनके केशपाश तो खुलकर उनकी शोभा को और बढ़ा ही देते हैं और मन के मोहने वाले श्याम इसी पर रीझ जाते हैं। गोपी-पद-पंकज की पावन रज के प्राप्त किये बिना इस रूप-सुधा का पान करना नितांत असंभव है। अस्तु, रसिक-जन निरंतर ब्रज के लता-पत्र होने की कामना करते रहते हैं। वामांग मे राधा तथा दक्षिणांग में चन्द्रावली के साथ माधव को देखकर रसिक इन्हें अपने हृदय में बसा लेता है। इनकी नासिका के मोती को देखकर शुक लज्जित है, दाँतों के समक्ष मोती तिरस्कृत हो जाते हैं और अधरों की लालिमा पान की लालिमा को मन्द कर देती है—ऐसे सौन्दर्य से युक्त जब वे धीरे से हँस देते हैं, तो फिर रसिक बच नहीं पाता और उन्हें हृदय में धारण कर ही लेता है। उनके रूप-समुद्र में उनकी नाभि भ्रमर के समान जान पड़ती है और तब छवि की अनगिनत तरंगों के मध्य वे रसिक तैरने लगते हैं, जो नित्य निकुंज में इसी के दर्शन की अतृप्त लालसा करते हैं। यथा—

> रूप सिंधु नाभी भँवर, जल पीयूष उमंग।
> पैरत प्यारी लाल लख छबि की उठत तरंग ।। १२ ।।
> नव दंपति छवि छकन को मो नैनन उत्साह।
> होत विहारनि कृपा ते नित्य निकुंज निबाह ।। ४ ।।

—ललितकिशोरी, अभिलाष माधुरी, वृन्दावनशतक से

भक्तों का केलि-माधुर्य

जो विश्व माया से निरंतर मोहित रहता है, वह यदि उस लीलाधारी की कृपा के बिना उसकी लीला-केलि के रहस्य को समझने का प्रयास करे तो यह उसका दु:साहस नहीं तो और क्या है? उसकी उस मायाविनी शक्ति के ही कारण ब्रह्मा आदिक देवताओं को भी भूमंडल पर अवतरित होना पड़ा था। ज्ञान ही जिनकी शक्ति है उन देवताओं ने भी उस लीलाधारी पूर्णावतार कृष्ण की रहस्यात्मक क्रीड़ाओं को न समझ पाया था। भूमंडलान्तर्गत ब्रज की वह लीला-केलि दो प्रकार की मानी गई है—

१—'वास्तवी' लीला-केलि,

२—'व्यावहारिकी' लीला-केलि,

वास्तवी लीला-केलि तत्वज्ञान के सहारे साधक के हृदय में ही अनुभूत होती है और व्यवहारिकी लीला-केलि प्रत्यक्ष होती है, इसे देख वही पाते हैं, जो वास्तवी लीला-केलि के मर्मज्ञ हैं। व्रज के मध्य विरक्त रूप से निरंतर-निवास करने वाले माधुर्योपासकों ने ही इसे देखा और प्रभु की कृपा से वैसा ही चित्रण करने का प्रयास भी किया। इसे समझने की क्षमता उसी व्यक्ति में है, जो श्रद्धा से भावपर्यन्त स्थितियों को पार कर चुका है।

शैशवावस्था में चमकदार चट्टान पर अपनी प्रतिच्छाया को दृष्टिगत कर जिस प्रकार शिशु खेला करता है, ठीक वैसे ही व्रज की सुरम्य वनस्थली में अखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण ने क्रीड़ा की थी। गोपियाँ थीं उनकी आत्मा और वे थे आत्माराम (योगी)। उनकी यह पारस्परिक लीला-केलि उनके पूर्णावतार होने का ज्वलंत प्रमाण है। गोपियों ने ही अपने दिव्य चक्षुओं द्वारा इस लीला-केलि के दिव्य रस का आस्वादन किया था। दिव्य नेत्रों से ही इसकी झाँकी मिल सकती है और इन्द्रियों से अनुभूति। इस लीला-केलि को माधुर्यमूर्ति श्रीकृष्ण ने अपनी अवस्था के अनुसार व्रज में किया था और अपने अद्भुत चरित प्रियजनों को दिखलाये थे। भगवान के इन अपूर्व चरितों के भी दो भेद उज्ज्वलनीलमणि में बतलाये गये हैं।[1] यथा—अनुभाव और लीला। किन्तु देखने तथा मनन करने पर ज्ञात होता है कि चरित, लीला, क्रीड़ा तथा केलि आदि पर्यायवाची शब्द हैं।

पहले हम कृष्ण के रूप-माधुर्य का वर्णन करते समय कौमार, पौगंड तथा कैशोर भेद से तीन प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन कर आये हैं। इन्हीं अवस्थाओं के अनुसार कृष्ण-लीला का चित्रण यथासंभव सभी

---

१ अनुभावाश्च लीला चेत्युच्यते चरितं द्विधा ॥ ४० ॥

अत्रेऽनुभावा वक्तव्या लीलेयं कथ्यतेऽधुना ॥

उज्ज्वलनीलमणि, पृष्ठ २७८

माधुर्योपासक भक्त कवियों ने किया है। व्रज में कृष्ण की कौमार तथा पौगण्ड अवस्था का केलि चमत्कार देखने में आता है और पुर तथा गोष्ठ (व्रज) दोनों में कैशोरावस्था का।

कौमारावस्था शैशव की मधुर मुस्कान तथा चापल्य से युक्त होती है तथा कैशोरावस्था की भाँति आदि, मध्य तथा शेष भेद से तीन प्रकार की है।

आद्यकौमार में—

जंघा के मध्य स्थूलता, नेत्र प्रान्त में श्वेतिमा, अतिशय कोमलता तथा किंचित दंतपंक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। बार-बार चलना, क्षण में हँसना तथा रोना, अँगूठे का पान करना, चित सोना आदि चेष्टाएँ इस वय में प्रमुख हैं। कंठ के मध्य बघनख पहिनना, रक्षार्थ तिलक लगाना, कज्जल लगाना, करधनी धारण करना तथा हाथ में सूत्र धारण करना ही इस वय के मण्डन हैं।

मध्यकौमार में—

आँखों पर अलकों का लटकना, थोड़ी सी नग्नता, कर्णछेदन, मधुर भाषण तथा थोड़ा-थोड़ा रेंगना दृष्टिगोचर होता है। नाक के अग्रभाग में मुक्ता धारण, हाथ में नवनीत धारण, कटि में किंकिणी धारणादि प्रसाधन इस वय में होते हैं।

शेषकौमार में—

कटि में थोड़ी सी क्षीणता, वक्षःस्थल में तनिक चौड़ापन तथा काक पंख से युक्त सिर होता है। इस वय में लंगोटी, काछिनी वनाभूषण तथा हाथ में लकुटी सुशोभित होती है। बछड़ों की रक्षा, ब्रजमण्डल में अपने साथियों के साथ खेलना, छोटी सी वेणु, शृंग तथा दल आदि का बजाना आदि लीलायें इस अवस्था में प्रमुखता रखती हैं। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि कौमारावस्था की उपर्युक्त लीलायें तथा क्रियायें पाँच वर्ष पर्यन्त ही होती हैं

कौमार अवस्था की भाँति ही पौगण्डावस्था के भी तीन भेद होते हैं, यथा—आद्यपौगण्ड, मध्यपौगण्ड तथा शेषपौगण।

ओष्ठ में लालिमा, उदर में क्षीणता तथा शंखाकार कंठ आद्यपौगण्ड अवस्था के प्रतीक हैं। अनोखे पुष्पों के आभूषण तथा धातुओं के अलंकार एवं पीताम्बरादि इसमें प्रसाधन माने गये हैं। समस्त वन के मध्य में गाय-समूह के साथ कृष्ण का विचरण, केलि, नृत्यादि शिक्षा से युक्तलीलायें इस वय में देखी जाती हैं।

मध्यपौगण्ड में नासिका का सुन्दर एवं उच्च नोकदार होना, कपोलों का मण्डलाकार हो जाना तथा पार्श्व का गोलाकार होकर बालियों से युक्त हो जाना उत्तम होता है। इस वय में श्रीकृष्ण की नासिका तिल के पुष्प की कांति को क्षीण करती है, कपोल नवीनमणि एवं दर्पण के दर्प को पराजित करते हैं तथा पार्श्व अत्यंत चिकना हो जाता है। रेशम के सूत से निर्मित विद्युत की सी कांति वाले उष्णीष का धारण तथा अग्रभाग में स्वर्ण से मढ़ी हुई तीन हाथ लम्बी श्याम वर्ण की लकुटी इस अवस्था के विशेष प्रसाधन हैं। भाण्डीर वन में क्रीड़ा करना, गोवर्धन पर्वत का उद्धार आदि लीलायें यहाँ प्रमुख रूप से कही गयी हैं। इस अवस्था में श्रीकृष्ण प्रकाशमान होकर सुशोभित होते हैं।

नितम्ब के नीचे तक वेणी का लटकना, लीलायुक्त अलकें तथा उन्नत स्कंध आदि लक्षण शेषपौगण्ड के होते हैं। पगड़ी में वक्रता (टेढ़ी टोपी) हस्त में लाल कमल, मस्तक पर केसर का तिलक तथा बीच में कस्तूरी की बिन्दु आदि इस वय के मण्डन होते हैं। वचनों में वक्रिमा, नर्मसखाओं के साथ कर्णकथा में आनन्द लेना, बातों में गोकुल की बालाओं की शोभा की प्रशंसा आदि लीलायें कृष्ण की इस अवस्था में दृष्टिगोचर होती हैं। पौगण्डावस्था की उपर्युक्त लीलायें दस वर्ष पर्यन्त ही कृष्ण के द्वारा की गई है।

कैशोर अवस्था का वर्णन रूप-माधुर्य लिखते समय किया जा चुका है। यहाँ संक्षेप में उक्त अवस्थाओं में हुई केलि या क्रीड़ा की प्रधानता का उल्लेख किया जायगा। आद्यकैशोर में अबीर गुलाल आदि से युक्त होली लीला प्रधान रूप से होती है। मध्यकैशोर में गीत-गायन, कुंज-लीला तथा रास-लीला आदि की प्रधानता है और शेषकैशोर में माधुर्यपूर्ण सभी लीलायें गोपियों के साथ श्रीकृष्ण करते हैं। सोलह वर्ष पर्यन्त ही कैशोर-केलि होती है।

बाल, पौगण्ड तथा कैशोर भेद से रसिकशिरोमणि कृष्ण की लीला तीन प्रकार की होती है। इसी का ऊपर सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया

गया है।[1] कृष्ण की लीला के प्रकार अनंत हैं, किन्तु विस्तार-भय से किशोरवय की ही प्रमुख केलि-लीलाओं का वर्णन यहाँ समीचीन होगा। इन लीलाओं में रास-केलि, नृत्य-केलि, हिंडोल लीला-केलि, रंगहोली केलि, दानकेलि, मान-केलि, रास-केलि तथा जल-केलि आदि को लिया जा सकता है। केलि-माधुर्य वर्णन की दृष्टि से इन्हीं लीलाओं की व्यंजना होनी चाहिए। कुंज-विहार अथवा कृष्ण की मधुर लीला का वर्णन 'रतिमाधुर्य' वाले विभाग में सैद्धान्तिक रूप से प्रस्तुत किया जायगा। माखनचोरी से लेकर जल-केलि पर्यन्त सभी क्रीड़ायें अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भगवान के सम्बन्ध में वर्णित कौमार, पौगण्ड तथा कैशोर वयों के अनुकूल ही देखने में आती हैं। रास-लीला इन सभी में श्रेष्ठ है। अस्तु, यहाँ पर रासलीला के सम्बन्ध में दो चार बातें कह देना अनुचित न होगा। श्रीकृष्ण ने पूर्णावतार लेकर सभी लीलाओं के साथ अपनी नित्य रास-केलि ब्रजमण्डल में की थी। इसमें रसिक कृष्ण के अनोखे हाव-भाव, नृत्य, गीत तथा आलिंगनादि के दर्शन होते हैं। समस्त गोपिकाओं के साथ उनके कंठ पर अपने हस्त-कमल को रखे हुये मण्डलाकार होकर श्रीकृष्ण का नृत्यगानादि ही रास कहलाता है। श्रीकृष्ण-प्रेमियों के पवित्र प्रान्त में ही इस परम पावन प्रेमलीला की झाँकी मिलती है। यहाँ पर स्पष्ट रूप से प्रेमावतार अखिलरसामृतमूर्ति ने काम को पराजित किया है। वे चाहते भी यही थे कि प्रथम तो ब्रजगोपियों को परमानंद रस का आस्वादन हो जाय और दूसरे काम पराजित हो जाय। इसलिये ही कृष्ण की इस लीला को अप्राकृत कहा गया है और उन्हें 'साक्षात्मन्मथमन्मथ: तथा आत्मारामोऽप्यरीरमत्' की संज्ञा प्रदान की गई। साक्षात्मन्मथमन्मथ: कहलाना क्या हंसी खेल है ? जिसने साक्षात् मन्मथ के मन को भी मथ दिया वही साक्षात् मन्ममथमन्मथ:—श्रीकृष्ण हैं। दूसरे किसी देवता को कभी स्वप्न में भी यह साहस न हुआ कि वह कामदेव को पराजित कर सके। केलि-माधुर्य की चरम सीमा हैं—श्रीकृष्ण। यथा—

चापल्यसीम चपलानुभवैकसीम,
चातुर्यसीम चतुराननशिल्पसीम्।

---

१ कौमार, पौगण्ड तथा कैशोरावस्था का केलि सहित चित्रण श्रीमद् भागवत् के दशम स्कंध में किया गया है। यहाँ पर उन अवस्थाओं का सैद्धान्तिक विवेचन उज्ज्वलनीलमणि के आधार पर हुआ है।

सौरभ्यसीम सकलाद्भुत केलिसीम,
सौभाग्यसीम तदिदं व्रजभाग्यसीम ।।७४।।

—श्रीकृष्णकर्णामृत (रसिकरोचनी टीका) पृ० २१७

सौन्दर्य माधुर्य के साथ ही श्रीकृष्ण चपलता की सीमा हैं, चपला व्रज-बालाओं की अनुभूति की सीमा हैं, चातुर्य की सीमा हैं, विधाता की शिल्प विद्या की सीमा हैं, सुगंध की सीमा हैं, समस्त अद्भुत केलि की सीमा हैं, परम सौभाग्य की सीमा हैं तथा वृंदावन के सौभाग्य की एक-मात्र सीमा हैं। इतनी चपलता उन रसिक-शिरोमणि कृष्ण में विद्यमान है कि तीन शतकोटि गोपिकाओं के साथ अलात चक्र की भाँति भ्रमण किया था। यथार्थ है गति की लाघवता? और फिर रास में! उसे तो वे ही कर सकते थे। ऐसी गति की लाघवता रास में उस चापल्यसीम कृष्ण ने प्रकट की कि मण्डल में उपस्थित गोपिकाओं के मध्य—दो-दो गोपियों के बीच प्रवेश करके नृत्य कर डाला। इतना ही नहीं, समस्त प्रकार की केलि अपनी सम्पूर्ण कलाओं सहित श्रीकृष्ण में ही परिपूर्णता को प्राप्त हुई थी। श्रीकृष्ण जैसा खिलाड़ी पाकर खेल को भी गर्व हो गया था। अब व्रजवासियों के भाग्य की बात देखिए, उनके भाग्य का तो कहना ही क्या है? कृष्ण-केलि के प्रलोभन से साक्षात् रुद्र ने उनके अहंकार में, ब्रह्मा ने उनकी बुद्धि में, चन्दमा ने उनके मन में, वासुदेव ने उनके चित्त में, अश्विनी कुमार द्वय ने उनके नेत्र में, इन्द्र ने उनके हस्त में, उपेन्द्र ने उनके चरण में, मित्र ने उनकी गुदा में, तथा प्रजापति ने उनके उपस्थ में अपना निवास बना लिया था और माधुर्यमूर्ति के स्पर्श का सुख प्राप्त किया था। सारांश यह कि गोपियों ने समस्त देह, प्राण तथा इन्द्रियों से कृष्ण की उपासना की थी। श्रीकृष्ण की समस्त लीलायें विश्वकल्याणार्थ है तथा रासलीला आत्महितार्थ है। अन्य लीला वैष्णवी (माया) शक्ति के साथ वाह्य विलास है तथा रास आत्मारूपी राधा तथा इनके कायव्यूहरूपी गोपियों के साथ अन्तर-विलास है। इस रास लीला में मानो साम्राज्य को प्राप्त होकर श्यामसुन्दर आज ही आनन्द हो गये हैं। सारांश यह कि रासलीला रूप में आनंद ही आनंद सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। श्रीकृष्ण स्वयं राधा से कहते हैं कि अहो! रा+सा। दो अक्षरों में कितना अनोखा आनंद रस माधर्य भरा हुआ है कि इनके कानों में पड़ते ही मन किसी विचित्र प्रेम के केलि-सागर में निमज्जित तथा मस्तिष्क आनंद मद के कारण घूर्णायमान होने लगता है। यथा—

निमज्जति निमज्जति प्रणय-केलि सिंधौमनौ,
विघूर्णति विघूर्णति प्रमद चक्र कीर्ण शिरः ।
अहो किमिद भावयोः सपदि रास नामाक्षर,
द्वयी-जनुषि निस्वने श्रवण वीधिमारोहति ।।

—ललित माधव (९।४६)

शरद् ऋतु की चन्द्रिकामयी रात्रि में राधा-कृष्ण की यह अपूर्व रास-केलि अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर रसिकों के हृदय को आह्लादित कर देती है। मंडलाकार-गोपिकाओं के मध्य सौन्दर्य-माधुर्य के भण्डार राधा-मोहन विराजमान होकर सभी का मन हरण कर लेते हैं। समस्त गोपियाँ उनके प्रेम में सराबोर होकर गायन-वादन करती हुई, दम्पति की उस छबि का आनंद लेती है। रास के समय प्रकृति का समस्त वातावरण अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्रदर्शित करता है। विमल आकाश में समस्त कलाओं से युक्त चन्द्रमा का चमत्कार और मालती आदि पुष्पों का सौन्दर्य आदि सब कुछ आनंदप्रदायक होता है। यमुना के पावन पुलिन पर शरद् की उस चन्द्रिकामयी रात्रि में होने वाले रास में श्यामसुन्दर जब कभी स्वयं सखी का रूप धारण कर सखियों के मध्य संगीत का आनंद लेते हैं तो राधिका जी भी अपने प्रियतम को नाचना सिखाने लगती हैं। यथा—

पिय को नाँचन सिखावत प्यारी ।
वृन्दावन में रास रच्यौ है, सरद-चंद उजियारी ।
मान गुमान लकुट लियै ठाढ़ी, डरपत कुंज बिहारी ।
'व्यास' स्वामिनी कौं छवि निरखत हँसि-हँसि दैकर
तारी ।।६२२।।

—भक्तकवि व्यास, ३६१

इस रास में दम्पति की मन्द-मन्द मुस्कान, कुंडलों की चंचलता, मस्तक पर निकलने वाले श्रमकणों की शोभा सभी का मन मोह लेती है। रास में इस प्रकार की शोभा से युक्त राधा-माधव कभी सबसे अलग हो जाते हैं और कभी सब के बीच में प्रकट रह कर परम मधुर गान का रस लूटते हैं। इस रास में राधिका जी का केशपाश छूट जाता है, फूल बिखर जाते हैं। मन मत्त हो जाता है तब इन्हीं श्यामा के लिए—

नृत्यत श्याम श्यामा हेत ।
मुकुट-लटकनि, भ्रकुटि-मटकनि, नारि-मन सुख देत ।

कबहुँ चलत सुगंध गति सौं, कबहुँ उघटत बैन ।
लोल कुंडल गंड-मंडल चपल नैननि सैन ।
श्याम की छवि देख नागरि, रही इकटक जोहि ।
सूर प्रभु उर लाइ लीन्हीं, प्रेम-गुन करि पोहि ।।
११४८ ।। १७६६ ।।

– सूरसागर (ना० प्र० सभा)

श्यामसुन्दर की इस छवि पर सभी गोपियाँ मुग्ध हो गई थीं, उनके नेत्र इस सौन्दर्य-रस का पान करने के लिए अपलक हो गए थे और फिर उन्होंने अपना-सर्वस्व अपने प्रियतम को सौप दिया था ।

व्रज की गोपिकाओं के मध्य श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के बीच में गोपिकायें मेघों के बीच में बिजली और बिजलियों के बीच में मेघ के समान अपने उत्कर्ष को बढ़ाते हैं । निश्चय ही इस रास केलि ने काम के मन का मन्थन कर उसे भी अपने वश में कर लिया था ! ऐसे अवसर पर मोहन मोहिनी के रस में सराबोर उनकी नृत्य कला को अपलक नेत्रों से देख रहे थे । भौंहों का मोड़ना, नेत्रों का घुमाना, कृष्ण को वश में किये था । नृत्य की कितनी कलाओं का प्रदर्शन श्रीराधिका जी ने किया—कोई नहीं कह सकता । उनके इस नृत्य से स्वर्ण के कलश के समान शोभायमान उनके स्तन उन्नत हो गये, दुपट्टा उड़ने लगा, कंचुकी टूट गई, माला तरक गई और वे धरणी पर गिर गई । तुरन्त भगवान श्यामसुन्दर ने अपनी प्यारी राधा को झपट कर उठा लिया ।[१] साथ ही उस माला को गिरने से पूर्व ही यह समझ कर उठा लिया कि यह उनकी प्यारी के वक्षःस्थल पर विराजती है । इसके उपरान्त अपने

---

१ मोहन मोहिनी रस भरे ।
भौंह मोरनि, नैन फेरनि तहाँ तैं नहिं टरे ।
अंग निरखि अनंग लज्जित सकै नहि ठहराइ ।
एक की कह चलै सत-सत कोटि रहत लजाइ ।
इते पर हस्तकनि गति छबि नृत्य भेद अपार ।
उड़त अंचल प्रगट कुच दोउ कनक घट रससार ।
दरकि कंचुकि तरकि माला, रही धरनी जाइ,
सूर प्रभु करि निरखि करुना तुरत लई उचाइ ।।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) ११४५।१७६३

पीताम्बर से वे कृष्ण राधा के श्रम-विन्दुओं को पोंछने लगते हैं, श्रमित जानकर चरण दबाने लगते हैं और पसीना सुखाने के लिए श्रीमुख से हवा फेंकने लगते हैं।[1] राधा का जैसे ही श्रम निवारण हो जाता है, वे उठती हैं और श्यामसुन्दर से कहने लगती हैं—

हा हा हो पिय नृत्य करौ।
जैसे करि मैं तुमहिं रिझाई, त्यौं मेरौ मन तुमहु हरौ।
तुम जैसें श्रम-वायु करत हौ, तैसे मैं हूँ डुलावौंगी।
मैं श्रम देखि तुम्हारे अंग को भुजभरि कंठ लगावौंगी।
मैं हारी त्यौंही तुम हारौ, चरन चापि श्रम मेटौंगी,
सूर स्याम ज्यौं उछंग लई मोहिं, त्यौं मैं हूँ हँसि भेंटौंगी॥

—सूरसागर (ना० प्र० स०) ११४७।१७६५

राधा की नृत्य-गति को देखकर श्रीकृष्ण मुग्ध हो जाते हैं और कहते हैं—

बारी बारी एहो जाऊँ तिहारी गति पर प्यारी।
अति अद्भुत देखी न सुनी कहूँ जो जो तो पै कलारी।
सब गुन-सींव-सरूप शिरोमनि नागरि निपुन महारी।
श्रीहरिप्रिया सदा हिय नैननि बसि रहिये बलिहारी॥१५८॥

—महावाणी पृष्ठ १०८

जब राधा-कृष्ण दोनों साथ ही साथ नृत्य करते हैं, तब सभी सखियाँ ताल मृदंग आदि का वादन करती हैं। इन वाद्यों के मध्य मुरली की मनोहर ध्वनि गुंजरित होकर सभी के चित्त को चंचल कर देती है। जब दोनों गायन करते हैं, तब घटायें घिर आती हैं, मोर, कोकिला आदि क्रीड़ा करने लगते हैं। उधर बिजली कड़कती है और इधर श्यामा-श्याम मुरली की ध्वनि

---

१ प्रेम सहित माला कर लीन्ही।
प्यारी हृदय रहति यह जानी भूपर परन न दीन्हीं॥
पीत बसन लै श्रमजल पोंछत, पुनि लै कंठ लगाई।
चरनन कर परसत हैं अपने कहत अतिहि श्रमपाई॥
श्रम कन देखि पवन मुख ही कैं फुंकि भरावत अंग।
सूरदास प्रभु भौंह निहारत, चलत तिया कैं रंग॥

—सूरसागर (ना०प्र०स०) ११४६।१७६४

तन्मय हो जाते हैं। कुसुम की लताओं के मध्य बैठकर कल-गान करने वाले कृष्ण सभी रसिकों के परम प्रिय हैं।[1] गायन-वादन करते हुए श्रीराधिका जी कभी-कभी अपने प्रियतम को वीणा सिखाने का उपक्रम करने लगती हैं और कहती हैं-कि "हे प्रियतम, अपने मन को लगाकर राग को बाँधिये।" कृष्ण सम्हाल कर वादन करते हैं, फिर भी राधिका जी 'फबीना' कह देती हैं।[2] कौन किसे सिखाता है—यह भेद कौन जान सकता है ? श्रीराधिका जी जब गान करती हैं, तो कृष्ण रीझकर तुरन्त उन्हें अंक में भर लेते हैं, दोनों के शरीर से शरीर, मन से मन, प्राण से प्राण मिल कर एकाकार हो जाते हैं, सूरदास को भी यही छवि प्रिय है, यथा—

गान करति नागरि, रीझे पिय, लीन्हीं अंकम लाइ।
रसबस ह्वै लपटाइ रहे दोउ, सूरसखी बलि जाइ॥ '०५७।१६७५

—सूरसागर (ना० प्र० स०)

इस प्रकार प्रेमरस में सराबोर दोनों एक दूसरे पर रस की वर्षा करते हैं। श्रीवन में तो श्रीकृष्ण ने ऐसी वीणा बजाई कि राधा तन्मय हो गयीं और राधा ने ऐसा नृत्य किया कि कृष्ण वीणा-वादन में बेसुध हो गये। जिस प्रकार से श्रीकृष्ण वेणु के रंध्रों में अपनी अंगुलियों को चलाते हैं, उसी प्रकार राधा थिरकती हैं। दोनों में होड़ लगी रहती है, ललितकिशोरी इस छवि को अपलक देखते हैं। यथा—

---

१ राधा मोहन प्रान अधार जब मिलि गामें।
बोलत चात्रिक मोर कोकिला करै कलोल,
उमड़ घुमड़ घन घटा आमें।
उत दामिनी घन इत स्यामा स्याम तन
मंद-मंद घोर सुर मुरली बजावैं।
श्री सूरदास मदन मोहन कुसुम
लतान पर बैठे मन भामें॥९१॥
—पा० सू० म० मो० पृ० ३१

२ नव निकुंज मन्दिर में प्यारी पियहिं सिखावत बीना।
तान बंधान कल्यान मनोहर इत मन देहु प्रवीना।
लेत संभार संभार सुघरवर नागरि कहत फबीना।
श्री बीठलविपुल विनोद बिहारी को जानत भेद कबीना॥२८॥
—श्रीबीठलविपुलदेव बाणी पृ०८

मंडलाकार होकर वे उनके रूप-रस का पान करती हैं। वे कभी गाती हैं, कभी झुलाती हैं, और कभी झूले को धीमा कर प्रिया-प्रियतम को ताम्बूल देती हैं। श्यामसुन्दर भी कभी स्वयं झूलते हैं, कभी झुलाते हैं, कभी आलिंगन करते हैं, कभी झोंका देते हैं। उमड़ी हुई घनघोर घटाओं के मध्य इस प्रकार दोनों झूला झूलते है। घनघोर वर्षा होने पर कृष्ण अपने मुकुट की छाया से राधा को बचाने की चेष्टा करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने आपको इस छवि पर बलिहार कर देते हैं, यथा—

कमल नैन प्यारी झूलै झुलावैं पिय प्यारी।
कबहुँक झोंटा देत कबहुँ लगावै कंठ,
कबहुँ सवारत सारी, करत मनुहारी॥
कबहुँ संग झूलै सोभा देखि-देखि फूलै
कबहुँ उतरि झोंटा देत, भारी-भारी डरत सुकुमारी।
'हरीचंद' बलिहारी झुकि आई घटा कारी,
बरसत घोर बारीं मुकुट छावत गिरिधारी॥११३॥
—भारतेंदु ग्रंथावली भाग २ पृ० ५२

अपनी काव्यमयी प्रतिभा से होली-लीला का जो चित्र रसिक भक्तों ने अंकित किया है, वह अत्यन्त सरस है। ऋतु उपस्थित होने पर राधा-माधव युगल होली खेलते हैं, खिलाते है और अपने माधुर्योपासक भक्तों के लिए रस की वर्षा करते हैं। जिस समय राधिका जी के साथ श्रीकृष्ण फाग खेलते हैं, तभी सारी गोपिकायें 'होहोरी' कहकर चिल्ला उठती है। इस समय किसी को किसी की सुधि नहीं रहती। श्रीकृष्ण अपनी मधुर मुस्कान से राधा का चित्त चुरा लेते हैं। बड़ी रुचि से राधा प्यारी के साथ वे नृत्य करते हैं, और सखियों की दृष्टि बचाकर परस्पर प्रेम की वर्षा करते हैं।[1] श्रीकृष्ण के साथ फाग खेलकर

---

१ राधा रसिक कुंजविहारी खेलत फाग,
सब जुवतीजन कहत हो होरी।
भरत परस्पर काहू को काहू न सुधि,
हँसि के मन हरत मोहन गोरी॥
कर सों करन जोरि कटि सों कटि व,
मोर करत नृत काहू न रुचि थोरी।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा भिरत न्यारेई न्यारे,
सब सखियन की दृष्टि बचावत तकित व खोरी॥१०५॥
—केलि माल, पृ० ३५

समस्त गोपियाँ इसी व्याज से अपने अन्तःकरण में विद्यमान अपने प्रियतम कृष्ण के प्रति अनुराग को प्रकट करती हैं। नंदनंदन और वृषभान नंदिनी दोनों में प्रगाढ़ प्रेम है। भादों के मेघ की भाँति दोनों ओर आनंद की वर्षा हो रही है। एक बार समस्त गोपियाँ यशोदा जी के पास गईं और कहा कि इस होली के अवसर पर आप केवल चार दिन के लिए मोहन को हमें दे दें। बड़े प्रेम से समस्त सखियों के साथ राधा जी श्यामसुन्दर के हेतु गाली गाती हैं। यशोदा प्रसन्न हो श्याम के बदले सब कुछ देने को प्रस्तुत हैं।[1] राधिका तन्मय होकर सखियों के साथ कृष्ण को गाली गाती हैं और यशोदा से अपना फगुआ माँगती हैं, किन्तु यशोदा उसे देने को प्रस्तुत नहीं होतीं। वे प्रसन्न हैं और उस फगुआ के बदले सब कुछ देने को प्रस्तुत हैं। इसी बीच श्रीकृष्ण बाहर आते हैं, बड़ी-बड़ी पिचकारियों से सुगंधित रंग की धारें निकल कर एक दूसरे को सराबोर कर देती हैं। मुट्ठियों के अन्दर से उड़ा हुआ गुलाल समस्त गोपिकाओं तथा श्रीकृष्ण के मुख पर पड़कर उनकी शोभा को द्विगुणित कर रहा है। तभी अनायास सभी गोपियों ने श्यामसुन्दर को अपने यूथ में कर लिया और उन्हें राधा के पास ले आईं। बड़ी विचित्र स्थिति हो गई कृष्ण की यहाँ, यथा—

(ब्रज युवती मिलि) नागरि, राधा पै मोहन लैं आईं।
लोचन आँजि भाल बेंदी दै पुनि-पुनि पाइ पराईं।
बेनी गूँथ, माँग सिर पारी, बधू-बधू कहि गाईं।
प्यारी हँसति देखि मोहन-मुख, जुवती बने बनाई।
स्याम-अंग कुसुमी नई सारी अपने कर पहिराई।
कोउ भुज गहति, कहति कुछु कोऊ कोउ गहि चिबुक उठाई।

---

१ नदनंदन वृषभानु कुंवरि सों बढ़ायो अधिक सनेह,
दोउ दिसि पै आनन्द बरषत ज्यों भादों कौ मेह।
सब सखियाँ मिलि गईं महरि पै मोहन मांगे देहु,
दिना चारि के अवसर बहुरि आपनो लेहु।
झुकि झुकि परति हैं कुँवरि राधिका, देत परस्पर गारि,
अब कहँ दुरे साँवरे ढोठा फगुआ देहु हमारि।
हँसि-हँसि कहति जसोदा रानी गारी मति कोउ देहु,
सूरदास स्याम के बदले जो चाहो सो लेहु॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०) २८६५।३४८३

एक अधर गहि सुभग अंगुरियनि बोलत नहीं कन्हाई।
नीलांबर गहि खूँट-चूनरी, हँसि हँसि गाँठि जुराई।
जुवती हँसति देति कर तारी, भई स्याम मन भाई।
कनक-कलश अरगजा घोरि कै हरि कै सिर ढरकाई।
नंद सुनत हँसि महरि पठाई, जसुमत धाई आई।
पट मेवा दै स्याम छुड़ायौ, सूरदास बलि जाई॥
— सूरसागर (ना० प्र० स०) २८७९।३४९७)

इस प्रकार प्रिया-प्रियतम यमुना के सुन्दर पुलिन पर समस्त गोपियों को आनंदित करते हुए होली खेलते हैं। ताल-मृदंग की सुमधुर ध्वनियों के मध्य अपने-अपने यूथ को साथ लिये हुए, ललिता तथा श्यामा आदि सभी गोपियाँ केसर कुमकुम की वर्षा कर रही हैं। नंदनंदन गेंदुक चलाते हैं, राधा कला से उसे बचा जाती हैं। इतने ही में झपट कर ललिता श्यामसुन्दर को पकड़ कर उनकी मुरली तथा पीताम्बर को छीन लेती हैं।[1]

रंग-केलि करते हुए इस प्रकार श्यामसुन्दर माधुर्य में सराबोर समस्त गोपीजनों को अपना आलिंगन, चुम्बनादि प्रदान करते हुए आनन्दामृत की वर्षा करते हैं।

नवनिकुंज में राधा-कृष्ण के विविध विलास को देख कर शरद की कमनीय चन्द्रिकामयी रात्रि भी आनन्द में तन्मय होकर अपनी अवधि को भूल जाती है। ऐसे सुअवसर पर रस-मत्त श्याम-श्यामा जल के मध्य क्रीड़ा करते हैं।

---

१ पिय प्यारी खेलें जमुन तीर, भरि केसरि कुमकुम अरु अबीर।
घसि मृगमद चंदन अरु गुलाल, रंग भीने अरगज वस्त्र भाल।
कूजत कोकिल कल हंस मोर, ललितादिक श्यामा एक ओर।
वृन्दादिक मोहन लई जोर, बाजें ताल मृदंग रवाब घोर।
प्रभु हँसि के गेंदुक दई चलाइ, मुख पट दै राधा गई बचाइ।
ललिता पट मोहन गह्यो धाय, पीतांबर मुरली लई छिनाय।
हौं सपथ करौं छांड़ौं न तोहिं, स्यामा जू आज्ञा दई मोहिं।
इक निज सहचरि आई बसीठि, सुनि री ललिता तू भई ढीठ।
पट छांड़ि दियो तब नवकिसोर, छवि रीझि सूर तृन दियो तोर॥
—सूरसागर (ना०प्र०स०) २८५६।३४७४

उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो अमृत के सरोवर में हंस क्रीड़ा कर रहा है। यहाँ दोनों एक दूसरे पर जल की बौछार करते हुए प्रफुल्लित होते हैं। मधुर रसिक रूप की इसी राशि को अपलक देखना चाहता है :—

जल माहिं भरे रस डोलहीं।
मानहुँ सुधा-सरोवर माहीं मत्त मराल किलोलहीं।
छिरकत छींट परस्पर पुलकत मुलकत मुख सों बोलहीं।
श्रीहरिप्रिया अरि रहे टरत नहिं झकझोला झकझोलहीं ।।६७।।

—महावाणी, उत्साहसुख

जल के मध्य केलि करती हुई राधिका का सौन्दर्य श्रीकृष्ण को मोहित कर दिया है। राधा का शरीर वस्त्र आदि भीग गये हैं, उनके केश-पाश से उनके वक्षःस्थल पर जल गिर रहा है। दोनों स्तनों के मध्य से आती हुई केश-जल की धार ऐसी प्रतीत होती है मानो राहु कनकगिरि पर अमृत उगल रहा हो। श्यामसुन्दर ने उरज स्पर्श किया, राधा लजा गई और रसिक आनन्द-विभोर हो गया इस झाँकी को देखकर, यथा—

रीझे स्याम नागरि रूप।
तैसिये लट बगरि उर पर स्रवत नीर अनूप।
स्रवत जल कुच परति धारा, नाहिं उपमा पार।।
मनो उगिलत राहु अमृत, कनक-गिरि पर धार।
उरज परसत स्याम सुन्दर, नागरी सरमाइ।
सूर प्रभु तन-काम-व्याकुल किये मनहिं सुहाइ ।।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) ११६६।१७८४

यमुना के मध्य गोपियों के साथ गजराज की भाँति जल-विहार करने वाले श्रीकृष्ण कमलमुखी गोपियों के बीच भ्रमर के समान सुशोभित होते हैं। राधा-कृष्ण दोनों के अंग-प्रत्यंग भीग गये हैं। आनन्द उमड़ रहा है। पानी से भीग कर वस्त्र शरीर से लिपट गये हैं। मनमोहन घात करके जल में छिप जाते हैं और फिर जल के अन्दर ही अन्दर जाकर राधा के पैरों में लिपट जाते हैं। रसमत्त वे राधा को झकझोर देते हैं, जिससे उनकी माला, वस्त्र तथा कंचुकी आदि के बन्द टूट जाते हैं। ललिता अपनी स्वामिनी की यह दशा देखकर यत्न से श्यामसुन्दर के पास पहुँचकर उन्हें छकाती हैं और राधा को मण्डल के मध्य कर लेती है। और इस प्रकार वंशीवट पर क्रीड़ा करते हुये

प्रसन्नता को प्राप्त करती है। राधा की भाँति गोविंद भी जल उछालते हैं और विविध प्रकार से केलि कर सबको आनन्दित करते हैं, यथा—

> गोविंद छिरकत छीट अनूप।
> उत वृषभानुनंदिनी राजत इत घनस्याम स्वरूप।
> पावन जल जमुना कौ निरमल करत विविध रस केलि।
> सजल बसन सोभित अंगनि में उठत तरंगनि रेलि।
> कीनौ बस गोवर्धनधारी वेद शृंखला पेलि।
> 'गोविंद' प्रभु आनंद सिंधु में रहे मगन मन झेलि ॥१६६॥
>
> —गोविन्दस्वामी, पृष्ठ ८६

सौन्दर्यमयी राधिका अपने प्रियतम पर जल उछालती हैं। उनकी गति तथा मृगराज के समान उनकी कटि पर कृष्ण आसक्त हो जाते हैं, केशपाश-छूट जाते हैं और वे श्यामा के प्रेमरस में डूब जाते हैं। सखियाँ अपने हाथों में अनेक कमलों को लेकर राधा-माधव के साथ जल के मध्य विविध लीलायें करती हैं, कोई नेत्रों पर कमल से वार करती है, कोई भागती है, कोई छिपती है और कोई कमल को हाथ में लेकर नचाती है। रसिकों की तो बात ही क्या है स्वयं यमुना भी भगवान की इस जलविहार लीला को देखने के लिए अपने प्रवाह को रोक देती है।

भक्तों का रति-माधुर्य

रति, मधुर रसोपासना का प्राण तथा बीज स्वरूप है। इसके अभाव में इष्टदेव की माधुर्यमयी साधना साधक के लिए संभव नहीं हो सकती। माधुर्य रस के स्थायीभाव के रूप में यही रति भक्त के हृदय में जब स्थायी रूप से निवास प्राप्त कर लेती है, तभी साधक या भक्त को अंशरूप से रसास्वाद होने लगता है। चित्त की आर्द्रता को रति कहते हैं। रति का यह लक्षण मोक्ष की कामना करने वालों के लिए नहीं होता, क्योंकि इस कामना के आधिक्य से यह रति उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती। इस रति को संसार की समस्त कामनाओं से विरत चित्त वाले ही ढूँढ़ते हैं। अखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण के निकट इस रति का रहस्य अत्यंत गोप्य है, इसीलिये शुद्ध भक्ति से हीन तथा मुक्ति की कामना वाले मुमुक्षुओं के हृदय में यह भागवती रति नहीं होती। भगवान के प्रिय काल, देश, क्रिया तथा पात्रादिकों के आकस्मिक संगम से कहीं-कहीं अज्ञजनों में यह रति छाया के रूप में ही प्रकाशित होती है।

यथार्थ रूप में फिर भी नहीं। इसमें सौभाग्य वाले ही रतिछाया को भी प्राप्त कर पाते हैं। इस रतिछाया से भी उत्तरोत्तर कल्याण ही होता है। यदि रति का आभासमात्र ही भक्त को प्राप्त हो जाय, तो वह भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता हुआ रति रूप हो जाता है और तब उस रत्याभास का पूर्णतः विनाश हो जाता है। रति के उत्पन्न हो जाने पर भक्त को निरंतर यह ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं उससे हरि के प्रियजनों के प्रति कोई अपराध न हो जाय। यदि भगवान के प्रियजनों के प्रति कोई अपराध हो गया, तो निश्चित रूप से उसके हृदय में प्रस्फुटित होने वाली वह भागवती रति लुप्त हो जाती है। इसलिए योग्य भक्त निरंतर इसका ध्यान रखते हुये साधना करते हैं।

यह उत्तरोत्तर मधुररसअभिलाष की वृद्धि करने के कारण अशान्त स्वभाव से युक्त उष्णत्व को धारण करने वाली तथा दिन-रात चित्त में उल्लास पैदा करने के कारण प्रबलतर आनन्द स्वरूप है। अशांत स्वभाव से उष्णता को उत्पन्न करने पर भी सुधांशु कोटि से भी अधिक यह रति स्वादमयी तथा शीतल होती है। ऐसा ही उल्लेख श्रीहरिभक्तिरसामृतसिंधु की भाव-लहरी में किया गया है, यथा—

रतिरनिशनि सार्गोष्ण प्रबलतरानन्दपूररूपैव,
उष्माणमपि वमंती सुधांशुकोटिरपि स्वाद्वी ॥३५½॥

—श्रीहरिभक्तिरसामृतसिंधु—पूर्व विभाग

अमृत के समान कोमल चित्त वाले भक्तों के हृदय में जब यह रति-विकास की चरम सीमा को प्राप्त कर लेती है, तभी समस्त अनुकूल तथा प्रतिकूल भाव इसके वश में हो जाते हैं। विद्वानों ने भक्तिशास्त्रानुसार इस रति को स्थूलरूप से दो प्रकार का माना है—

१—मुख्या रति, २—गौणी रति।

मुख्या रति उसे कहते हैं, जो शुद्धसत्व विशेष से युक्त होती है, इसके भी दो भेद हैं।

१—मुख्या स्वार्था और २—मुख्या परार्था।

जो रति प्रतिकूलता रहित भावों के द्वारा पुष्ट होती है तथा जिसकी प्रतिकूल भावों के उपस्थित होने पर हानि नहीं होती, उसे स्वार्था रति कहते हैं और जो रति स्वयं संकुचित होते हुए अविरोधी तथा विरोधी भावों को ग्रहण करती है, उसे परार्था रति कहते हैं।

शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता भेद से स्वार्था परार्था रूप मुख्या-रति पाँच प्रकार की होती है। भिन्न-भिन्न पात्रों की विभिन्न विशेषताओं के द्वारा यह रति विशेषत्व को उसी प्रकार प्राप्त करती है, जैसे सूर्य भिन्न-भिन्न स्फटिक आदि वस्तुओं में विशेष रूप से· प्रतिबिंबित होता है।

स्वार्थापरार्थारूपमुख्यारति के अन्तर्गत शुद्ध आदि पाँच प्रकार की रति में शुद्धारति के भी तीन प्रकार माने गये हैं, यथा—

१—सामान्याशुद्धारति, २—स्वच्छा शुद्धारति, ३—शांति शुद्धारति।

इस रति में अंग-कंपन एवं नेत्र आदि का खुलना तथा मूँदना आदि क्रियायें होती हैं। किसी प्रकार की विशिष्टता को प्राप्त न करने वाली साधारण जन तथा बालिका आदि की भगवान कृष्ण में जो रति होती है, उसे सामान्या शुद्धारति कहते हैं। भिन्न-भिन्न साधन विशेष के द्वारा नाना प्रकार के भक्तों के सत्संग से उत्पन्न साधकों में विविध प्रकार की जो रति है उसे स्वेच्छाशुद्धा रति कहते हैं। जब जिस प्रकार के भक्त में जैसी आसक्ति होती है, तब यह रति उसी प्रकार का रूप स्फटिक की भाँति धारण कर लेती है, इसीलिये इस रति का नाम स्वच्छारति है। आस्वाद विशेष से रहित बुद्धि से युक्त शुद्ध श्रेष्ठ भक्तों की यह स्वच्छारति अपने अपने भाव के अनुसार सुख-सागर भगवान कृष्ण में होती है।

जिस स्वभाव के द्वारा विषय की उन्मुखता (विषयाशक्ति) छूट जाय तथा निजानंद की स्थिति आ जाय उसे शांति कहते हैं। ममता की गंध से रहित एवं शांत प्रकृतियुक्त महात्माओं की भगवान कृष्ण में परमात्म बुद्धि से उत्पन्न रति ही शांति शुद्धारति नाम से विख्यात है। प्रीति आदि के द्वारा कहे जाने वाले स्वादों से रति का संबंध न होने से इसे शुद्धा रति की संज्ञा दी गई है। रति के अन्य तीन भेद (प्रीति, सख्य तथा वात्सल्य) अत्यन्त मनोहर हैं। ये तीनों भेद अत्यंत अनुकूलता से उत्पन्न तथा ममता से सर्वदा आश्रित रहते हुये, क्रम से अनुग्राह्य कृष्ण भक्त में प्रीति, मित्र भक्त में सख्य तथा पूज्य कृष्ण भक्त में वात्सल्यरूप से रहते हैं। इस रतित्रयी के भी दो प्रकार होते हैं, एक केवला दूसरी संकुला।

केवला रति दूसरी रति के गंध तक से रहित होती है। क्रम से इस रति का स्फुरण व्रज के अनुगामियों वयस्य श्रीदामादिकों तथा व्रजबाशादि

में होता है। जहाँ दो या तीन प्रकार की रति एक साथ हो वहाँ संकुल रति होती है, किन्तु जिसका प्राबल्य होता है, उसी नाम से उस रति को पुकारा जाता है। जैसे प्रीति, सख्य तथा वात्सल्य में यदि प्रीति की प्रबलता है, तो उसे प्रीति संकुला रति कहेंगे, आदि।

श्रीहरि की अपेक्षा अपने को छोटा समझने वाले साधक को अनुग्राह्य कहते हैं—ऐसे भक्तों की आराध्यत्वात्मिका रति को प्रीति कहते हैं। यह प्रीतिरति भगवान में आसक्ति को बढ़ाकर अन्यत्र आसक्ति को कम करती है। जो भगवान श्रीकृष्ण के तुल्य है, वही भगवान के सखा हैं। समता के कारण इन भक्तों की विस्रम्भरूपा रति को सख्यरति कहते हैं। हरि के जो गुरु हैं, वही हरि के पूज्य हैं। इन पूज्यों की हरि के प्रति जो अनुग्रहमयी रति है—वही वात्सल्य नाम से प्रसिद्ध है।

हरि तथा उनकी प्रियतमा के संभोग का आदि कारण, मधुरा नाम की प्रियता रति होती है। इसमें कटाक्ष, भ्रू विक्षेप, प्रियवाणी तथा मुस्कानादि लक्षण विद्यमान रहते हैं।

रति का उपर्युक्त विवरण मुख्यारति के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया। अब गौणीरति के स्वरूप का अति संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। जो रति, विभाव के उत्कर्ष से होने वाले भावविशेष को स्वयं संकुचित होती हुई प्रकट करती है, उसे गौणी रति कहते हैं। इस रति के अन्तर्गत हास-विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा भेद से सात प्रकार के भाव विशेष बतलाये गये हैं, किन्तु जो मुख्यारति है वही स्थायी रसावस्था को प्राप्त करती है। इन सप्त हासादि में रहने वाली रति स्थायी रस अवस्था को प्राप्त नहीं करती, अस्तु इस दृष्टि से मुख्यारति ही महाशक्तिशाली विलास से युक्त अचिन्त्य तथा श्रेष्ठ है।

माधुर्य का आश्रय होने से ही कृष्ण के प्रति रति जागृत होती है। इस प्रकार यही माधुर्य, रति का विस्तार निरंतर करता रहता है। मधुरा नाम की जिस रति की चर्चा मुख्यारति के अन्तर्गत भेद रूप में की गई, उसके तीन प्रकार "उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रंथ में कहे गये हैं, यथा—१—साधारणी रति, २—समन्जसा रति, ३—समर्था रति।[1]

---

१ साधारणी निगदिता समञ्जसासौ समर्था च,
कुब्जादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च क्रमतः ॥५७॥

कुब्जा आदि स्त्रियों में मणि की भाँति साधारणी रति चमत्कृत हुई है, किन्तु इस रति का पाना अत्यंत कठिन है। समंजसा रति श्रीकृष्ण की पटरानियों में चिंतामणि की भाँति चमत्कृत हुई है, जो सब प्रकार से दुर्लभ है। और समर्था रति गोकुल की देवियों में कौस्तुभ मणि की तरह चमत्कृत हुई है, यह रति गोपियों की अपेक्षा अन्य किसी में भी नहीं हो सकती। साधारणी रति अति सांद्र नहीं होती है और प्रायः हरि के दर्शन से ही उत्पन्न हो जाती है। संभोग की इच्छा ही इस रति का अन्तिम लक्ष्य होता है। इस साधारणी रति के असांद्र होने से संभोगेच्छा का इससे पृथक्करण रहता है। संभोगेच्छा के ह्रास होने से रति का भी ह्रास हो जाता है, क्योंकि संभोग की इच्छा के कारण ही यह उत्पन्न होती है।

पत्नीभाव की अभिमानयुक्त बुद्धिवाली, गुणादि श्रवण से उत्पन्न होने वाली कहीं संभोगेच्छा से पृथक् तथा सांद्र समंजसा रति प्रसिद्ध है। रुक्मिणी की रति इसी प्रकार की थी। इस समंजसा रति से संभोग की इच्छा जब भिन्न या अलग हो जाती है, तब संभोग की इच्छा से होने वाले भावों से श्रीकृष्ण को वश में करना दुष्कर हो जाता है, जैसे मुस्कान से युक्त अवलोकन से परिपूर्ण भाव द्वारा तथा अपने मनोहर कटाक्ष द्वारा संभोग रूपी मंत्र में दक्ष कामदेव के बाण वाले अपने हावभावादि से सोलह सहस्र पत्नियाँ भी उन कृष्ण की इन्द्रियों को विचलित करने में समर्थ नहीं हुईं। यहाँ संभोग की इच्छा तो है, किन्तु समंजसा रति के अभाव में कृष्ण को वश में करना दुष्कर है।

जब किसी अनिर्वचनीय विशेषता से युक्त रति के साथ संभोगेच्छा-तादात्म्य भाव में रहती है, तब उसे समर्था रति कहते हैं। इस रति में कुल, धर्म, लोक-लज्जा आदि का विस्मरण हो जाता है, इसलिये इसे सान्द्रतम तथा समर्था रति की संज्ञा आचार्य रूपगोस्वामी ने प्रदान की है। सभी प्रकार के आश्चर्ययुक्त विलास की तरंगों के चमत्कार को करने वाली शोभा से युक्त इस समर्था रति से संभोगेच्छा कभी पृथक् नहीं होती है। इस समर्थारति में कृष्ण-सौख्य के लिये ही उद्योग होता है। समंजसा रति में तो अपने सुख के लिए भी प्रयत्न हो जाता है। यही समर्था रति इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में

मणिवच्चिन्ता मणिवत्कौस्तुभ मणिवत्त्रिधाभिमता ॥

—उज्ज्वलनीलमणि, जीवगोस्वामी भाष्य पृ० ४०७

वर्णित महाभाव दशा को प्राप्त कर लेती हैं। श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में उद्धव जी गोपियों की प्रशंसा कहते हुए कहते है कि ये ही गोप-वधुयें पृथ्वी के ऊपर सफल मानव शरीर को धारण किये हैं, जो अखिलात्मा श्रीगोविन्द में इस प्रकार अपने भाव को जागरूक बनाये हुये रह रही हैं। इसी भाव को संसार से भय प्राप्त करने वाले मुक्त मुनि तथा हम भक्त सर्वदा प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। अनन्त की कथा मात्र में अनुराग रखने तथा ब्रह्मा के बहुत जन्मों के धारण करने ही से कोई लाभ नहीं यदि यह भाव प्राप्त न हो।[1] गोपियों की इस परम भागवती समर्था रति में यह विशेषता है कि उसमें अपने सुख की कामना न होते हुये भी परम सुख का उपभोग विद्यमान है। इन रतिमग्ना गोपियों के लिये न तो स्वतंत्र दर्शन का आनंद है और न स्वतंत्र श्रृंगार का, न स्वतंत्र विहार का सुख है और न किसी स्वतंत्र कार्य का। उनके कारण उनके प्रियतम कृष्ण को निरंतर सुख प्राप्त होना चाहिए—यही उनका एकमात्र लक्ष्य है। उनके रूप-यौवन, श्रृंगार, केशपाश तथा वस्त्राभूषण सब की सफलता इसी में थी कि श्रीकृष्ण उसे देखें और प्रसन्न हों। अभिप्राय यह कि गोपियों ने अपने शरीर को अपना नहीं समझा वरन् अपने परम प्रियतम का समझ कर निधि रूप में उसे सुरक्षित तथा प्रफुल्लित रखा। गोपियों के हृदय का तो कहना ही क्या है ? वह तो परम मधुररस के आनंद का साम्राज्य है और कृष्ण भी इसी साम्राज्य के सम्राट हैं। इस साम्राज्य का विलास प्रत्येक के नेत्रों का विषय नहीं बन सकता। यह तो केवल गोपीभावाश्रित उपासकों के ही अनुभव का विषय है। अगले अध्याय में इस रति-माधुर्य का विशद विवेचन किया जायगा।

---

१ एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो,
गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढ़भावाः।
वांछन्ति यद्भवभियो मुनयो वयंच,
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथा रसस्य ॥
—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध

दृष्टव्य—रति का यह शास्त्रीय वर्णन 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रंथ के आधार पर यहाँ किया गया है।
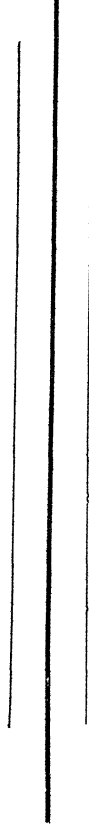
चौथा अध्याय

हिन्दी में कृष्णभक्त-कवियों का रति-माधुर्य

●

हिन्दी में कृष्णभक्त कवियों का रति-माधुर्य

पूर्व प्रकरण में मधुर उपासना करने वाले रसिक भक्तों द्वारा अभिव्यंजित उस समर्था रति का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें प्रिय-सौख्य के हेतु ही प्रेमी की समस्त चेष्टायें होती हैं। व्रज की सुरम्यस्थली में निवास करने वाली, समर्था रति से युक्त गोपियों की समस्त चेष्टाओं का एकमात्र उद्देश्य था—अपने प्रियतम को तृप्त करना। अपने सुख की किंचित्‌मात्र भी चिंता न करते हुये, उन गोपांगनाओं ने उनके संयोग के परम सुख का अनुभव किया था और प्रियतम के रसमय हृदय को पाकर ही अपना सर्वस्व उन्हें सौप दिया था। यहाँ गोपी श्याममयी थीं और श्याम गोपीमय।

रसिक भक्तों ने इस समर्था रति को अपने हृदय में धारण करते हुये जंगली झाड़ियों के मध्य काँटों में रहकर निरंतर इसी राधाकृष्ण-संयोग के सुखामृत को अपने नेत्रों से पान किया था और वियोग में संचित मधुर रस की काव्यमयी मन्दाकिनी को प्रवाहित कर पत्थरों को भी रससिक्त कर दिया था। नित्य संयोगी प्रिया और प्रियतम का पारस्परिक अनुराग तथा उनकी दिव्य रस-क्रीड़ा को देखते हुये इन रसिकों के नेत्र कभी थकते न थे। युगल-शतक के रचयिता भक्तप्रवर श्रीभट्टदेवाचार्य लिखते हैं:—

परस्पर निरखि थकित भये नैंन।
प्रेम कला भरि राधे सों, बोलत अमृत बैंन।
हार उदार तिहार निहारौं राधे यह मन लैंन।
जै श्रीभट लटकि जानि हितकारिन भई स्याम सुखदैन ॥५५॥

—युगलशतक पृ० ८६

मधुर संयोग की इसी झाँकी की अनुभूति प्राप्त करने के लिये साधकों की समस्त साधनायें सम्पन्न होती हैं। इस रसमय स्नेह का साक्षात् रहस्यमय है। वह इतना विस्तृत तथा गंभीर है कि साधक उसे हृदयंगम करना तो दूर रहा अनुमान के सहारे छू भी नहीं पाता। राधिका के साथ कुंजविहार देखने की

लालसा कोई रूपरसिक ही कर सकता है। देखिये, निम्नलिखित पंक्तियों में साधक की आकांक्षा का अनुभव है:—

हिलमिलि विलसि हमैं हूं सुख दीजिये।
अति ही उदारि प्यारी इतनी न कीजिये।
कोमल तमाल लाल अंक भरि लीजिये।
कंचन की बेलि ज्यों लड़ेलि लपटीजिये।
सरल सुभाव ही तैं सब विधि जीजिये।
रूपरसिक महामधुपान पीजिये ॥ २ ॥ ५९ ॥

—श्रीलीलाविंशति और नित्यवि० पदा० पृष्ठ ७९

संयोग-माधुर्य की स्थिति में राधाकृष्ण की पारस्परिक तन्मयता के वे पावन क्षण अत्यंत मधुर एवं आत्मविस्मृति से पूर्ण आनंद की सर्वोच्चावस्था की सृष्टि करने वाले हैं। इसके अन्तर्गत भक्तों ने युगल इष्टदेव से सम्बंधित विभिन्न परिस्थितियों एवं चेष्टाओं का वर्णन किया है, यथा—

कुंजबिहार—

आत्म-संयोग-सुख की प्राप्ति के लिये कृष्ण किसी कुंज में राधा के साथ शय्या पर विराजमान हैं। वे अनन्य रसमयी वार्ता में संलग्न हैं। क्षण भर में अपनी प्यारी राधिका से वार्ता करते ही कृष्ण राधा के वश में और राधा कृष्ण के वश में हो जाती हैं।

श्याम-श्यामा के इस सहज नेह को अपने हृदय में धारण कर रसिक आत्मविभोर हो जाते है। उन दम्पति किशोर का वार्तालाप संयोग के हेतु कभी तो नेत्रों में होता है, कभी संकेतों में और कभी बोलों में। निरंतर सेवा करने वाली सहस्रों सखियाँ भी इनकी इस रहस्य-वार्ता को समझ कर भी नहीं समझ पातीं। रूपरसिक जी लिखते हैं:—

दोउ जन नैंनन ही बतरावैं।
स्यामा स्याम सखिन के संगहि भेद न कोऊ पावैं।
रहसि रंगराते रसमाते छाके बुधि बिसरावैं।
कहत नटत रीझत, खिजिआवत हिलत मिलत लगि जावैं।
मन ही मन विव अंक भरत पुनि हिय आनंद बढ़ावैं।
चोरा-चोरी चलत कटाछनि सबकी दीठि बचावैं।
जानति जिय की बात जोई यह जांहि जु आप जनावैं।

रूप रसित बड़भागनि सहचरि निपट निरंतर ध्यावें ।। २९ ।।

—लीलाविंशति नित्य विहार पदावली पृ० ६७-६८

इस माधुर्य रस में तन्मय राधा-कृष्ण की छवि का वर्णन करने के लिये रसिक जन आकुल रहते हैं—उपमा दृष्टि मे नही आती। जब कभी लवंग की लता के मध्य विरचित कुसुम-शय्या पर रूप-कुमारी राधिका के साथ श्यामसुन्दर विहार करते हुये अपनी प्रिया को अपना स्नेह प्रदान करते हैं, तो सिद्ध मधुर उपासक पागल हो उठता है और कहता है—

आजु लवंग लता गृह विहरत राजत कुंजविहारी।
कुसुम निकर सचि ललित सेज रचि नखसिख कुंवरि सिंगारी।
प्रथम अंग-प्रति अंग संग करि, मुख-चुम्बन सुखकारी।
तब कंचुकि बंद खोलत, बोलत चाटु वचन दुखहारी।
हस्त-कमल करि विमल उरज धरि, हरि पावत सुखभारी।
अधर सुधा-मद मादक पीवत आरज पथ सों सींव विदारी।
वृन्दावन-लीला-रस जूठनि, वाइस'व्यास' विटारी।। ३२९।।

—भक्तकवि व्यास पृ० २७५-७६

भक्त राधा-कृष्ण की इस परम स्नेहमयी झाँकी को अपने हृदय में बसाकर कृतकृत्य होना चाहता है—

बसौ उर मेरे अरी ये दुहुन कौ अतिरति सहज सनेह।

—महावाणी, हरिव्यासदेवाचार्य पृ० १५२

रत्यनुराग-सुख—

संयोग के इस परमानंद का पूर्ण अवसर प्रिया प्रियतम को और प्रियतम प्रिया को समान रूप से देते हैं। राधा नेत्रों से माधव को सब कुछ बतला देती है और माधव राधा को वैसा ही रहस्यमय उत्तर भी दे देते हैं। संकेतस्थल पर नवीन कुंज के भीतर प्रतिक्षण नवीन प्रेम को हृदय में धारण कर नवीन शृंगार से युक्त होकर दोनों पहुँच जाते हैं और नवीन-नवीन प्रणालियों से यमुना के सुन्दर कूल पर अपने प्रेम को परस्पर प्रकट करते हैं। पारस्परिक अनुराग में दोनों के शरीर शिथिल हो जाते है, वस्त्र छूट जाते हैं और तन्मयता की चरम स्थिति में पहुँच कर दोनों रसमय हो जाते है। रसिक भक्त इसी रूप की पुनीत झाँकी के सुख-हेतु निरंतर अपनी साधना में प्रयत्नशील रहता है। इस नवलनिकुंज में अपनी आह्लादिनी शक्ति के साथ

मिले हुये आह्लादित कृष्ण अपने भक्तों के लिये ही ऐसे सुशोभित होते हैं, जैसे कनकबेलि से आच्छादित तमाल, जिसमें रूप भी है और रस भी। यथा—

नवल निकुंज प्रान प्यारी संग
बिहरत सुरत-केलि रस उठत झकोरें।
सीतल पवन सुगंध संचरित बैठे-
दोऊ दिये भाल चन्दन की खोरें।
कालिन्दी बहत निकट ताकौं अति-
निर्मल जल छिरकत कुंजन में चहुँ ओरें।
चतुर्भुज स्याम तमाल पर लपटी कनक वेलि,
मानो रति रन चढ़्यौ प्रेम रंग रस बोरें ।।२०७।।

—चतुर्भुजदास प० सं० पृ० ११३

संयोगी जीवन में प्रेमातिरेक के कारण पारस्परिक स्पर्धा का भाव बड़ा ही स्पृहणीय होता है। यह वह स्पर्धा है जहाँ जीत कर भी हारते रहने की कामना पालित-पोषित होती है।

युगल-प्रतिस्पर्धाः—

विहार सुख की इस सरस झाँकी का चित्रण करते हुये नंददास जी कुंजभवन में होने वाली प्रतिस्पर्धा का एक रूप उपस्थित करते हुये लिखते हैं—

बेसर कौन की अति नीकी।
होड़ परी प्रीतम अरु प्यारी अपने अपने जी की।
न्याय परो ललिता के आगे कौन सरस को फीकी।
नंददास प्रभु विलगि जिन मानौ कछु इक सरस लली की ।।६८।।

—नंददास ग्रन्थावली पृ० ३४९

बेसर की इस प्रतिस्पर्धा में ललिता सखी ने राधा की विजय करा दी। विजय के इस उल्लास में रसिकों का कुंज-भवन जगमगा उठा, रस की वर्षा होने लगी और श्यामा-श्याम एक दूसरे को रिझाने लगे। आनंद में तन्मय होकर नंद-नंदन तो भक्तों के सुख-हेतु किलकारी मारकर गायन करने लगे, यथा—

मिले दोऊ कुंजमहल मनभावन।
कुसुम रचित सिज्या पर बिहरत बिथा जुनसावन।
रतिस्रम स्रमित अवलोकत पूछत पीत वसन जु रिझावन।
गोविन्द प्रभु पिय सब गुन आगर मगन भये लागे गावन॥
—गोविन्दस्वामी पद स० पृ० १९५

किशोरी भावना को अपने हृदय में धारण किये हुए, माधुर्योपासकों ने राधा-माधव युगल का सामीप्य प्राप्त कर उनके संयोग-सुख का अत्यन्त विशुद्ध भावना से रसमय वर्णन प्रस्तुत किया है। राधा-माधव की भेंट उस रसिक के समक्ष एक ऐसी अपूर्व छटा के साथ आती है, जिसमें माधव राधा की प्रीति में और राधा माधव की प्रीति के रँग में रँग जाते हैं। संयोग की मधुरिमा पारस्परिक संयोग से द्विगुणित हो जाती है। इस दृष्टि से अब संयोगी कृष्ण की छटा देखिये और साथ ही रसिकों की रसमयता का अपूर्व आनंद वर्णन भी।

संयोग-माधुर्य वर्णन में कृष्णः—

भक्तों ने संयोगावस्था में कृष्ण को प्रारंभिक चेष्टायें करते हुए देखा है। प्रकृति यद्यपि पुरुष से अविकृत है, पर पुरुष सतत् उसकी कृपा, प्रसन्नता के लिये लालायित है। उस प्रसन्नता को प्राप्त करने के लिए वह नाना प्रयत्न भी करता है। इसीलिये तो कृष्ण राधा के लिए कुंज-शय्या की रचना करते हैं—

निज कर अपने स्याम सँवारी।
सुखद सेज राधाधव मन्दिर, शोभानिधि रिधि सिद्धि महारी।
हितु के हेत हरषि सुन्दर वर अतिहि अनूप रची रुचिकारी।
जै श्रीभट करत परिचर्या रिझवत प्राणवल्लभा प्यारी॥५१॥
—युगल शतक पृ० ८१

प्रिया के रूप-रस के रसिक कृष्णः—

जिस सुखद शय्या पर श्यामसुन्दर का अपनी प्यारी से मिलन होता है, उसे वे स्वयं अपने कोमल हाथों से सजाते हैं। उन्हें यह विश्वास है कि संयोगिनी राधा इससे प्रसन्न ही होंगी। राधिका की उपस्थिति कृष्ण के लिये अंग-प्रत्यंग शिथिलकारिणी होती है।[1] राधा के तेजस्वी रूप को देखकर

[1] देखि भई लाल की गति शिथिल।
डग डगमत लगत तनक न लग ह्वै अति उथल पुथल।

कृष्ण प्रेमावेश में अपनी प्यारी के चरण तक दबाने लगते हैं, उस समय उनके मुख से राधे-राधे के सिवाय और कुछ नहीं निकलता। राधा के रूप-सौन्दर्य पर स्वयं तो मुग्ध हैं ही, इसके साथ ही राधा को भी उसकी रूपराशि का अनुभव वे कराना चाहते हैं। इस दृष्टि से माधव प्रिया जी को दर्पण दिखलाते हैं और वे अपने केशपाश में लगे हुये मोतियों को संवारने लगती हैं। कभी कृष्ण अपलक नेत्रों द्वारा रूप-रस का पान करते हैं और कभी बेसुध हो जाते हैं।[२]

कृष्ण कभी राधिका की उलझी हुई वेणी स्वयं गूँथने लगते हैं और बीच-बीच में पुष्प पिरो देते हैं और कभी कंघी से प्यारी के बालों को सँवार देते हैं। एक अनोखी छटा को लिए हुऐ प्यारे कृष्ण का यह संयोग-सुख रसिकों के हृदय को भी आनन्द से भर देता है और वे उसी रंग में झूमने लगते हैं। सौन्दर्य-माधुर्य की भण्डार वृषभानु लली के प्राणों में प्राण, तन में तन, आँखों मे आँखें डालकर कृष्ण अत्यन्त दीन बन जाते हैं। एक क्षण भी राधा का वियोग वे सहन नहीं कर सकते—अपनी प्यारी से अपने हृदय की यह बात भी बतला देते हैं और उनकी बाहों मे समा जाना चाहते हैं, यथा—

ऐसी जीय होत जो जीय सों जीय मिलैं,
तन सौ तन समाइ ल्यौं तौ देखौं कहा हो प्यारी।
तोही सौंहि लग आँखिन सौं आँखें,
मिली रहें जीवन को यहै लहा हो प्यारी।
मोकों इतौ साज कहाँ री प्यारी हौं अति दीन,
तुव वस भुवछेप जाय न सहा हो प्यारी।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कहत राखि लै,
बाँह बल हो वपुरा काम कहा हो प्यारी ॥ ३५

—केलिमाल पृ० १६

टग-टग जोय रहे मुख-रुख लै रग रग सकल विकल।
श्रीहरिप्रिया-तन-तेज के आगे अकल न लागे अकल ॥

—महावाणी सुरत सुख पृ० १४०

२ कर लै दरपन स्याम दिखावत, स्यामा जू संवारत सीस के मोती !
इकटक रहे निरखि सुन्दरवर, सुधा सदन ससिवदनी की जोती।
रूपरसिक रस-चसक चसे चखि लखि लखि सखी सोभा अनहोती।
कहत न वेनत बनक मों पै मुख सुधि बुधि सरब भई समनौती ॥६३॥

—लीला वि० नित्यविहार पदा० पृ० ८०

श्रृंगार-प्रसाधनः—

देवताओं के द्वारा अचिन्त्य मदनमोहन जब कभी अपनी प्यारी को स्वयं सजाते हैं, तो रसिकों की मति की गति भी भटक जाती है। एक बार नंदनंदन ने राधा प्यारी के मस्तक पर मृगमद का सना हुआ तिलक लगाया, कानों में कुण्डल पहिनाये, कोमल करों से उनके केश-पुष्पों से गूँथे, नेत्रों में अंजन लगाया और कंठ में माला पहिनाई। प्रियतम के कोमल करों से सजाई गई राधा का सौन्दर्य मूर्तिमान हो गया, कृष्ण आतुर हो गये, राधिका ने मुस्कान से प्यारे के चित्त को चुरा लिया, रसिकों ने भी अपना मन समर्पित किया और वे गा उठे—

लाल प्रिया को सिंगार बनावत !
कोमल कर कुसुमनि कच गूँथत, मृगमद आइ रचत सचु पावत।
अंजन मन रंजन नषवर करि, चित्र बनाइ-बनाइ रिझावत।
लेत बलाइ भाय अति उपजत, रीझ रसाल माल पहिरावत।
अति आतुर आसक्त दीन भये, चितवत कुँवरि कुँवर मन भावत।
नैननि में मुसिकान जानि प्रिय, प्रेम विवस हँसि कंठ लगावत।
रूप रंग सोंवा भुजग्रीवा हंसत परस्पर मदन लड़ावत।
सरसदास सुख निरख निहाल भये, गई निसा नव-नव
गुन गावत ॥ ६ ॥

—श्रीअष्टाचार्यों की बाणी पृ० ६८०

कृष्ण कभी शरद् चन्द्रिका में कुंज विहार करने के लिये प्रस्ताव करते हैं,[1] कभी राधा की अनोखी रूप-राशि की छटा को देखने के लिए अत्यधिक

---

१ एक बात कहौं श्रवननि लगि चित्त दे सुनौ प्यारी।
सुभग फूल फूले वृन्दावन तैसी ये सरद उजियारी।
चलि रावे अंतर सुख लूटें सखी रहें सब न्यारी।
मोंहि तोंहि जहाँ अपनपौ भूलै रहै न सुरति सम्हारी।
जहाँ न खरको होइ पंछिन को यह दुरि कहत बिहारी।
श्रीनरहरिदास पिय मन की जानी आगे सेज संभारी।

—श्रीअष्टाचार्यों की बाणी पृ० ७०८

दत्तचित हो अपने नेत्रों को उन्हीं पर लगा देते हैं।[१] वे कभी तो अद्भुत शृंगार से सुसज्जित हो सखी का वेश बनाकर राधा को छलने के व्याज से प्रेम से उनके पदों की सेवा करते हैं, कभी जहाँ राधा जाती हैं, वहाँ पलक पाँवड़े बिछाते हैं, और कभी उनके मुख-कमल को अपलक नेत्रों से निहारने लगते हैं। राधा के संयोग-रस के निरंतर अभिलाषी मदनमोहन प्रेमावेश में राधा प्यारी के पैरों में महावर लगाने लगते हैं, सींक से विचित्र प्रकार के चित्रों का चरण-युगल में निर्माण करने लगते हैं और कभी उन चरणों के सौन्दर्य को देखकर विवश हो जाते हैं! राधिका मना करती हैं—अपने पैरों को छिपाने लगती हैं,[२] किन्तु कृष्ण नहीं समझते और प्रिया की रूपराशि में उनके स्पर्श से उलझते ही जाते हैं। मोहन के चित्त में उठते हुये मनोरथ को प्रिया जी समझ-समझ कर मधुर मुस्कान से प्रगट करती हैं।[३] इस प्रकार प्यारी के संयोग सुख में लीन प्यारे कृष्ण अपने रसिक भक्तों के हृदय

---

१ मोहन मोहिनी रस भरे।
भौंह मोरनि, नैन फेरनि, तहाँ तें नहिं टरे।
अंग निरखि अनंग लज्जित सके नहिं ठहराइ।
एक की कहू चले, सत सत कोटि रहत लजाइ।
इते पर हस्तकनि गति-छवि नृत्य भेद अपार।
उड़त अंचल, प्रगटि कुच दोऊ कनकघट-रस सार।
दरकि कंचुकि, तरकि माला, रही धरनी जाइ।
सूर प्रभु करि निरखि करुना तुरत लई उचाइ ॥११४३॥१७६३॥
—सूरसागर (ना०प्र०स०) पृ०६०४

२ अरी प्यारी के लाल लागे देन महावर पाय।
जब भरि सींकहिं चहत स्याम घन दीजै चित्र विचित्र बनाय।
रहत लुभाय चरन लखि इकटक बिवस होत रंग भर्‌यौ न जाय।
'नंददास' खिजि कहत लाड़िली रहौं, रही तब पगनि दुराय॥
—नंददास ग्रंथावली (ना० प्र० स०) पृ० ३४७

३ मोहन के मन में मनोरथ उठत जो जो,
समुझि समुझि प्यारी मन मुसकावहीं।
—माधुरीवाणी-बंशीवट माधुरी पृ० २८-२९

को आह्लादित कर उन्हें आनंद प्रदान करते हैं। उन रसिक-भक्तों के नेत्र बरबस संयोग की उस माधुरी का पान करने के हेतु वहीं जाकर अटक जाते है, जहाँ राधा के साथ कृष्ण रसमत्त रहते हैं। यहीं उनकी साधना सफल हो जाती है।

संयोग-माधुर्य वर्णन में राधा आदि गोपियाँ:—

भक्त कवियों ने जिस प्रकार कृष्ण के संयोग-माधुर्य का वर्णन किया है, उसी प्रकार राधा आदि गोपियों के भी संयोग-माधुर्य का वर्णन किया है। सांवरे चन्द्र गोविन्द के रस से भरी, कोकिल के समान सुमधुर भाषिणी राधा निरन्तर अपने श्याम के साथ यमुना के पुलिन पर विहार करती हैं—वे एक पल के लिये भी कृष्ण का वियोग नहीं सहन कर सकती। अस्तु वे निरंतर अपने प्यारे के साथ आह्लादिनी शक्ति होकर गोप्यतम माधुर्य-रस को प्रकट करती हैं। वे अपनी विभिन्न क्रीड़ाओं द्वारा कृष्ण का अनुरंजन करती हैं तथा अपनी रसमयता द्वारा उन्हें पूर्णतः आप्यायित कर देती हैं।[1] संयोग-क्रीड़ा में कृष्ण द्वारा राधा पर पड़ने वाले प्रभावों का भी रसिक कवियों ने वर्णन किया है। ये प्रभाव उन की सौंदर्य वृद्धि करते हैं[2] राधिका के सौन्दर्य का यह माधुर्य रसिक भक्तों की उपासना का प्राण है। भाव-जगत में प्रत्यक्ष इसी का दर्शन वे निरंतर करते रहते हैं।

स्वामिनी के रतिसुख के रसासव का पान ही तो उन साधकों की सबसे बड़ी सिद्धि है जिसके समक्ष समस्त प्रकार के ऐश्वर्य तिरस्कृत हो जाते हैं, यहाँ

---

१ अंगनि अंग उमंगनि भरि-भरि अलक लड़ी लड़वावति लालहिं।
लै लै सुखद सुमन-सैय्या पर दै-दै अधर-सुधा प्रतिपालहिं।
मधुर मधुर सुर नूपुर बाजें कलकिंकिनि-रव-रुनित रसालहिं।
श्रीहरिप्रिया प्रेम-रस लंपट अछन-अछन उर ऊपर चालहिं।
—महावाणी—सुरतसुख पृ० १३८

२ रही ढरि भाल ते बेंदी बाल के स्वेद-सलिल के संद।
गसि खसि मांग रही सनि मृगमद अरुन अधर मुख चंद।
विथुर बार गंडनि पर मंडित पीक सुलीक अमंद।
श्रीहरिप्रिया सुरत-रन जीति छकी छवि देत सुछंद।
—महावाणी—सुरतसुख पृ० १४५

तक कि मोक्ष भी। ये राधा स्वामिनी ही हैं, जो मधुर रसोपासकों के हेतु माधव के रंग मे रँगी हुई, मरकत मणियों से निर्मित निकुंज में गज के समान झूमती हैं।

राधा संयोग-सुख की तन्मयता:—

स्नेह से सराबोर राधिका अपने प्रियतम को अत्यन्त कृपापूर्वक रस का दान करती है।[1] कुंज के मध्य प्रिया जी प्रिय को साथ लेकर शय्या पर विराजते हुये उन्हें हृदय से लगा लेती हैं। अंग-प्रत्यंग प्रेम से प्रफुल्लित होने लगता है। उन्होंने कृष्ण से कहा कि हे प्रियतम, देखो यह रस इधर उधर फैल न जाय अस्तु अविलम्ब इसे अपने अधरों से पान कर लो।[2] इस प्रकार कहती हुई संयोग के सुख में तन्मय राधा अपने को सम्हाल नहीं पातीं—

आज सम्हारत नाहिन गोरी।
फूली फिरत मत्त करनी ज्यौं सुरत-समुद्र झकोरी।
आलस बलित, अरुन धूसर मषि प्रगट करत दृग चौरी।
पिय पर करुन अमीरस बरषत अधर अरुनता थोरी।
बाँधत भृंग उरज अम्बुज पर अलक निबन्ध किशोरी।
संगम किरचि-किरचि कांचुकी बंध शिथिल भई कटि डोरी।
देत अशीष निरखि जुवती जन जिनके प्रीति न थोरी।
जै श्रीहितहरिवंश विपिन भूतल पर संतत अविचल जोरी।
—हितचौरासी पृ० ५४-५५

संयोग-सुख में लीन राधा हर्षातिरेक के कारण कृष्ण से कह उठती है कि हे प्रियतम! आज तुम्हें विहारी से विहारिन बनना पड़ेगा, यथा—

बिहारी बनो बिहारिन मेरी।
करि कपूर कौ लेप ललित तन दृग अंजन आंगुरि दऊँ फेरी।

---

१ नागरि निशंक हरि अंक भरि लियौ लाल।
सुख सचवायो अचवायो लै सुधा रसाल।
हिलि-मिलि रंग रस बाढ़्यों अति ही विशाल।
रूप रसिक भई परम कृपाल बाल।
—लीलाविंशति नित्यविहार पदा० पृ० ७६

२ केलिमाल, पद सं० ७४, पृ० २६

बदन पान दन्तन हीरामनि कुन्दन चोंप चमक रुचि घेरी।
कर महदी पग मंजु महावर रामराय सारी रुचि चेरी।
—आदिवाणी, पृ० १४

मानमोचन :—

मान, संयोगी जीवन का एक विशिष्ट अंग है। प्रणयी जीवन की मधुरिमा मान द्वारा निरंतर संबंधित होती रहती है। निश्चित समय पर एक बार कृष्ण को न पाकर वृषभानु लली ने मान किया था। कृष्ण ने सुना वे बेसुध हो गये। राधा ने उनकी दशा को देखा और कहा हे प्यारे! अब मै तुम से कभी न रूठूँगी। तुम्हें निरंतर तुष्ट करती रहूँगी। निश्चय ही तुम मेरे जीव हो और मैं तुम्हारी जीविका, तुम मेरे नेत्र हो और मैं उनकी पुतली, तुम मेरे मन हो मैं तुम्हारी मनसा, तुम चित हो मैं चिता, तुम शरीर हो मैं आत्मा, तुम रक्षक हो मैं धन, तुम विषयी हो मैं विषय, तुम भोक्ता हो मैं भोग, तुम चकोर हो मैं चाँदनी, तुम चातक हो मैं घन, तुम भ्रमर हो मैं कमल और तुम मीन हो मैं जल, इसलिये हे प्यारे, तुम मेरे अधीन हो। हम दोनों ही इस ब्रज की सम्पत्ति हैं। हमारी इस राशि के एकमात्र लूटने के अधिकारी! अब कभी वियोग न होगा।[1] इस प्रकार कृष्ण से कहती हुई राधा जब कृष्ण के नेत्र और कपोलों का चुम्बन कर उन्हें अक में भर लेती हैं तब साधक अपने इष्टदेव की इस अपूर्व छटा की अभिव्यंजना करने लगता है—

नैननि कपोलनि चूँबि के लिये अंक भरि लाल।
अधर सुधारस दें मनों, सींचत मैन तमाल॥
अंग-अंग उरझनि की शोभा बढ़ी सुभाइ।
मृदुल कनक की बेलि मनौं रही तमाल लपटाइ।
बिच-बिच बोलत बैन मृदु सुनि सुख होत अपार।
रोचक रस पोषक सदा कल किंकिनि झुनकार।
प्रबल चौंप सरिता बढ़ी कहत बनत कछु नाहिं।
पियहिं लाई कुच घटनि सों पैरावति तेहिं माहिं।
अति उदार मृदु चित्त सखी प्रेमसिन्धु सुकुँवारि।
विविध रतन सब अंग जे देत संभारि संभारि।
श्रम जलकन मुख गौर पर अलकावलि गई छूट।
दरकी सब ठां कंचुकी, हारावलि गइ टूट।

---

१ भक्तकवि व्यास पृ० ३३८

पीक कपोलनि फबि रही कहुं कहुं अंजन लीक ।
मनो अनुराग सिंगार मिलि, चित्र बनाये नीक ।
—ध्रुवदास कृत बयालीस लीला—रसरतनावली

आत्मविस्मृता राधाः -

राधा ने अपनी रस-राशि का दान श्यामसुन्दर को दिया, संयोग के इस अपूर्व रस का पान करते हुये पर्याप्त समयोपरांत राधिका ने घर जाने की इच्छा प्रकट की, किन्तु परम सौन्दर्यमय मदनमोहन को वे कैसे छोड़ें ? प्रियतम का संयोग एक क्षण के लिये भी वे छोड़ना नहीं चाहतीं, किन्तु क्या करें पुरवासियों की चिंता जो लगी है । वे कृष्ण को प्रबोध करती हुई घर की और चलती हैं, कृष्ण व्याकुल होकर नख-क्षत कर देते हैं ।[1] राधा उनके नेत्रों की ओर देख पुनः वश में हो जाती हैं, चलते नहीं बनता, सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दिखाई देने लगते है । मदन गोपाल के रंगराती राधा चलने में गिर-गिर पड़ती हैं, अधर सुधारस से मत्त, संयोग सुख में दिन रात का भान न रखने वाली एक पल भी गोविंद को ओट नहीं होने देना चाहतीं ! वे पुनः लौट कर अपने प्रियतम का आलिंगन करती हैं, नेत्र भर आते हैं और कृष्ण की रूप-माधुरी का पान करने लगते हैं । और भक्तों के रसास्वाद के लिये ही राधा अपने रूप की फुलवारी का मधुप पुनः श्याम प्यारे को बनाकर कुंज की शोभा को प्रतिक्षण परिवर्द्धित करने में संलग्न हो जाती हैं, यथा —

सोहत नवकुंजन छवि भारी ।
अद्भुत रूप तमाल सों लिपटी कनक बेलि सुकुमारी ।
बदन सरोज डहडहे लोचन निरखत छवि सुखकारी ।
परमानंद प्रभु मत्त मधुप हैं वृषभान सुता फुलवारी ।
—परमानंद पद सं० पृ० १४०

---

१ चलन कहति पग चलै न घर कौं ।
छांड़त बनत नहीं कैसे हूँ मोहन सुन्दर वर कौं ।
अन्तर नैंकु करौ नहि कबहूँ सकुचति हौं पुर-नर कौं ।
कछु दिन जैसे तैसे खोऊँ, दूरि करौं पुनि डर कौं ।
मन में यह बिचार करि सुंदरि चली आपने पुर कौं ।
सूरदास प्रभु कह्यो जाहु घर घात कर्‌यो नख उर कौं ।
—सूरसागर प्रथम खंड (ना० प्र० स०) पृ० ५१७

अपने प्रियतम के साथ कुंज-मध्य रति-रस में लीन प्रिया जी अपने शरीर की स्थिति को भूल जाती हैं, कृष्ण के मुख-कमल को देखते-देखते उन्हें शयन का ध्यान नहीं रहता और वे अपने आपको कृष्ण को समर्पित कर देती हैं। वे नहीं चाहतीं कि कृष्ण उनके नेत्रों के सामने से टल जायँ, क्योंकि वे ही उनके जीवन हैं।

नृत्य-प्रस्ताव:—

श्यामा अपने प्यारे श्याम को रिझाती हैं। उन्हें कृष्ण की प्रियतमा होने का गर्व है। संयोगिनी राधा ने अपने प्रभु से एक बार अपनी ही भाँति नृत्य करने का प्रस्ताव किया और कहा, "हे प्यारे, नृत्य करो। जैसे मैंने नाचकर तुम्हें प्रसन्न किया है उसी प्रकार तुम भी मेरे मन को प्रसन्न कर उसे हर लो, नृत्य में थकने पर जिस प्रकार तुम वायु करके मेरे श्रम का निवारण करते हो, वैसी ही मैं भी करूँगी और तुम्हें थकित जानकर कंठ से लगाऊँगी। जिस प्रकार तुम मेरे चरण दबाकर मेरे श्रम को मिटा देते हो, तुम्हारे थक जाने पर मैं भी वैसे ही चरण चाँपूँगी और तुम्हारी ही तरह हँसकर तुम्हें आलिंगन प्रदान करूंगी।"—

हा हा हो पिय नृत्य करौ।
जैसें करि मैं तुमहिं रिझाई त्यौं मेरो मन तुमहु हरौ।
तुम जैसे श्रम-वायु करत हौ, तैसे मैं हुँ डुलावौंगी।
मैं श्रम-देखि तुम्हारे अंग कौं भुज भरि कंठ लगावौंगी।
मैं हारी त्यौंही तुम हारो, चरन चाँपि श्रम मेटौंगी।
सूर स्याम ज्यौं उछंग लइ मोहिं त्यौं मैं हूँ हँसि मेटौंगी।

—सूरसागर प्र०खं०(ना०प्र०स०)पृ०६०४

राधा के इस प्रस्ताव पर जब श्यामसुन्दर ने लज्जा के कारण आनाकानी की, तब कुँवरि राधिका ने उन्हें अपने साथ नचाना प्रारंभ कर दिया। छीतस्वामी के शब्दों में—

नागरी नवरंग कुँवरि मोहन संग नाँचै।
कटितट पट किंकिनी कल नूपुर रव रुनझुन करें।
निर्तत करत चपल चरन-पात घात साँचै।
उदित मुदित गगन सघन घोरत घन-भेद भेद।
कोकिल कल गान करति पंचम सुर बाँचै।

छीतस्वामी गोवर्धननाथ हाथ वितरत रस,

बर विलास बृंदावन-वास प्रेम राँचै।

—छीतस्वामी पद संग्रह पृ०२

राधा के साथ नृत्य करते हुए गिरधारी स्वयं उस मधुर रस का वितरण करते हैं, जो देवताओं को भी दुर्लभ है। बाँकेविहारी को अपने अलसाये हुए सौन्दर्यमग्न अंगों का दर्शन करा कर अपनी मधुर मुस्कान से उनके चित्त का हरण करते हुए रति-संयोग में श्रीराधिका जिस भावी वियोग का अनुभव करके सिहर उठती हैं और कृष्ण जिसके कारण पागल हो उठते हैं, अब उस वियोग की मधुरिमा का वर्णन किया जायगा। मान्यता है कि वियोग में जो स्नेह राशिवत् होता है वही संयोग में प्रवाहित होता रहता है। इस दृष्टि से प्रिया-प्रियतम का मधुर संयोग सरिता की मंदगति का प्रतीक है और वियोग अपार रसराशि से भरे हुये सागर का !

संयोगिनी राधा आदि गोपिकाओं का स्वकीयात्मक परकीयात्मक स्वरूपः

अपनी-अपनी भावना के अनुसार वैष्णवों के सभी संप्रदायों के रसिक भक्तों ने रसिक-शिरोमणि कृष्ण की प्रेयसियों के सम्बन्ध अपने काव्य में प्रदर्शित किये। पूर्व के रसिक भक्तों की दृष्टि में राधा तथा वृन्दावन की गोपियों में कुछ तो परकीया थीं और कुछ स्वकीया, कुछ कन्यायें थीं कुछ विवाहिता। ये सभी व्रज की नारियाँ कृष्ण को अपना प्रियतम मानती थीं। बहुत से रसिक भक्तों ने कृष्ण के प्रेम में मतवाली बहुत सी व्रज की विवाहिता स्त्रियों को परकीया की श्रेणी में रखा है और अन्य को स्वकीया की श्रेणी में। सौन्दर्य-माधुर्य के एकमात्र भण्डार कृष्ण के साथ सयोग रखने वाली ये गोपिकाएँ कुछ रसिकों की दृष्टि में परकीया थीं। इन रसिकों की धारणा है कि परकीया के प्रेम में संयोग की अत्यंत उत्कट अभिलाषा छिपी होती है। स्वकीयात्व का अनुभव होने के कारण स्वकीया प्रेयसियों के प्रेम में इतनी तीव्रता नहीं होती है। परकीया के प्रेम की चरम सीमा राधा मूर्तिमान हैं। चैतन्य चरितामृत में इसे ऐसा ही कहा है, यथा—

परकीया भावे अति रसेर उल्लास।

व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहिं वास।

ब्रजवधूगणेर एइ भाव निरवधि—
तारमध्ये श्री राधारभावेर अवधि।
—आदिलीला चतुर्थ अध्याय चैतन्य चरितामृत

किन्तु चैतन्य चरितामृत में इतना होते हुए भी इसी संप्रदाय के अन्य भक्तों ने राधा के स्वकीयात्व का पोषण किया है। उनकी धारणा है कि जहाँ कहीं भी परकीयात्व का समर्थन किया गया है, वहाँ रस विशेष की पुष्टि ही उसका एकमात्र कारण है। इस सम्बन्ध में भागवत् संप्रदाय का रचयिता कहता है—"श्री जीवगोस्वामी राधा के स्वकीयात्व के ही समर्थक हैं। 'राधा कृष्णार्चन दीपिका' में उनका स्पष्ट कथन है कि अवतार लीला में जहाँ कहीं श्रीराधा के परकीयात्व का आभास मिलता है, वह किसी रस विशेष के पोषणार्थ ही समझना चाहिए। निम्बार्क संप्रदाय के संस्कृत कवि (जयदेव) तथा कुछ भाषा कवि (श्रीवृन्दावनदेवाचार्य आदि) का राधा अभिसार परकीयात्व का सूचक नहीं हैं, अपितु बाल्यकालीन लीलापरक है, जो सहज स्वकीया का ही हो सकता है। अतएव राधिका को कृष्ण की स्वकीया पटरानी मानना ही न्याय-संगत है। राधा कृष्ण की विवाहिता थीं। अवतार लीला में राधा का विवाह ब्रह्मवैवर्त तथा गर्गसंहिता के प्रमाणों से सिद्ध है। राधा के लिये 'कुमारिका' शब्द का प्रयोग अविवाहिता-सूचक न होकर अवस्थासूचक है।"

—भागवत संप्रदाय पृ० ३४६

निम्बार्क संप्रदाय के रसिक भक्तों ने वल्लभ संप्रदाय के रसिक भक्तों की ही भाँति राधा को स्वकीया ही चित्रित कर कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति के रूप में माना है। समानरूप से अष्टछाप के सभी रसिकों ने राधा तथा उनकी गोपियों का वर्णन स्वकीयात्मक ढंग पर करके यह प्रमाणित कर दिया है कि राधा के शरीर के रोम-रोम से प्रकट होने वाली सभी गोपियाँ राधा के समान स्वकीया हैं और कृष्ण से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होतीं। राधा के सम्बन्ध में तो आधुनिक युग के महान विचारक डा० मुंशीराम शर्मा ने अपने 'भारतीय साधना और सूर साहित्य' में यहाँ तक कह दिया है कि राधा प्रथम रसकेलि विलासवती स्वकीया पत्नी के रूप में और पश्चात् विरहाश्रुओं के घूँट चुपचाप पीती हुई विरहिणी आर्यललना के संयत रूप में प्रकट हुई हैं।[1]

---

१ 'भारतीय साधना और सूरसाहित्य' पृ० २३७

परकीया के प्रेम की तीव्रता के संबन्ध में जो विचार चैतन्यमतानुयायियों का है, वह उनकी दृष्टि में भले ही श्रेष्ठ हो, किन्तु स्वकीया के पवित्र प्रेम-बन्धन के समक्ष खरा नहीं उतरता। संयोग में स्वकीया का प्रेम जितना मुखर, मानपरिपूर्ण होता है उतना परकीया का नहीं। राधा के सम्बन्ध में यह बात ठीक उतरती प्रतीत होती है। डा० शर्मा के शब्दों में स्वकीया पत्नी के रूप में संयोग में वह (राधा) जितनी मुखर, मानवती और चंचल है, वियोग में उतनी ही संयत और गंभीर।[1]

जहाँ तक शास्त्रीय दृष्टि का प्रश्न है, वहाँ तो राधा तथा व्रज की गोपियों को स्वकीया ही मानना पड़ेगा, भले ही अवस्थासूचक शब्द 'कुमारिका' का प्रयोग किया गया हो, किन्तु मधुर उपासना की दृष्टि से स्वकीया तथा परकीया दोनों प्रकार की भावना में कोई पूर्णत्व प्रतीत नहीं होता। मधुर रस-सागर में तैरने वाले तथा गोता लगाकर उसकी गहराई का पता लगाने वाले साधक उपर्युक्त भावना की चिंता न करते हुये शक्तिस्वरूपा गोपांगनाओं को शक्तिमान से पृथक नहीं मानते। जहाँ सब कुछ नित्य है, वहाँ स्वकीयात्व-परकीयात्व के लिए कोई विचार नहीं आता! परकीयात्व तथा स्वकीयात्व से बहुत ऊपर की मोहनभावान्तर्गत चित्रजल्प की स्थिति गोपियों में ही दृष्टिगोचर होती है। जहाँ राधा, कृष्ण, गोपी, व्रजलीला आदि सभी कुछ नित्य हैं, वहाँ यह भेद नहीं रहता। समर्था रति-रसमग्ना गोपियाँ अपनी 'भाव-भावना' के अन्तर्गत अपनी समस्त चेष्टायें आराध्यदेव के प्रति ही करती हैं। अस्तु, वे न स्वकीया हैं न परकीया, क्योंकि लौकिकता के सारे सम्बन्ध यहाँ क्षणमात्र के लिये भी नहीं रहते। यहाँ तो राधा-कृष्ण का सम्बन्ध पूर्णरूपेण शाश्वत है—नित्य है, यथा—

नित्यमेव हि दाम्पत्यं श्री राधाकृष्णयोर्यतः।
पाणिग्रहण सम्बन्धौ वर्ण्यते न च वर्ण्यते।
रसत्वं रसिकत्वं च श्री युग्मे सुप्रतिष्ठितम्।
दाम्पत्यं च तयोर्नित्यं तथात्वे कारणंयतः।

—युग्मतत्व समीक्षा, दशम् मयूख पृ० २५२

---

१ 'भारतीय साधना और सूरसाहित्य' पृ० ३३६

निम्बार्क संप्रदाय के रसिक भक्तों ने वृन्दावन के मध्य श्यामसुन्दर के साथ नित्य विहार करने वाली आह्लादिनी शक्तिस्वरूपा की दृष्टि से ही राधा का वर्णन किया है। संयोगिनी राधा को जिस रूप में राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश ने अपने काव्य में चित्रित किया, वह भी स्वकीया-परकीया से बहुत ऊपर की वस्तु है। यहाँ तो राधाभाव ही नित्य है। इस संप्रदाय के रसिकों में राधा स्वयं श्रीकृष्ण की आराध्या हैं।

रसिक भक्तों का वियोग-माधुर्यः—

प्रिय-वियोग की स्थिति आत्मविस्मृतिकारिणी होती है। इस व्यथा का एकमात्र उपचार प्रिय का संयोग ही है, इसीलिये प्रेमी हृदय की समस्त वृत्तियाँ अपने आराध्यदेव में लगकर उनकी समस्त चेष्टाओं को प्रेममय बना देती हैं। वियोग के इन क्षणों में उनका आत्मा स्थायी रूप से अपने प्रिय का भाव सामीप्य प्राप्त कर लेता है और तब वे रस-मग्न हो जाते हैं। व्रज के मध्य होने वाला यह वियोग बड़ा अटपटा है—सुलझाने से नहीं सुलझता। बड़े-बड़े इस वियोग की अग्नि में तपते रहते हैं -

> निपट अटपटौ चटपटौ, व्रज कौं प्रेम वियोग।
> सुरझाये सुरझें नहीं, अरुझे बड्डे लोग।
>
> —नंददासग्रंथावली—विरह-मंजरी पृ० १६४

इस वियोग की मधुरिमा का रसास्वाद वही कर सकता है, जो मर्यादा रहित होकर निरंतर मदनमोहन का ध्यान करे। रसिकों ने श्याम-श्यामा का ध्यान किया, श्यामा-श्याम ने रसिकों का, राधे ने कृष्ण का ध्यान किया और कृष्ण ने राधे का। परिणामतः ये सभी वियोग के अपूर्वरस का पान कर एक दूसरे के हृदय-सम्राट बन गये। नंददास ने अपनी 'विरह-मंजरी' में इस वियोग के चार प्रकारों का वर्णन किया है, यथा—१ प्रत्यक्ष, २ पलकान्तर, ३ बनान्तर, ४ देशान्तर। संयोग के समय स्नेहातिरेक में वियोग की कल्पना करने पर हृदय जब पीर का अनुभव करने लगता है तब प्रत्यक्ष वियोग होता है। प्रिय के रूप-सौन्दर्य-रसानंद का पान करते समय बार-बार गिरकर प्रेमी की पलकें जो व्यवधान उपस्थित करती हैं, उसे पलकान्तर वियोग कहते हैं। कृष्ण के वन जाने के उपरांत जो विरह गोपियों को बिना उनके दर्शन के होता था, वह वनान्तर वियोग के नाम

से विख्यात है और कृष्ण के मथुरा जाने के पश्चात् जिस वियोग की पीड़ा गोपियों को हुई थी, उसे देशान्तर की संज्ञा दी गई है। सर्वेश्वर कृष्ण सर्वेश्वरी राधा तथा उनकी सभी गोपियों ने वियोग-माधुर्य के उपर्युक्त सभी प्रकारों का अनुभव किया था। कुंज के मध्य रति-रस में प्रत्यक्ष वियोग का, रूप-सौन्दर्य की छटा निहारने में पलकान्तर वियोग का, वन में विचरण करने वाले कृष्ण के वनान्तर वियोग का और प्रियतम के मथुरा चले जाने के उपरांत व्रज में रहकर देशान्तर वियोग का अनुभव गोपियों को ही हुआ था। माधुर्योपासकों का व्यक्तित्व राधा-माधव के वियोग की अग्नि में तपकर कुन्दन बन गया, तभी तो उन्होंने प्रेम में मतवाले होकर राधा-कृष्ण के वियोग-वर्णन के माध्यम से अपने हृदय में उठने वाली पीर को अपनी कविता में अभिव्यंजित किया है।

वियोग-माधुर्य वर्णन में श्रीकृष्ण

अपनी आह्लादिनी शक्तिस्वरूपा श्यामा के प्रेम में मतवाले श्याम राधा की अनुपस्थिति में किसी के द्वारा उनके नाम को सुनते ही हृदय में चेतना का अनुभव करते हुये पुलकित हो जाते हैं। उनके अंग प्रत्यंग से रस उमड़ पड़ता है और फिर वे तनिक देर के लिये प्रेम-सागर में डूब जाते हैं। राधा के नाममात्र को सुनकर वियोगी कृष्ण की होने वाली इस दशा का दर्शन कर रसिक अपने भाग्य की सराहना करने लगते हैं। जब थोड़ी देर बाद नंदनंदन पुनः राधा की याद करते हैं तो उनकी दशा पागलों की सी हो जाती है—स्वाभाविक ही है, शक्ति के बिना शक्तिमान की यह स्थिति। वह शक्तिस्वरूप हृदय में अपनी प्यारी शक्ति के वियोग की पीर लिये हुए वन के मध्य में कभी वृक्षों के तले बैठते हैं तो कभी कुंज में; कभी जड़वत् हो जाते हैं. तो कभी घूमने लगते है। प्रिया जी की स्मृति में उन्हें अपने शरीर की सुधि तक नहीं रहती। चेतना के लौटते ही, वे श्यामसुन्दर अपनी प्यारी राधा के गुणों का स्मरण कर गायन करने लगते हैं। मुकुट का ध्यान नहीं, मुरली का पता नहीं और पीताम्बर की सम्हार नहीं—ऐसी दशा में अपनी पीर भी तो कहते नहीं बनती और कहें भी तो किससे? अनायास ललिता दृष्टि पड़ गई। प्रिया जी की अंतरंग उस सखी को देखते ही पीर हृदय से प्रकट होने लगी। श्याम ने आखिर कहना प्रारंभ ही कर दिया—

कौन सों कहियै दारुन पीर।
सुनि ललिता वनिता बिनु छिनु छिनु, जैसी सहत शरीर।
जीवन रहत जीव का बिछुरै, काकी कुंज-कुटीर।
मदन-दहन उर-जारत उमगि बुझावत लोचन नीर।
प्रान पयान करतु अनदेखैं, देखैं धरत न धीर।
दरसन आस उसास रहो, दुखदानि सखिन की भीर।
भूषन दुख-पूषन तन लागत, धूमकेतु सम धीर।
मालावलि व्यालावलि, मुकुट कुकुट, बंसी खर तीर।
कंटक किसलय-सेज, चन्द्रमा-चंदन गरल-समीर।
सुनत भयानक मोर, चकोर, हंस, पिक, मधुकर, कीर।
करुनाकरि सहचरि लै आई, ये दोऊ रति-रनधीर।
विहरत 'व्यास' स्वामिनिहिं बाढ़ी सुरत-नदी गंभीर।

—भक्तकवि व्यास पृ० ३२१

संदेशः—

ललिता को तरस आ ही गया। कुछ ही समयोपरांत संयोगी कृष्ण फिर वियोगी हो गये थे और वृन्दावन की वह सुरम्य स्थली पुनः विपरीत हो गई थी। यथार्थ में जिसने कमल के समान मुखवाली राधा की रूपमाधुरी का पान कर लिया और अधरामृत का स्वाद जान गया वह बिना प्रिया जी के कैसे जी सकता है? आकुलता बढ़ती ही जाती है। कृष्ण स्वगत कहते हैं कि देखो! बिना किसी कारण अपने मान को बढ़ाकर राधिका ने मेरी प्रेम-तृषा को बढ़ा दिया। यह कहते-कहते कृष्ण के नेत्र भर आये, वाणी मूक हो गई, मुख सूख गया।[1] इस प्रकार व्याकुल देखकर श्यामसुन्दर के पास

---

१ व्याकुल वचन कहत हैं श्याम!
वृथा नागरी मान बढ़ायौ जोर कियौ तनु काम।
यह कहतहिं लोचन-भरि आये, पायौ विरह सहाइ।
चाहत कह्यौ भेद ता आगें, बानी कही न जाइ।
और सखी तिहिं अंतर आई, व्याकुल देखि मुरारी।
सूर स्याम-मुख देखि चकित भई, क्यों तनु रहे बिसारी।

—सूरसागर द्वि०खं०(ना०प्र०स०)पृ०१०६३

कोई सखी आई। उनकी इस दशा को देखकर उसका जी भर आया और उसने नंदनंदन को सान्त्वना देते हुये कहा, क्यों बेसुध हो रहे हो? राधा प्यारी की सखी को देखते ही कृष्ण को मानो प्राण मिल गये हों। उन्होंने उससे संदेश तुरंत ले जाने की प्रार्थना की और कहा—

सहचरि, मेरौ संदेसौ कहियहु।
करि मनुहारि, वारिजल पीजहु, पद-पंकज गहि रहियहु।
जो कछु कहैं किसोरी मोंसों, तू सब सनमुख सहियहु।
मेरे ओर तें बड़ी बेर लौं, कुच-आँकौ भरि रहियहु।
मेरे दुख-सागरहिं सोखि, सुखसागर जल थल लहियहु।
इतनौ करत 'व्यास' स्वामिनि कहँ पिय-हिय ओर निब्रहियहु।

—भक्तकवि व्यास, पृ० ३२१

सहचरी ने माधव की बात बड़े ध्यान से सुनी, हृदय में विरह की पीर का अनुभव किया और फिर राधा से जाकर कहा—

चलहि किनि मानिनि कुंज कुटीर।
तो बिनु कुंवरि कोटि बनिता-जुत मथत मदन की पीर।
गद्‌गद सुर विरहाकुल, पुलकित, स्रवत विलोचन नीर।
क्वासि क्वासि वृषभानुनन्दिनी विलपति विपिन अधीर।
वंशी विसिष व्यालमालावलि पंचानन पिक कीर।
मलयज गरल, हुतासन, मारुत, साखामृग रिपु चीर।
जै श्रीहितहरिवंश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर।
सुनि भयभीत वज्र कौं पंजर सुरत सूर रणवीर।

—हितचौरासी पृ० ३६

प्रतीक्षाः—

सखी के वचन सुनकर कोमल हृदयवाली राधिका अपने प्यारे कृष्ण के संयोग के हेतु चल पड़ीं। मार्ग में किसी सखी ने मिलकर कहा "हे राधे! वियोगी बनवारी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। यमुना के पुलिन पर लताओं से आच्छादित कुंज के मध्य में उन्होंने आज स्वयं शय्या की रचना की है। हे प्यारी! शीघ्र चलो!" विरहजन्य आकुलता की प्रतीक्षा में—

वृन्दावन बैठे मग जोवत बनवारी।
सीतल मंद सुगन्ध पवन बहैं,
वंशीवट जमुनातट निपट निकट चारी।
कुंजन की लता ललित कुसुमन की,
सेज्या रचि बैठे नटनागर नव ललनविहारी।
श्रीसूरदासमदनमोहन तेरो मग जोवत चलहु वेगि!
तू ही प्रान प्यारी।

—वाणी सूरदासमदनमोहन की पृ०१२

वियोग की स्मृति:—

एक-एक क्षण पर कृष्ण को राधा का स्मरण हो आता है। स्मृति-पटल पर राधा की छटा को देखते ही प्यारी की प्रतीक्षा करने वाले माधव के नेत्र डबडबा आते हैं और तब सखी राधा से कहती है:—

जब-जब तेरी सुरति करत।
तब-तब डबडबाइ दोउ लोचन उमंगि भरत।
जैसे मीन कमल-दल कौं चलि अधिक अरत।
पलक-कपाट न होत तबहिं तैं निकसि परत।
आँसु परत ढरि-ढरि उर मुक्ता मनहुँ झरत।
सहज गिरा बोलत न बनत हित हेरि हरत।
राधा! नैन चकोर बिना मुख चन्द्र जरत।
सूर स्याम तब दरस बिना नहिं धीर धरत।।२५८४।३२०२।।

—सूरसागर (ना०प्र०स०)

मूर्च्छना:—

आह्लादिनी शक्ति के अभाव में आह्लाद कहाँ? और धारणा के अभाव में धैर्य कहाँ? जब राधा नहीं दिखाई देती, तो कृष्ण उनके नाम की रट लगाने लगते है, यहाँ तक कि मूर्च्छित हो जाते हैं, दिन और रात बिना भोजन पानी के यों ही बीत जाता है। सखियाँ देखती हैं, बाँह पकड़कर जगाते हुये उनके प्रेम की सराहना करती हैं और कहती हैं—हे प्यारे! प्यारी की भी यही दशा है, यथा—

हरि-मुख राधा-राधा बानी।
धरनी परे अचेत नहीं सुधि सखी देखि अकुलानी।
वासर गयौ रैनि इक बीती, बिनु भोजन बिनु पानी।
बाँह पकरि तब सखिन जगायो, धनि-धनि सारंग पानी।
ह्यॉं तुम विवस गये हौ ऐसे, ह्वॉं तौ वै बिबसानी।
सूर बने दोउ नारि पुरुष तुम, दुहुँ की अकथ कहानी।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) २७५९ । ३३७७

रसिकों के इष्टदेव राधा-माधव की इस अकथ कहानी में दर्द है। वह भी एक तरफ नहीं दोनों तरफ। राधा भी अपने प्रियतम की भाँति ही उन्हें पाने के लिये निरंतर आकुल रहती हैं। अस्तु, अब सखियों सहित राधिका के वियोग-माधुर्य-जन्य रस का वर्णन करते हैं।

वियोग माधुर्य वर्णन में वियोगिनी राधा आदि गोपियाँ

प्रणयी जीवन में संयोग की अपेक्षा वियोग का विशेष महत्व स्वीकार किया गया है, क्योंकि वियोग में प्रियतम की मूर्ति सर्वत्र सर्वकाल में दृष्टिगोचर होती है। प्रेमी को संयोग-सुख से कई गुना सुख वियोग की पीर में होता है—

हौं जानौं पिय-मिलन तें, विरह अधिक सुख होय।
मिलतें मिलियै एक सौं, बिछुरें सब ठाँ सोय ॥४४८॥

—नंददास ग्रन्थावली—रूपमंजरी पृ० १३९

उत्कंठा:—

इस वियोग में राधा आदि गोपियों की स्थिति का तो कहना ही क्या है? प्रेम की इस विलक्षण पीर से बेताब गोपिकायें वियोग की लगभग सभी दशाओं को प्राप्त हो जाती हैं। उनकी उत्कंठा अपने धरातल से बहुत ऊपर उठकर कह उठती है—

हरि दरसन कौं तलफत नैन!
अरु जो चाहत भुजा मिलन कौं, स्रवन सुनन कौं बैन।
जिय तलफत है बन विहरन कौं, तुम मिलि अरु सब सखियाँ।
कल न परत तुम बिनु हम इक-छिन, रोवति दिन अरु रतियाँ।

जब तें तुम हरि बिछुरे हम तें, निसि-वासर नहिं चैन।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौं काग उड़ावति सैन।
—सूरसागर (ना० प्र० स०) ४०२९।४६४७

चिन्ता :—

विरहिणी तो अपने प्रियतम से मिलना ही चाहती है, साथ ही उसके नेत्र, श्रवण, भुजायें तथा हृदय सब कुछ कृष्ण के सान्निध्य के लिए आकुल हैं। भुजायें कृष्ण का आलिगन करना चाहती हैं, श्रवण उनकी वाणी सुनना चाहते हैं और नेत्र अपलक उनके रूप-सौन्दर्य का पान करना चाहते हैं। कल नहीं पड़ती। हृदय व्याकुल है श्यामसुन्दर के साथ यमुना के सुन्दर पुलिन पर विहार करने के लिए। गोपी का मन उसके पास नहीं रह गया। रहता भी कैसे? उसे तो बहुत पहले ही कुंजविहारी ने हरण जो कर लिया था। अनोखी गति से चलने वाले माधव के चंचल नेत्रों के कटाक्ष से गोपी का हृदय उसके हाथ से निकल ही गया। चिन्ता की चिता में जलते-जलते रात हो गई। निद्रा ने धर दबाया, वह सो गई, कृष्ण आये और वापस लौट गये। नींद खुली, प्यारे का आगमन सुनकर आँसुओं की झड़ी लग गई, प्राणों के अभाव में जीवन नहीं रह सकता। राधा सखी से कहती हैं, हे सजनी! जीवन की उस जड़ी को जहाँ मिले, ले आओ—आज यह नींद बैरिनि हो गई, यथा—

निदरिया साँचें विष की भरी।
मेरे प्यारे लालन फिरि गये, कैसी खोटी घरी।
अब जीऊँ का विधि सुन सजनी, कहाँ गई जीवनि जरी।
देखि कहूँ जो मिलै बुलावहु, बरसत आँखिन झरी।
श्री रामराय जा नींदहि बेचहु, हौं तौ भई बावरी ॥५३॥
—आदिवाणी पृ० १७

राधा-सन्देश :—

राधा की सखी कृष्ण के समीप जाकर उनसे कहती है, "हे लालन! प्यारी तुम्हें बुला रही हैं, देखो उनके नेत्रों से वर्षा की नदी की भाँति जल-प्रवाह उमड़ रहा है।" यथा—

लालन तुमहिं लड़ेती बुलावैं।
बरसा की सी नदिया उमड़ी; मचकित लोचन-कमल बहावैं।
नाइक निपुण नवल नवरंगी, नेह प्रवाह वही दरसावैं।

आरति दवन रूप नौका लखि, उरझे अंक गहर रहिं जावैं।
श्री रामराय जा निधि अनंग सखि, जुगल मिलाय मनोरथ पावैं।
—आदिवाणी पृ० १७

प्रिय-स्मरणः—

प्रयत्न करने पर भी जब प्यारे की झाँकी नहीं मिलती, तब रासेश्वरी कहने लगती है कि हे माधव! आपने प्रेम का इतना परिवर्द्धन क्यों कर दिया? हे नंदनंदन! मैंने तो तुम्हारे सान्निध्य को प्राप्त करने के हेतु सारे सांसारिक बन्धनों को ध्वस्त कर डाला है! हे प्यारे! तुम्हारे गोकुल के निवास और गोप के वेश ने ही तो मेरे चित्त को चुरा लिया है। अब वह कहीं नहीं लगता, तुम्हारे चरण-कमलों ने उसे बाँध लिया है, अस्तु इसे विलग मत करो।[1] इस प्रकार स्मरण करते-करते राधा का वह गौर वर्ण मलिन पड़ गया और तब वे उनके गुणों का स्मरण करके अपने वियोगजन्य दुःख को अपनी सखी से कहने लगीं कि हे सखीः—

इहिं दुख तन तरफत मरि जैहें।
कबहुँ न सखी स्यामसुन्दर घन, मिलिहैं आइ अंक भरि लैहें।
कबहुँ न बहुरि सखा संग ललना, ललित त्रिभंगी छबिहिं दिखैहें?
कबहुँ न बेनु अधर धरि मोहन, यह मति लै लै नाम बुलैहें?
कबहुँ न कुंज भवन संग जैहैं, कबहुँ न दूती लैन पठैहें?
कबहुँ न पकरि भुजा रस बस ह्वै, कबहुँ न पग परि मान मिटैहैं?

---

१ माधव काहे कौं दिखाई काम की कला।
तुम सौं जोरि सबनि सौं तोरी, नंद के लला।
जो गोपाल मधुबन ही बसते, गोकुल बास न करते।
जो हरि गोप भेष नहिं धरते, कत मेरो मन हरते।
तुम्हरो रूप तजि और न भावै, चरन कमल चित बांध्यो।
परमानंद पभु द्रौन बान ज्यों, बहुरि न दूजो सांध्यो।।५२३।।
—परमानंद सागर पृ० १७८

याही तें घट प्रान रहत हैं, कबहुँक फिरि दरसन हरि दैहें ?
सूरदास परिहरत न यातें प्रान तजें नहिं पिय ब्रज ऐहें।
—सूरसागर (ना०प्र०स०)

विरह-वेदनाः—

वियोगिनी राधा प्राण भी यदि धारण किये हैं, तो केवल इसलिये कि कृष्ण का पुनः संयोग प्राप्त होगा। कृष्ण का आलिंगन, त्रिभंगी मुद्रा, वेणुवादन, कुंजलीला तथा मानमनावन का स्मरण कर राधा के हृदय में हूक उठने लगती है, सिसिकियाँ आने लगती है और मुख-कमल मुरझा जाता है। सखियाँ धीरज बँधाती हैं, तब प्रिया जी पुनः कहती है—

मन मोह्यौ मेरौ मोहन माई।
कहा करौं चित्त लगी चटपटी खान-पान-घरु-बन न सुहाई।
बिहंसनि बंक बिलोकनि सैननि मैन बढ़्यो कछु कहत न जाई।
अद्भुत छबि वदनारविन्द की देखत लोक-लाज बिसराई।
मेरें साहस उनके बाहस, मनचीती विधि भली बनाई।
पालागौं यह कहहि कहूँ जिनि विरस न जानें लाज पराई।
रह्यौ न परतु, कह्यौ बहुतनि मिलि, है न होहि कबहूँ सुखदाई।
व्यास त्रास करि को अब छाँड़ें, भाग न पायो कुँवर कन्हाई।।७०२।।
—भक्तकवि व्यास पृ० ३८४

विरहोन्मादः—

इस प्रकार प्यारे के वियोग में राधा की कांति क्षीण हो गई, चन्द्र-मुख सूख गया, शरीर झुलसने लगा, तभी किसी ने आकर कहा श्यामसुन्दर आ गये। इतना सुनते ही उमंग के कारण कंचुकी की तनी टूट गई, ज्योति जगमगा उठी और फिर राधा का मुख-कमल खिल गया, क्षण भर रस बरसा किन्तु घनश्याम पुनः चले गये। राधा ने ढूँढ़ना प्रारंभ किया, ढूँढ़ना ही नहीं पूछना भी शुरू किया, यथा—

कहि धौं री वन-वेलि कहूं तें देखे हैं नंद-नंदन ?
बूझहू धौं मालती कहूँ तें पाये है तन-चन्दन।
कहि धौं कुंद, कदम्ब, बकुल, घट, चंपक, ताल, तमाल।
कहि धौं कमल कहाँ कमलापति, सुन्दर नैन विसाल।
कहि धौं री कुमुदिनि, कदली कछु, कहि वदरी करवीर।
कहि तुलसी तुम सब जानति हौं कहँ घनस्याम शरीर।

कहि धौं मृगी मया करि हमसों, कहि धौं मधुप मराल।
सूरदास-प्रभु के तुम संगी हैं कहँ परम कृपाल।

—सूरसागर प्र०खं० (ना०प्र०स०) पृ०६३७

श्यामसुन्दर नहीं मिले, राधा वृक्ष के सहारे जड़वत खड़ी हो गईं। मदनगोपाल के वियोग में वेदना और भी बढ़ गई, नेत्रों से अश्रु प्रवाह होने लगा और वाणी मूक हो गई। राधा के उच्छ्वास निकलने लगे और पूर्व के संयोग-सुख का (जब माधव उन्हें प्यार करते थे तथा उनकी वेणी गूँथते थे) स्मरण करके वे गति-हीन हो गईं। देखिये वियोग की इस जड़तामयी स्थिति में भी राधा अपने प्रियतम के दर्शनों के हेतु लालायित रहती हैं।

ललितादि सखियों की विरहाकुलताः—

समस्त गोपीजनों के प्रसन्नार्थ अपने रस-माधुर्य को प्रकट करने वाले कुंजविहारी को ललिता और चन्द्रावली आदि गोपियाँ भी अत्यंत प्रिय थीं। राधा के समान ही इन गोपियों को भी श्रीकृष्ण प्राणों से प्यारे थे। कन्हैया के दर्शन के अभाव में ये गोपियाँ भी उन्मत्त हो जाती थीं, क्योंकि कृष्ण ही उनके तन-मन-धन सब कुछ थे। वे निरंतर उनके सान्निध्य की कामना किया करती थीं और कृष्ण को अपने समीप न देखकर प्रति कुंज में उनके नाम की माला जपती हुई, उनकी प्रतीक्षा किया करती थीं। एक दिन मदन-मोहन ने कहीं ललिता जी से उनके घर आने की बात कही, ललिता संध्या से ही श्याम की प्रतीक्षा करने लगीं, उन्होंने सुगन्धित पुष्पों से अपने प्रियतम के लिये कोमल शय्या को सजाया, किन्तु प्यारे नहीं आये। वियोग में ललिता कभी द्वार पर खड़ी हो जाती थीं, तो कभी गली में अपने प्रभु का रास्ता देखती थीं। तारे गिनते-गिनते विरहिणी की सारी रात व्यतीत हो गई, किन्तु श्याम नहीं आये।[1] बड़े निर्दयी हैं वे प्रियतम, एक बार चन्द्रावली से भी

---

१ साँझहि तै हरि-पंथ निहारै।
ललिता रुचिकरि धाम आपने सुमन सुगन्धनि सेज संवारै।
कबहुंक होति वारनै ठाढ़ी, कबहुंक गनत गगन के तारे।
कबहुंक आइ गली मग जोवति, अजहुँ न आये स्याम पियारे।
वे बहुनायक अनत लुभाने और वाम के धाम सिधारे।
सूरस्याम बिन बिलपति बाला, तमचुर जहँ तहँ शब्द पुकारे।

—सूरसागर द्वि० खं० पृ० १०८१
पद सं० २४७९।३०९७

का संकल्प है कि जिस दिन श्यामसुन्दर से इन नेत्रों का मिलन होगा, उसी दिन काजल भी लगेगा और फिर ये नेत्र किसी दूसरे को भूलकर भी नहीं देख सकेंगे।[1] अभी तो ये नेत्र जब से गोविन्द मधुवन गये, तब से निरंतर बरस ही रहे हैं—ऐसी स्थिति में नेत्रों में अंजन भला कैसे रह सकता है? नेत्रों की उस बरसात ने गोपियों के कपोल आदि को भी काला कर दिया है और वक्षःस्थल के बीच से प्रवाहित होते हुए पनारे का रूप धारण कर लिया है, यथा—

निसि दिन बरसत नैंन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पै जब तैं स्याम सिधारे।
दृग अंजन न रहत निसि वासर, कर कपोल भये कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे।
आँसू सलिल सबै भई काया, पल न जात रिस टारे।
सूरदास-प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहे बिसारे ॥३२३६।३८५४॥
—सूरसागर (ना०प्र०स०)

क्या प्रीति का यही परिणाम होता है?

प्रेमातुरा गोपियों की दृढ़ता :—

गोपियाँ विचार करती हैं कि प्रीति में किसी ने सुख नहीं पाया। पतिंगा दीपक की ज्योति में, भ्रमर कमल के संपुट में और मृग ने नाद में इसी प्रीति के कारण ही प्राण त्याग दिये। गोपियों की प्रीति इनसे कम नहीं थी। परन्तु कृष्ण ने फिर भी चलते समय इन प्रियाओं से कुछ न कहा। गोपियाँ उनकी इस कठोरता का स्मरण करती हुई, वियोग की पीर को हृदय में दृढ़ता से दबाये हुए अपनी व्यथा किसी से नहीं कहतीं। यज्ञ के पशु की भाँति वे सर्वत्र घूमती हैं। प्रेमातुर होने के कारण कृष्ण-वियोग उनसे

मगमद मलय कपूर कुमकुमा सींचति आनि अली।
एक न फुरत बिरह जुर तैं कछु लागत नाहिं भली।
अमृत-बेलि सूर के प्रभु बिनु अब बिष फलनि फली।
हरि-बिधु बिमुख नाहिंनैं बिगसति, मनसा कुमुद कली ॥३१९७।३८१५॥
—सूरसागर द्वि० खं० (ना०प्र०स०) पृ० १३४९

१ सूरसागर द्वि० खं० पद सं० ३२४९-३८६७, पृ० १३६५

सहा नहीं जाता। वे विचार करती हैं कि क्यों न जमुना की अगणित तरंगों में अपने को छोड़कर सब कुछ समाप्त कर दिया जाय? क्योंकि गोविन्द के बिन एक क्षण भी जीवन धारण उन्हें असह्य हो गया, यथा—

बिथा माई कौन सों कहियै?
हम तौ भईं जज्ञ के पशु ज्यों केतिक दुख सहियै।[1]
कामिनि भामिन निसि अरु वासर, कहूँ न सुख लहियै।
मन मैं बिथा मथति लागें यौं, उर अन्तर दहियै।
कबहुँक जिय ऐसी उपजति है, जाई जमुन बहियै।
सूरदास प्रभु हरि नागर बिनु काकी ह्वै रहियै ॥३२९३।३९११॥

—सूरसागर द्वितीय खंड (ना०प्र०स०) पृ० १३७७

श्रीकृष्ण-लीला-स्मृतिः—

स्नेह की इस वियोग-जनित स्थिति में अपने प्यारे कृष्ण की माधुर्य-रससिक्त लीलाओं का स्मरण कर गोपियों के साथ ही श्रीराधिका जी की दशा भी बड़ी विचित्र हो जाती है, यथा—

हरि तेरी लीला की सुधि आवै।
कमल नैन मनमोहन मूरति के मन मन चित्र बनावै।
कबहुँक निबिड़ तिमिर आलिंगत कबहुँक पिक ज्यौं गावै।
कबहुँक संभ्रम क्वासि क्वासि कहि संग हिलमिलि उठि धावै।
कबहुँक नैंन मूँद उर अन्तर मनि माला पहिरावै।
मृदु मुसुकाति बंक अवलोकति चाल छबीली भावै।
एक बार जाहि मिलहि कृपा करि सो कैसे बिसरावै।
परमानंद प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे विरह गँवावै ॥५६४॥

—परमानंद सागर पृ० १९१

अपने प्रियतम की याद आते ही वृषभानु पुत्री के समक्ष कमल-नेत्र वाले मनहरण श्याम की मूर्ति थिरक उठती है और वे अंधकार में ही कृष्ण-कृष्ण कहकर दौड़ पड़ती हैं। विरहोन्माद की अवस्था में वे कभी मन के अन्दर ही अपने प्यारे को माला पहिनाने लगती हैं और कभी उनकी बाँकी चितवन और मधुर मुस्कान का स्मरण कर व्याकुल हो जाती हैं।

---

१ प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी पावक सौं आपै प्रान दह्यो। आदि ॥३२८८।३९०६॥
—सूरसागर द्वि० खं० पृ० १३७६

आकुल राधा की रूप-छविः—

आकुलता में उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती, केश-पाश बिखर जाते हैं, वृक्षस्थल पर विहार करने वाली माला टूट जाती है, किन्तु वे उसे नहीं सम्हालतीं और अत्यंत मलिन हो जाती हैं, वस्त्र नहीं धोतीं, वह भी इसलिये कि प्रियतम के रतिश्रम से वह भीग चुका है। उद्धव संदेश लाते हैं, किन्तु वे बोलती नहीं। हारे हुये जुआरी की भाँति अपने मुख को नीचा किये हुये राधा प्यारी हिमकर द्वारा मारी हुई नलिनी के समान प्रतीत होती हैं। प्रिय स्नेह की दृढ़ता ही प्रिया का प्राण है, यथा

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि श्रम-जल भीज्यों उर अंचल, तिहि लालच न धुवावति सारी।
अधमुख रहति अनत नहिं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।
हरि संदेश सुनि सहज मृतक भइ, इक विरहिनि दूजे अलिजारी।
सूरदास कैसें करि जीवें, ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी।
—सूरसागर (ना०प्र०स०) ४०७३।४६९१

अब उद्धव को उनके संदेश का उत्तर कौन दे? प्रेम-मग्ना राधा की वाणी तो मूक हो गई, किन्तु गोपियाँ कहती हैं, हे उद्धव—

बिनु गोपाल बैरिनि भईं कुंजैं।
तब वे लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल-फूलनि अलि गुंजैं।
पवन पान घनसार सजीवन दधि-सुत किरनि भानु भई भुंजैं।
यह ऊधो कहियो माधौं सों मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौं मग जोवत अँखियाँ भईं छुंजैं।
—सूरसागर (ना०प्र०स०)४०६८।४६८६

सर्वस्व समर्पणा—

साक्षात् मन्मथमन्मथः कृष्ण के बिना गोपियों की दिनचर्या ही बदल गई। वे किसी भी कीमत पर अपने प्यारे का संयोग प्राप्त करना चाहती थीं। इस अपूर्व संयोग के लिये तथा गोपाल से साक्षात्कार करने के लिये वे गोपियाँ योगिनी तक बनने के लिये तैयार थीं। जैसे बिना मणि के नाग व्याकुल हो जाता है, वैसे ही गोपियाँ प्यारे कृष्ण को पाने के लिये सिंगी, खप्पर इत्यादि

लेकर भस्म रमाने तक के लिये तैयार थीं। अपने प्रियतम के लिये अलख जगाने का काम भारतीय इतिहास में ही पतिव्रता के गौरव का प्रतीक है। गोपियाँ कहती हैं:—

गोपालहिं पावौं धौं किहि देस।
सिंगी मुद्रा कर खप्पर लै करिहौं जोगिनि भेस।
कंथा पहिरि विभूति लगाऊँ, जटा बँधाऊँ केस।
हरि कारन गोरखहिं जगाऊँ, जैसे स्वांग महेश।
तन मन जारौं भस्म चढ़ाऊँ, विरहा के उपदेस।
सूर स्याम बिनु हम हैं ऐसी, जैसे मनि बिनु सेस ।।३२२६।३८४४।।

—सूरसागर द्वि०खं०पृ०१३५८

प्रेम की इस रस-सरिता में वही अवगाहन कर सकता है, जो महान त्यागी हो और जिसने सर्वस्व होम देने का संकल्प कर लिया हो। रसिक भक्तों ने इसे किया और उनके इष्टदेव राधा-माधव ने भी। लोकलाज की किंचित मात्र भी चिंता न करते हुये राधा तथा गोपियों ने अपनी सर्व समर्पण की भावना में सराबोर होकर अपने प्रियतम के सुख के निमित्त सब कुछ छोड़ देने का अटल निश्चय किया था। तब तो उद्धव का ज्ञान मूक हो गया था। कृष्ण की तृप्ति गोपियों का एकमात्र लक्ष्य था—इस दृष्टि से वे उन्हें एक क्षण भर भी छोड़ने के लिये तैयार न थीं। विधि के विधान पर किसी का वश नहीं। कृष्ण मथुरा चले ही गये किन्तु उन्होंने गोपियों का साथ तो नहीं छोड़ा था। वे नित्य थे, राधा नित्य थीं, गोपियाँ नित्य थी और उनकी लीलायें भी नित्य थीं। प्रवास के बाद भी कृष्ण गोपियों के निकुंज-मन में निरंतर विहार करते थे। ब्रज में अपनी मंद-मंद गति से प्रवाहित होने वाली यमुना, वहाँ के घने-घने कुंज और उस सुरम्य वनस्थली की मिट्टी के कण-कण कृष्ण की स्मृति में इसी कारण आज भी तड़पते दिखलाई देते हैं। निस्सन्देह श्याम-सुन्दर की छबीली छवि तथा मधुर मुरली ने सभी के हृदय सदा के लिये जीत लिये हैं।

वियोगिनी राधा आदि गोपिकाओं का स्वकीयात्मक-परकीयात्मक स्वरूप

राधा तथा अन्य गोपिकाओं के सम्बध में विभिन्न प्रकार की उद्भावनायें की गई हैं। पद्मपुराण के आधार पर उनमें से कुछ को देवकन्यायें, कुछ को ऋचायें और कुछ को प्रभु की अंतरंग शक्तियाँ माना गया है—

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋचो वै गोपकन्यकाः ।
देव कन्याश्च राजेन्द्र तपोयुक्ताः मुमुक्षवः ।

—पद्मपुराण पातालखंड अध्याय ७३ श्लोक ३२

डा० मुंशीराम शर्मा ने पद्मपुराण के उपर्युक्त अंश को उद्धृत करते हुये राधा तथा गोपिकाओं के सम्बन्ध में कतिपय महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है। उनका कथन है कि 'वैष्णव आचार्यों ने कृष्ण की अन्तरंग एवं बहिरंग दो शक्तियाँ मानी हैं। बहिरंग शक्ति का नाम माया है और अंतरंग शक्ति तीन प्रकार की है—सन्धिनी, संवित और ह्लादिनी। राधा-ह्लादिनी शक्ति है और गोपियाँ उसी की प्रतिरूप हैं। आचार्य वल्लभ ने 'असौ संस्थितः कृष्णः स्त्रीभिः शक्त्या समाहितः' कहकर इसी बात को सिद्ध किया है। अतः राधा के अंग रूप में ही गोपियों को समझना चाहिये।[1]

विश्वास के आधार से माधुर्योपासक भक्तों ने भी राधा तथा गोपिकाओं को अपनी दृष्टि से देखा है। उनकी व्रज भूमि के एकमात्र राजा हैं श्रीकृष्ण और उनकी परम प्रियतमा हैं—वृन्दावनेश्वरी श्रीराधिका जी! राधा जी कृष्ण की स्वकीया पत्नी हैं। भक्ति-शास्त्र में ऐसी गोपियों को भी जिन्होंने गान्धर्व रीति से प्रियतम कृष्ण को पति रूप से स्वीकार किया है, स्वकीया कहा गया है। राधा का यह स्वकीयात्व रसिक भक्तों के आनंद-हेतु ही अभिव्यंजित है, वैसे तो राधा आदि श्रीकृष्ण की नित्य प्रिया हैं। भगवान कृष्ण के समान नित्य सौन्दर्य से ये सभी परिपूर्ण हैं। इन नित्य प्रियाओं में राधा के साथ चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैब्या, भद्रिका, तारा, विचित्रा, गोपाली, धनिष्ठा तथा पालिका का भी उल्लेख भक्ति-ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में किया गया है। पूर्ण रूप से इन नित्य प्रियाओं की स्थिति स्वकीयात्व से भी ऊपर की है। श्रीकृष्ण की नित्य लीला में इन प्रियाओं का कभी वियोग नहीं होता। वियोग तथा संयोग की स्थिति स्वकीयात्व में ही संभव है। अपनी इन सभी नित्य प्रियाओं में महाभाव-स्वरूपा राधा सर्वोत्कृष्ट थीं तथा कृष्ण के प्राणस्वरूप थीं। स्वकीयात्व की स्थिति में जब कभी श्रीकृष्ण से राधा का वियोग होता था, तो वे व्याकुल हो जाती थीं। रसिकों ने श्रीराधा के स्वकीयात्व को अपनी पूर्व परम्परानुसार

---

[1] 'भारतीय साधना और सूरसाहित्य' द्वि०खं०पृ०२७२-७३

शास्त्रीय आधार पर उनके पाणिग्रहण संस्कार का दिग्दर्शन कराकर किया है। इन भक्तों के काव्य से ऐसा सिद्ध होता है कि वृन्दावनेश्वरी राधा कृष्ण की विवाहिता पत्नी थीं। ध्रुवदास ने "बयालीस लीला" की सभा मंडप लीला में, तथा सूरदास ने अपने सूरसागर के दशम् स्कंध में और व्यास ने अपनी पदावली में राधा-कृष्ण के विवाह का वर्णन कर उन्हें स्वकीया ही माना है। तथा अन्त में उन्हें नित्य प्रिया मानकर उनकी चरणरज को अपने मस्तक से लगाया है, यथा—

मोहन मोहिनी कौ दूलहु ।
मोहन की दुलहिनि मोहनी सखी निरखि निरखि किनि फूलहु ।
सहज ब्याह उछाह सहज मंडप सहज जमुना के कूलहु ।
सहज सवासिनि गावति नाँचति सहज सगे समतूलहु ।
सहज कलस कंचन कल भाँवरि सहज परस भुजमूलहु ।
सहज बने सिरमौर सहज भूषनि तन, सहजई नवल दुकूलहु ।
सहज दाइजौ बृन्दावन-धन सहज सेज-रति झूलहु ।
सहज सनेह रूप गुन व्यासहिं सपनेहूँ जिनि भूलहु ॥५८६॥

—भक्तकवि व्यास पृ० ३५२

उपर्युक्त पद से राधा-स्वकीयात्व के साथ ही नित्य प्रियात्व भी सिद्ध है। स्वकीयात्व की पवित्र स्थिति में जब कभी अपने पति कृष्ण से वियोग होता है, तभी वे व्याकुल होकर कहने लगती हैं—

अब कै जो पिय कौ पाऊँ, तौ हिरदे माँझ दुराऊँ ।
जौ हरि को दरसन पाऊँ, आभूषन अंग बनाऊँ ।
ऐसौ को जो आनि मिलावै, ताहि निहाल कराऊँ ।
जौ पाऊँ तौ मंगल गाऊँ, मोतियन चौक पुराऊँ ।
रस करि नाचौं गाऊँ बजाऊँ, चंदन भवन लिपाऊँ ।
मनि मानिक न्यौछावरि करिहौं, सो दिन सुदिन कहाऊँ ।
अब सों करौ उपाव सखी मिलि जातैं दरसन पाऊँ ।
सूर स्याम देखैं बिनु सजनी कैसें मन अपनाऊँ ॥२१०६।२७२४॥

—सूरसागर द्वि०खं०पृ०६६८

उपालंभः—

इस पद में सन्निहित भावना पतिव्रता के पूर्ण प्रेम का प्रतीक हैं। यथार्थ में पत्नी का हृदय ही उसके पति का निवास स्थल है और पति उसके

शरीर तथा आत्मा का सबसे बड़ा आभूषण ! पति को पाने पर वह फूली नहीं समाती और पति के वियोग पर संयोग की अनगिनत अभिलाषाओं को अपने हृदय में संजोये रहती है—वियोगिनी राधा अपने प्यारे के लिये निरंतर सुख की बात सोचती रहती हैं। पति जब निश्चित समय पर अपने घर नहीं पहुँचता, तो उसके साथ निरंतर संयोग की अभिलाषा रखने वाली उसकी प्रिया को संदेह होता है। परकीया के संयोग-चिन्ह से युक्त पति के आने पर कितने अधिकारपूर्ण शब्दों में स्वकीया कहती है, यथा—

पिय कौ सुख प्यारी नहिं जानै।
जोइ आवत सोइ सोइ कहि डारति जाहु-जाहु तुम गानै।
काहे को मोहिं डाहन आये, रैनि देत सुख वाकौं।
भली नवेली नोखी पाई, जो जाकौं सो ताकौं।
चंदन, बंदन, तिय, अंग-कुंकुम, सेष लिये ह्याँ आये।
सूर स्याम यह तुमहिं बड़ाई, औरनि को सरमाये ॥२५४३।३१६१॥

—सूरसागर द्वि०खं०पृ० १०९९

स्वकीयात्व की जिस स्थिति का वर्णन उपर्युक्त पद में किया गया है, उसमें ईश्वरत्व की भावना का अभाव है। समस्त बातें सामान्य स्थिति के अनुरूप ही कही गई है। दाम्पत्य प्रेम के आधिक्य के कारण कभी-कभी इस स्थिति का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। अपने प्रियतम के सामने आने पर तो स्वकीया परकीया संयोग के चिन्ह से आभूषित अपने प्रियतम से मानपूर्वक उलाहना देती है, किन्तु पति के न रहने पर व्याकुल हो जाती है, विरह की वेदना को नहीं सह पाती और अपनी सखी से कह देती है—

एरी मोंही तो पिउ भावै, को ऐसी जो आनि मिलावै।
चौदह-विद्या-प्रवीन अति ही, वहु नायक कौं कौन मनावै !
नैंकु दृष्टि भरि चितवै बिरहिनि, बिरह-तपनि मों तन तैं बुझावै।
सूरदास-प्रभु करे कृपा अब मोकौं नित-प्रति विरह जरावै।

—सूरसागर द्वि०खं० पृ०९६८

रसिकों की धारणा है कि साधारण धरातल पर संयोग तथा वियोग का अनुभव करने वाली गोपियों में भी एक ऐसी स्थिति है, जिसमें गोपियाँ अपने पतिरूप प्रियतम कृष्ण के ईश्वरत्व का ध्यान रखते हुये उन्हें चौदह विद्याओं में प्रवीण मानती हैं। उद्धव के अनेक बार समझाने पर भी ये प्रियायें

अपनी निष्ठा को बराबर बनाये रखती हैं और अनन्य भाव से निरंतर प्यारे कृष्ण का स्मरण रखती हैं। राधा के परकीयात्व के सम्बन्ध में तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिन राधा का नित्य हरिप्रिया होना स्वयं सिद्ध है, उनके परकीया रूप का दर्शन संप्रदाय विशेष के रसिकों द्वारा प्रेमाधिक्य का ही एकमात्र परिणाम है। गोलोकविहारी कृष्ण और उनकी नित्यप्रिया श्रीराधा जी ने जिस मधुर रस की सरिता को प्रवाहित किया, वह केवल माधुर्योपासकों पर उनकी कृपा विशेष के फलस्वरूप है—ऐसी धारणा वैष्णवों के रसिक संप्रदायों में सर्वमान्य है। संयोग-वियोग की जिस लीला का प्रदर्शन राधा-माधव ने किया, वह रसिकों के हृदय में मधुर रस को भरकर उन्हें साधना की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में पहुँचाने का एकमात्र कारण है, जिससे कि वे सभी गोलोकरूपी वृज में विहार करने वाले राधा-माधव की नित्य रसमयता का अनुभव कर सकें।

रीतिकालिक भक्त-कवियों का संयोगात्मक-वियोगात्मक माधुर्यः—

युगलमाधुर्यः—

राधा-कृष्ण के जिस स्नेह-माधुर्य का वर्णन मधुर रसोपासक भक्तों ने अपनी दिव्य वाणी से अपने काव्य में किया है, वह अत्यन्त अनोखा और नित्य है। इस स्नेह की मधुरिमा से अलंकृत प्रिया-प्रियतम संयोग-वियोग में नित्य नवीन रूप से अपने रति-रस-माधुर्य का आस्वाद करते हुये, व्रज की उस सुरम्य भूमि पर प्रतिक्षण इसकी वर्षा करते रहते हैं। सर्वप्रकार से इस रति रस के वश में श्याम-श्यामा दोनों रहते हैं और भक्तों के विश्वासानुसार उन्हें अपनी दिव्य झाँकी से इस सरिता में अवगाहन भी कराते हैं। इन रसिक विहारी की शोभा का वर्णन रसानंद में तन्मय भक्त भी नहीं कर पाते। विभिन्न प्रकार के विनोदों से परस्पर प्रसन्नता को प्राप्त राधा-माधव कुंज की उस महा रति-केलि का सखी जनों के मध्य प्रकाशन करते हुये, कुंज के मध्य सुशोभित होते है। जितना अधिक गर्व राधा को अपने कृष्ण-प्रेम पर है, उतना ही अधिक कृष्ण को राधा-प्रेम पर। दोनों अत्यन्त उमंग के साथ परस्पर आलिंगन, चुम्बन और विहार का एक दूसरे को दान करते

हैं।[1] सुन्दर लताओं के मध्य में रचित कोमल पुष्पों की शय्या पर विराजमान श्याम-श्यामा के नेत्र से नेत्र, अधर से अधर, भुजाओं से भुजायें और वक्ष से वक्ष मिलकर एकाकार हो जाते हैं।[2] रतिरस-मग्ना अपने इष्टदेव राधा-माधव को देखकर रसिक उन्हें तोष प्रदान करने के हेतु व्यजन डुलाने की कामना रखता है। जिस समय कुंज के मध्य शय्या पर राधा-माधव की नित्य रति क्रीड़ा छविमान होती है, उस समय भक्तों की तो बात ही क्या है, स्वयं प्रकृति भी आनंदविभोर हो जाती है। पवन के स्पर्श से उस समय लताओं में आनंद की लहर दौड़ जाती है, मालती की सुगन्धि सर्वत्र व्याप्त हो जाती है और कोमल उमंग के साथ आनंद-गीत सुनाने लगती है, यथा—

लहकि लहकि जात लागि कै पवन लता,
महकि महकि उठैं मालती सुवास हैं।
गहकि गहकि गावैं कोकिला तरन चढ़ी,
कुंज छबि पुंज काम सेवत निवास हैं।
नागरिया स्याम स्यामा सौहैं सुख सैनी पर,
देखैं द्रुम रंध्रनि न कोऊ सखी पास हैं।
दोऊ मन हरैं दोऊ रीझि-रीझि अंक भरैं,
अंगनि अनंग बाढ़्यो रंग मैं विलास हैं ॥४४॥

—नागर समुच्चय पृ० २५६

प्रेम की तरंगों से रूप का सागर तरंगित हो रहा है। राधा और कृष्ण इस सागर की तरंगों के आघात से झूम-झूम उठते हैं। यमुना का तट,

---

१ लालन गरबीलो गरबीली प्रिय प्राण अधार।
उमगि उमगि हँसि हँसि अंकों भरि रहे दृग दृगन निहार।
चुम्बन करत कपोल परस्पर रद दद्द उठत चिहार।
भगवतरसिक सुरस बरसावत भावत नित्य विहार।

—अनन्य निश्चयात्मक ग्रंथ पृ० ३९

२ पौढ़े ललित लतान तरे।
सुमन सेज सुखराशि सनेही अधरनि अधर धरैं।
उरजनि उरज जोरि कटि सों कटि लपटि भुजानि भरैं।
यह रस मत्त मगन मन सोये भगवत व्यजन करैं।

—अनन्य निश्चयात्मक ग्रंथ पृ० ४३

हरी-भरी कुंज और प्रफुल्लित चित्त को लिये हुये वे दोनों पारस्परिक स्पर्श से मदन-ज्योति में जगमगा रहे हैं।[1] आनंद की उमंग, अनंग का रंग और हृदय की तरंग दोनों के व्यक्तित्व से प्रकाशमान होकर रसिकों का चित्त चुरा लेती हैं और तब वे रति-रंग से सराबोर होकर एक दूसरे को रस-वश करते हुये नित्य संयोग-क्रीडा में संलग्न हो जाते हैं, यथा—

राधा हरि करत ललित केलि बेलि-कुंज मै।
आनंद-उन्मद रंगे अनग-रंग पुंज मैं।
अंग-अंग लपटि निपट रस बस लटपटत री।
सुरत-समर-वीर-धीर रुपि न तनक हटत री।
चौपनि सों लुभि चुभि तन विविध घात सहत हैं।
अति सुमार मार मार वार पार वहत हैं।
कवचनि तें उमगि निकसि निकसि भिरत हैं।
कलित दलित विगलित कच गिरि उठि उठि गिरत हैं।
आनंदघन अद्भुत छवि दंपति नख सिख फबी।
रुचि रन रंगमयी धरनि जै-जुत वृन्दाटवी।

—घनानंद पदावली पृ० ३५०

संयोग की उस रसमयी झाँकी का स्मरण कर माधुर्योपासक बार-बार यही कहता है—

कुंज पधारो रंग भरी रैन।
रंग भरी दुलहिन रंग भरे पिय स्यामसुन्दर सुख दैन।
रंग भरी सैनीय रची जहाँ रंग भरचौ उलहत मैन।
रसिक विहारी प्यारी मिलि दोऊ करो रंग सुख सैंन।

विहार-सुखः—

इष्टदेव दम्पत्ति के रस-विहार का यह रंग यथार्थ में जिस पर चढ़ गया उसकी सारी लौकिकता समाप्त हो जाती है और उसे राधा-माधव की

---

१ राधा माधव विहरें बन मैं।
हरी भरी कुंजनि जमुना तट फूले फूले मन मैं।
मदन-केलि सुख पगे जगमगे जगी तरुनई तन मैं।
अरस-परस तन बन परसत आनंदघन भीजे पन मैं।

—घनानंद पदावली पृ० ३७५

इस नित्य लीला मे प्रवेश का अधिकार प्राप्त हो जाता है। तब अपने नेत्रों तथा मुख में मुस्कान को भरे हुये, पुष्पों के आभूषणों से सुसज्जित राधा-कृष्ण की लीला का वह साधक निरंतर रसास्वाद करता है— इस समय उसके इष्टदेव दंपति के परस्पर शरीर से शरीर, नेत्रों से नेत्र उलझे हुये दृष्टि-गोचर होते हैं। अधखुले नेत्र, विथुरी हुई अलक, अर्धविकसित वचन और अधरों का अपूर्व सुधापान के युगल करते हुये क्षण-क्षण में एक दूसरे को अपने भुजपाश में बाँध लेते हैं। प्यारे श्यामसुन्दर जब इस संयोग लीला में तन्मय होकर अपनी प्रिया की छवि निहारने लगते हैं, तब वे अत्यंत प्रफुल्लता के साथ उन्हें अपना आलिंगन तथा चुम्बन प्रदान कर अपने स्नेह की कला को प्रकाशमान कर देती हैं, यथा—

> आजु सुख लूटत लाल विहारी, बैठे चित्र विचित्र अटारी।
> ज्यौं ज्यौं पिय निरखत मुख त्यौं त्यौं हँसि हँसि उर लपटाति पियारी।
> चुम्बन दै पुनि लै लज्जित ह्वै छिन ह्वै जाति नियारी।
> वृन्दावन प्रभु तव अंकन भरि रीझि प्रकाशत काम कलारी।
>
> —श्रीवृन्दावन वाणी, सप्तम घाट पृ०४५

स्नेह की कला से प्रकाशित तथा विद्युत के समान वर्णवाली श्रीराधिका जी और नवीन बादलों के समान वर्णवाले श्यामसुन्दर इस प्रकार अपने संयोग सुधा का निकुंज भवन में पान करते हुये अपने रसिकों के नेत्र रूपी चकोरों के लिये चन्द्रमा के समान सुशोभित होते रहते हैं। मधुर उपासक अपने इन आराध्य देव की नित्य हृदय से जय ध्वनि करता हुआ आनंद-विभोर हो जाता है, यथा—

> जय जय राधा-मोहन जोरी।
> नव नीरद-घनस्याम-बरन पिय दामिनि सी तन दीपति गोरी।
> बिहरत ललित निकुंज सदन मैं गावति गुन सहचरि चहुँ ओरी।
> निरखत प्यारी की छवि वृजनिधि, अँखियाँ भईं चकोरी॥२८॥
>
> —ब्रजनिधि ग्रंथावली पृ० १९८

संयोग-वर्णन में कृष्ण:—

माधुर्य-भक्ति परम्परा से प्राप्त होने वाली भावधारा रीतिकाल में भी पाई जाती है। इस विषय का विवेचन हम पहले भी कर आये हैं। माधुर्य

का आस्वादन संयोग एवं वियोग दोनों ही स्थितियों में होता है। राधा-कृष्ण तथा अन्यान्य गोपियों के प्रसंग से इस माधुर्य की चर्चा भक्तकवियों ने जी भरै के की है। प्रस्तुत प्रसंग में हम इन भक्तकवियों के कतिपय वर्णन देखने का प्रयत्न करेंगे। हम पूर्व प्रसंग में कुछ कह चुके हैं कि राधा, कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति के रूप में हैं। अत: उन्हें अपनी शक्ति से एक क्षण भी वियुक्त नहीं होना है। वे अपनी आह्लादिनी शक्ति के सर्वदा वशीभूत हैं और उनके मुख-कमल का रस लूटते रहते हैं, यथा—

वन्दित प्रिया पाद जलजात।
काम रस वश श्यामसुन्दर धरि हृदय जलजात।
करत अति आधीनता परशत दृगन जलजात।
रसिक भगवत चूमि तल मंजुल सुमुख जलजात ॥३॥
—अनन्य निश्चया० ग्रथावली पृ० ५०

राधा के चन्द्रमुख के दर्शन के हेतु निरंतर तरसने वाले श्यामसुन्दर राधा के संयोग को पाकर उनसे चितवन रूपी सुधा बरसाने की कामना प्रकट करते हैं और यमुना के सुन्दर पुलिन पर स्थित निकुंज महल में प्यारी के साथ उमगित रति-रस की निर्झरिणी को प्रवाहित करते हैं, यथा—

रंग महल में ललन विहारी।
बैठे अति उमंग रति-बाढ़े ढिग लै प्रान पियारी।
सेज-बसनि छवि बसी हिये मैं लटकि रही उजियारी।
आनंदघन वृन्दावन रस-झर जमुन-पुलिन सरसारी ॥६८४॥
—घनानंद-ग्रंथावली पृ० ४९३

प्यारी के रंग में सराबोर रसिक विहारी ने आज अपना राधिका रमन नाम सार्थक कर दिया है और अपने प्राणों को प्रिया जी पर न्योछावर कर अपने अपूर्व प्रेम का परिचय दिया है। वे रसिक सखियों से घिरे हुये कुंज के मध्य कभी तो विहार करते हैं, और कभी अपनी प्रिया का शृंगार। माधुर्योपासक कवियों ने इस संयोग वर्णन में कभी कृष्ण का राधा के चरणों में गिरना,[1] राधा के दर्शन तथा स्पर्श के लिये नेत्रों तथा होठों में होड़

---

१ चहुँ ओर सखिन के पुंज फूली कुंज-कुंज,
राधिका रमण धीरें-धीरें विहरत हैं।

होना,[1] राधा के चरणों में महावर लगाना,[2] कानों को फूलों से सजाना,[3] आदि विभिन्न चेष्टाओं का भी वर्णन किया है।

मणि हूँ तें पानिप सुगन्धि कुसुमनि लै लै,
प्यारी अंग आभरण रचना करत हैं।
स्रुति फूल पहिराइ हेरि रीझ बलि-बलि,
कहत कहत लाल अँखियाँ भरत हैं।
लाजन के काज घूँघट की ओट करैं तब,
मनोहर हा-हा खाइ पाइन परत हैं ॥४॥
—राधारमन रससागर पृ०१६

१ बदन चंद को माधुरी निरखत नवल किसोर।
पान करत छवि की सुधा तृषित न होत चकोर ॥
पग तल कल की माधुरी नवल विमल चमकन्त।
तिनमें सुन्दरस्याम मुख प्रतिबिम्बित दमकन्त ॥
परसन कौं कर तरसहीं दरसन दृग चपलाइ।
होड़ परी भुज नैन सों लंपट अति तरलाइ ॥
—"राधावल्लभ संप्रदाय तथा साहित्य" पृ० ४१३ पर उद्धृत

२ पीत पट पौंछ पाय देत हैं महावर,
पीत रवनि रूप रीझ नैननि खगायबो।
रंगहि भरत हिय दोऊ रंग रंगे जाँहि,
दोऊ वोर बाढ़्यो प्रेम पगिबौ पगायबो।
कंप रोम स्वेद अंग लगत अनंग तंद्रा,
तब बनमाल गहि लालहिं जगायबौ।
लियें पायगोद रहैं नागर वै भूलि-भूलि,
धरी पाब पावक लौं जावक लगायबौ ॥२५॥
—नागर समुच्चय पृ० २५२

३ धरत प्रिया के स्रवन पर लाल कमल कमनीय।
बहुरि बलैया लेत प्रिय, निरखि बदन रमनीय ॥
—नागर समुच्चय पृ०२७२

अतृप्ति.—

इस माधुर्य-भाव में कभी तृप्ति नहीं होती। ज्यों-ज्यों संयोग के क्षण अधिकाधिक बढ़ते हैं, त्यों-त्यों अतृप्ति भी उत्तरोत्तर संवर्धित होती जाती है। यह अतृप्ति ही इस रस का मूलाधार है:—

श्रीराधा रस मोहिनी।
मोहे मोहनलाल सुधा सुख सोहिनी।
पीवत तृपित न होत अधर पीयूष विहारी।

—श्रीब्रह्मगोपाल-प्रियासखीकृत हरिलीला पृ० ४

प्रेमावेशः—

जब राधा श्यामसुन्दर की ओर रस-विभोर होकर देखती हैं, तो माधव की गति ठीक वैसी ही हो जाती है जैसे चन्द्रमा के सामने चकोर की। वे प्रेमावेश में कभी तो प्रिया जी के हाथों का स्पर्श करते हैं और कभी पैरों का। निस्संदेह संयोगी कृष्ण के हृदय में विद्यमान इस प्रेम के पीर को राधा के अतिरिक्त और कौन समझ सकता है? जब प्रिया जी उनके रहस्य को जान पाती हैं, तो मधुर मुस्कान से प्रियतम को क्षमा कर देती हैं। मार्ग पर अपनी प्रिया के चरण पड़ते ही मदनमोहन उनका अनुसरण करने लगते हैं, इतना ही नहीं उन्हें प्रसन्न करने हेतु वे आगे आकर मार्ग में पुष्पों को भी बिछाते जाते हैं— रूपासव से छके नंदनंदन की शोभा इस समय अपूर्व हो जाती है, यथा—

अलबेली राधा जहाँ, झमकि धरति है पाय।
रसिक-सिरोमनि स्याम तहँ, देत सु कुसुम बिछाय।।
परसनि सरसनि अंग की, हुलसनि हिय दुहुँ ओर।
नैन बैन अंग माधुरी, लये चित्त वित चोर।।
प्रिया-बदन-विधु तन लखे, पिय के नैन-चकोर।
रूप रसासव-पान करि, छकि रहे नंद-किसोर।।

—व्रजनिधि ग्रन्थावली-प्रीति० पृ० ९-१०

अन्य कवियों ने भी संयोग-काल में प्रिया के शृंगार-विधान के प्रसंग में कंप, औत्सुक्य आदि सात्विक संचारी भावों का उल्लेख किया है, यथा—

राधिका कौ पर्सत ही बिहारी विवस भये,
कंपित करन टेढ़ौ तिलक बनायौ है।
फूलन की माला पहिराय न सकत चित,
चक्रत भये हैं मन चेटक सो धायौ है।

बीरी हूँ न दई जाय ब्रजनिधि यौं लुभाय,
प्रिया जु कू अद्‌भुत ही रूप दरसायौ है।
सकल-कला-निधान सुन्दर सुजान कान्ह,
प्यारी को सिंगार चारु करन न पायौ है ।।२८।।
—ब्रजनिधि ग्रंथावली–ब्रज शृंगार पृ० १४९

संयोग-वर्णन में राधाः—

संयोग काल में प्रयत्न केवल कृष्ण की ही ओर से नहीं होता, अपितु राधा भी विभिन्न प्रकार से सक्रिय होती हैं। कृष्ण की सज्जा तथा अन्यान्य शृंगार के उपकरण वह स्वतः संजोती हैं, यथा—

आरति करत प्रिया सुखदैनी।
आरति सकल निवारि लाल की गुहीं आप कर बैनी।
भूषण वसन शृंगार बनाइ श्याम सखी मृगनैनी।
भगवत रसिक बाँह गहि लीनी चली कुंज रति सैनी।
—अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ, पृ० ५४

ये मदनमोहन जब तक नीलाम्बरधारी राधिका को नहीं दिखाई देते, तब तक उनके रोम-रोम से मलिनता ही दृष्टिगोचर होती है और उनका जीवन अत्यंत बाधापूर्ण जान पड़ने लगता है, किन्तु प्रियतम के मिलते ही उनकी समस्त बाधायें समाप्त हो जाती हैं, रोम-रोम हर्षित हो उठता है और तब उनके जीवन में असफलता नाम की कोई वस्तु नहीं रहती—

अब कछु बाधा नाहिं रही।
मदन गुपाल मिले सुखदायक साधा सबै लही।
रोम-रोम अति हरष भयौ है जीवन सफल सही।
आनंदघन या रस की संपति कैसे परति कही ।।८६।।
— घनानन्द ग्रन्थावली पृ० ३५१

संयोगिनी राधा की छविः—

संयोग के इस अपूर्व वर्णन को प्रस्तुत करके भी रसिक भक्त अपने दैन्य को बराबर प्रकट करते हुये कहते रहते हैं कि इस रस संपत्ति की अभिव्यंजना नहीं हो सकती। रसिकों के इष्टदेव श्याम की प्रियतमा श्यामा जब कुंज के मध्य में अपने प्रियतम के समीप नीलाम्बर को धारण कर शय्या पर बिराजती हैं तब उनके शरीर का सौन्दर्य मूर्तिमान हो उठता है, यथा—

नीलाम्बर वदन ढाँपि पौढ़ी नवबाला।
पिय समीप छवि अपार बाढ़ी तिहिं काला।
किंधौ रूप जाल विन्ध्यौ राका शशि सजनी।
किंधौ प्रात उदौ होत रोक्यो रवि रजनी।
झीनेपट स्वास हलत ऐसी छवि पाई।
उडगन पति ऊपर मनु रवि जा ब्राँहि आई।
जगमगाइ रह्यौ अधिक बेसर को मोती,
मानौं जल जाय करत बैठ्यौ भृगु गोती ॥६३॥

—चाचाहित वृन्दावनदास—स्फुट पद पृ० २८८

विभिन्न क्रीड़ायें:—

अपने प्यारे के साथ विहार में रत श्यामा वृदावन की उस यमुना तट स्थित सुरम्य वनस्थली पर प्रेमानंद में झूम-झूम कर कभी तो द्रुम-लता को झुकाती हुई एक ओर से दूसरी ओर बढ़ जाती हैं और कभी मनमोहन को पुष्प आदि तोड़कर देने लगती हैं। प्रफुल्लता युक्त अपने अंग-प्रत्यंग से प्रकाशमान प्रिया जी कभी-कभी वृक्षों की ओट में प्यारे को अपना आलिंगन भी प्रदान करती हैं, यथा—

झूमि झुकावत द्रुम लता उघरत उर उरमाल।
फूलनि तोरत देत फल मनमोहन कौं बाल ॥
दुरि-दुरि भेंटत द्रुमनि में फूल भरी सुकुवांर।
लंपट मधुपन वा वहीं पीत जुही की डार ॥

—नागर समुच्चय पृ० २७२

आलिंगन के इस अपूर्व सुख का आस्वादन करते हुए श्रीकृष्ण निकुंज महल में प्रिया जी के साथ विहार में रत हो जाते हैं, उन्हें पुष्प-दल-रचित शय्या पर सोने नहीं देते और संपूर्ण रात्रि रस-वार्ता में ही बिता देते हैं, राधा तभी आकुल होकर कहती हैं:—

अब तौ सोवन देहु हा हारे।
सारी रैंन जगेरू जगाई लगत न नैन तिहारे।
तुम्हें तो पर्यौ बातनि को चसको करत-करत नहिं हारे।
वृन्दावन प्रभु अमृत हु को कोऊ खाइ अजीरन करत कहारे ॥२१॥

—वृन्दावनवाणी, सप्तम घाट पृ० ४५

वियोग-वर्णन में कृष्ण (स्मरणावेग) :—

प्रीति के अंकुर के हृदय में उगते ही प्रेमी के नेत्र प्रिय को देखने के हेतु तरसने लगते है और फिर चित्त में मिलन की चाह को जगाये हुए वह निसिदिन अपनी प्रिय के ध्यान में मग्न रहता है। इस चाह के वशीभूत माधव जब प्रिया जी की याद करते हैं, तो बेहाल हो जाते हैं और निरंतर वंशी की मधुर ध्वनि के माध्यम से राधा नाम की रट लगा देते हैं। उस समय उन्हें अपनी प्यारी के नीलाम्बर का ध्यान आ जाता है और तब वे पीताम्बर को धारण किये रहते हैं। प्यारी की गति और उनकी मुस्कान का स्मरण करते ही वे बेसुध हो जाते हैं और सावधान होने पर वियोग में हाहाकार कर उठते हैं। गायों के बुलाते समय राधे का नाम अनायास मुख से निकलने लगता है और मस्तक का मयूर-पुच्छ, हाथ की लकुटि तथा मुख पर विहार करने वाली मुरली इधर-उधर हो जाती है, यथा—

चाह चटपटी मिलन की, लाल भये बेहाल।
बंसी में रटिबो करैं, राधा-राधा बाल ।।
नीलंबर को ध्यान धरि, भये स्याम अभिराम।
पीतवसन धारे रहैं प्रिया बरन लखि स्याम ।।
चलनि हलनि मुसकानि मैं जहाँ-जहाँ मन जाय।
फिर तन की सुधि नहिं रहै, सुधि आयें कह हाय ।।
कहूँ लकुट कहुँ मुरलिका पीतम्बर सुधि नाहिं।
मोर चन्द्रिका झुकि रही प्रिया ध्यान मन माँहि ।।
गंगा-जमुना नाम कहि बोलति गायन टेरि।
राधे-राधे वदन तें निकसि जात तिहिं बेरि ।।
मोहन मोहे मोहिनी, भई नेह बढ़वारि।
हा राधे ! हा हा प्रिया कहत पुकारि-पुकारि ।।६०-६५।।

—व्रजनिधि ग्रंथावली प्रीति पृ० ९

कृष्ण की विरह-दशा :—

यमुना के पुलिन पर विचरण करते हुए नंदनंदन को जब राधा-प्रिया का ध्यान आता है, तो वे उनकी अनुपस्थिति से व्याकुल होकर अपनी मुरली में अनुराग का गीत गाने लगते हैं। विरह के बाण से उनका हृदय विदीर्ण हो जाता है और वे वन-वन में डोलते घूमते हैं—

मोहन राधा के अनुराग छक्यौ मुरली मैं गुन गावैं।
वासर बिरह-सरहु उर सालत बन-बन डोलै ऐसें ज्यौ बहरावैं।
पीत वसन-द्युति देखि-देखि पलकनि सों परसि नैननि को मनु मनावैं।
आनंदघन यौं प्रान-पपीहनि रस-प्यासनि परचावैं ॥४३५॥

—घनानंद ग्रंथावली पृ०४३१

राधा की किसी सखी ने बनवारी की इस विरह-वेदना को देखा। वह तुरन्त राधा प्यारी के पास गई और कृष्ण की दशा का वर्णन करने लगी, "हे राधे ! तुमने तो उस रँगीले गोपाल को अपने वश में कर लिया है, जिसने वृन्दावन की समस्त गोपियों पर अपनी मोहिनी डाल दी थी, किन्तु इस समय वही घनश्याम पीताम्बर को ओढ़े रात-दिन राधा-राधा ही रट रहा है और तुम्हारे दर्शन को तरस रहा है, यथा—

तै वसि कीन्हौं री बाल गोपाल रँगीलौ।
जिहिं मोहीं सगरी व्रज बनिता वन्यौं बानिक छैल छबीलौ।
तुही-तुही रटत रहत रैन दिन तन घनश्याम वसन ओढ़ै पीलौ।
वृन्दावन प्रभु तेरे ही दरश कौं तरसत फिरत हठीलौ ॥३०॥

—श्रीवृन्दावनवाणी-चतुर्थघाट पृ० २१

उक्त गोपी का कथन है, "हे राधे ! ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारी नागिन रूपी आँखों ने एक ही बार में उस नंदनंदन को डस लिया है, हे प्यारी ! प्रेम के उस विष से व्याप्त रोम-रोम से व्याकुल वे कुंजविहारी लहरें लेते हुए से घूम रहे हैं। उन्होंने बहुत से प्रयत्न किये, किन्तु फिर भी विरह-वेदना शांति नहीं हुई है।[1] अस्तु।

'अब तो निरबाहु किये ही बनै बलि तौहिं लखै बिनु दाह घनेरो।'[2]

प्रेम यदि सत्य है, तो उसका कभी भी एकपक्षीय रूप नहीं होता है। राधा कृष्ण की प्रतीक्षा में निरन्तर आकुल रहती हैं, तो कृष्ण भी उनसे मिलने

---

१ डस्यों दृग नागिनि कारी तिहारी।
रोम-रोम गयो व्यापि प्रेम-विष घूमत लहरनि लेत विहारी।
करि-करि कोटि उपाय पचिहारे क्योंहू जात न विथा सहारी।
बलि वृन्दावन प्रभु उपाय करि बंक बिलोकनि मंत्र महारी ॥३७॥

—श्रीवृन्दावन वाणी—चतुर्थघाट पृ०२३

२ श्री वृन्दावनवाणी—चतुर्थ घाट पृ०२०

के लिये सतत आतुर रहते हैं। यह वह स्थिति है ज ाँ पहुँच कर कौन किस के लिए क्या करता है—इस बात का ध्यान रहता ही नहीं है। तभी तो कृष्ण राधा-राधा नाम का उच्चारण करते हुये पाये जाते हैं :—

चलि री मग जोवत हैं स्याम।
निज कर फूलन सेज सँवारी बिथा बड़ी हिय काम।
बंसी अधर धारि तेरौ ही गावत राधा नाम।
ब्रजनिधि सुनत ब्रचन सजनी के चली कुंज अभिराम ॥२॥

—ब्रजनिधि ग्रंथावली पृ०१५६

वियोग-वर्णन में राधा :—

प्रियतम के वियोग में व्याकुल प्रिया जी अपने हृदय को किसी प्रकार नहीं समझा पातीं, क्योंकि उज्ज्वल रूप वाले और उनकी आँखों के तारे श्याम सुन्दर उनके पास नहीं हैं। वे कभी उठती हैं, कभी दौड़ती हैं और कभी हा-हा कर अपने प्यारे को पुकारने लगती हैं। बड़ी विचित्र दशा है निरंतर संयोग में रहने वाली उन वियोगिनी राधा की। क्षण भर में ही उनका मुख-कमल मुरझा जाता है। उनका यह विश्वास है कि माधव के बिना इस वेदना को कोई समझ नहीं सकता। इस दृष्टि से वे किसी के समक्ष अपनी इस प्रेम की पीर को प्रकट भी नहीं करतीं, केवल स्वयं को ही समझाने की चेष्टा करती हैं, यथा—

जियरा मैं क्यों समझाऊँ।
रूप-उज्यारे अँखियन तारे ब्रजमोहन देखे बिन हा हा,
ठौर न पावै उठि-उठि धावै गहि गहि लाऊँ।
फिरि मुरझावै दैयारी यह पीर निगोड़ी निपट सतावै कहाँ दुराऊँ।
मेरे मन की कोई न जाने जैसे हौं दिन रैनि बिताऊँ।
प्रान-पपीहन की यह वेदनि आनंदघन बिन काहि सुनाऊँ ॥६४॥

—घनानंद पदावली पृ०३४४

वियोग की पीर में प्रेम के इस अविरल प्रवाह को देखकर माधुर्योपासक अपने प्यारे इष्टदेव से अधिक उनके वियोग से उत्पन्न वेदना को ही प्यार करते हैं। उनका यह विश्वास है कि प्रियतम तो हमसे अलग भी हो जाते हैं, किन्तु यह पीर हृदय से कभी न्यारी नहीं होती। रसिकों की धारणा है कि यह पीर अनिर्वचनीय है। जिह्वा से इसके सुख-दुख का वर्णन नहीं हो

सकता। माधुर्योपासकों की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ महा भावस्वरूप प्रिया जी का भी यही विश्वास है--

तिहारी पीर प्यारे तुम हूँ तें अति प्यारी।
पूरि रही है पिरौहैं हिय मैं होति न कबहूँ न्यारी।
याको सुख दुख कहिये कैसें अकथ कथा और रसना विचारी।
आनंदघन पिय याकी घमंडनि दुरति न जाति उवारी।।३५९।।

—घनानंद पदावली, पृ० ४१४

कितनी उच्च भावना है इस युग के रसिकों की ! कलुष का नाम नहीं, वासना का काम नहीं, प्रियतम का प्यार प्रियतम से बढ़कर है यहाँ, और उसी में सर्वदा उसका स्मरण करते-करते बावरा हो जाना ही तो उनकी सिद्धि का स्वयं प्रमाण है।

वियोगिनी राधा के प्यार का आदर्श तो उनके जीवन का प्राण है, क्यों न हों ? उनकी स्वामिनी अपने स्वामी को निरंतर अपने नयनों का पाहुना जो बनाये रखती हैं। जब कभी माधव लीला के हेतु अपनी राधा प्यारी से विलग हो जाते हैं, तो वे पुन: कहने लगती हैं—

कब ह्वै हौ नैननि के पाहुने मो हिय है लौ लागी।
अँसुवनि जल सों पखारि पाँय हौ हूँ ह्वै हौंगी सभागी।
मन मेरो मंडरात रात दिन बानि अभिलाष विकल बैरागी।
प्रान-पपीहन के आनंदघन है पुकार पन-पागी।।४।।

अपने प्रियतम को सर्वदा नेत्रों में पाहुना बनाकर रखना, अश्रुजल से उनके चरणों को धोकर अपने को भाग्यवान समझना और अनन्य प्रेम की प्रतिज्ञा पर अटल रहना राधा आदि गोपियों का ही काम है और किसी का नहीं। अपने सर्वस्व के वियोग में हृदय की अधीरता से वे प्रति क्षण आकुल रहती हैं—यह आकुलता ही उनकी चेतना का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस आकुलता में निरंतर अपने प्राणनाथ के गुण-गीतों का गायन करती हुई वे कहती हैं—

हमारी सुरति करौ ब्रजनाथ।
तुम बिनु हम अब निपट दुखारी जैसे मीन बिन पाथ।
निसि दिन गाइ गाइ जीवति हैं सबरेई गुन-गाथ।
आनंदघन रस बरसि पोषिये प्रान पपीहा साथ।।८५।।

—घनानंद ग्रंथावली पृ० ३५१

प्रेम रस की वर्षा से पोषित राधा आदि गोपियाँ आखिर कब तक सहन करें ? निरंतर प्रियतम की स्नेह-ज्योति से जगमगाने वाला उनका हृदय जब तक अपने नेत्रों से वृन्दवनेश्वर को नहीं देखता, तब तक विक्षिप्त हीं रहता है, संयोग के क्षणों में जो वस्तु अमृत के समान प्रतीत होती थी, वही अब उन्हें विष वमन करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। पति का संयोग कैसे हो ? इस सोच में दिन रात मृतप्राय सी होती जा रही हैं।[1] यदि अवसर बीतने पर श्यामसुन्दर आये तो उनका व्रज जीवन नाम सार्थक कभी नहीं होगा। बिरह में व्याकुल वे सभी अपने प्रियतम से इसीलिये बिलख-बिलख कर रस बरसाने की प्रार्थना करती हैं,

आइ सुधि लेहु सबैरी श्याम।
औसर गये बहुरि कहा ऐहौ ब्रज जीवन धरि नाम।
रही निपट मुरझाइ बिलखि बलि प्रबल विरह के धाम।
आनंदघन रस सींचि हरीं करौ बेलि बिचारी बाम ।।३८७।।

—घनानंद ग्रंथावली पृ०४१९

विरहोन्मादः—

रास के मध्य लीला विहार करते हुये मदनमोहन जब गोपियों से बिलग हो जाते हैं, तो इस युग के रसिक भक्तों की दृष्टि में भी समस्त गोपियाँ अपने प्रियतम को ढूँढ़ती हुई वृक्ष और लता आदि से उनका पता पूछती हैं। किन्तु उनके इस वेदनात्मक प्रश्न का उत्तर कौन दे ? वे अधीर हो उठती हैं और जिस मार्ग से श्रीकृष्ण अदृश्य हुये थे, उसी का अनुसरण करने लगती हैं, इतना ही नहीं, प्रियतम की अनुपस्थिति में उनकी भाव-लीला में तन्मय भी हो जाती हैं, यथा—

याही बीच और ब्रज सुन्दरी सबनु राधा-
रमण फिरत ढूँढ़ि मति भई बावरी।

---

१ कैसे मिलन बनै गोपी को।
राति द्यौस सोचन ही मारिये क्यों हूँ दुख न दबत याही को।
स्याम-रूप रीझीं ये अँखियाँ और कछू लागत नाँहि नीको।
चातक-रट लागी सुनि सजनी आनंदघन जीवन है जी को ।।६४६।।

—घनानंद ग्रंथावली पृ०४८४

जिते वृक्ष वेलि मृग मृगी अवनि विहंग-
पूँछत कितहूँ देखी मूरति सु साँवरी।
उत्तरु न कहूँ पाइ तनमई भई लीला,
प्रिय अनुकरन करत बाढ़ी भावरी।
"मनोहर" ढिग गही चरन चिह्न पाछे प्रिया,
सहित सुहाग देखि आइ गई ताँवरी ॥३९॥

—राधारमण रससागर पृ० १४

उन्माद की इस अवस्था में भी श्यामसुन्दर की मूर्ति हृदय से नहीं निकलती, नेत्रों से विपुल अश्रुप्रवाह होता है और गोपियाँ माधव के माधुर्यमय रूप की मदिरा पिये हुये उनकी याद में आत्मविभोर होकर गिर-गिर पड़ती हैं। साक्षात् मन्मथ: श्रीकृष्ण ने अपनी टेढ़ी चितवन से गोपियों के हृदय को भी मथ डाला है।[1] और राधिका के उर पर नख-क्षत करके उनके हृदय को जीत लिया है। इस नख-क्षत को वियोगावस्था में देखते ही राधा प्यारी के समक्ष श्यामसुन्दर की मोहिनी मूर्ति थिरकने लगती है और तब वे अपनी सखी से आकुल होकर कहने लगती हैं—

बेगि लै आवरी लाल बिहारी प्रान प्रिया कौं।
कलमलात उनके देखन कौं राखि लै विकल जिया कौं।
हितू जानि कै तोसों कहति हौं चेरी मानि अधीन तिया कौं।
आनंदघनहिं मिले सियरो करि बिरहा-बढ़त हिया कौं ॥६४७॥

— घनानंद ग्रंथावली पृ० ४८४

हृदय-स्पर्श पाने के लिए और नेत्र मुख-कमल के दर्शन के लिये तरस रहे हैं। वियोगिनी राधा को नंदनंदन के वियोग में एक-एक क्षण एक-एक युग के समान प्रतीत हो रहा है। और वह किसी भी उपाय से अपने प्रिय का संयोग पाने के लिये अपनी सखी से कह रही हैं:—

करौं किनि कैसेहुँ कोऊ उपाई।
ब्रजमोहन के रंग रँगी री और न कछू सुहाई।

---

१ मन्मथ मनमथ मन मथ्यो बंक विलोकन बाल।
नख रेखा लखि लाड़िली निज उर कलंब लाल ॥ १७॥

—प्रियासखी हरि-लीला पृ० ९

कह्यो न मानति अँखियाँ मेरी लागी विरह-बलाई।
अरबरात ये प्रान सखी री ब्रजनिधि मोहि दिखाई।

—ब्रजनिधि ग्रंथावली पृ० १९४.

निकुंजेश्वरी को प्रियतम से तुरंत मिलने का जब कोई उपाय नहीं दृष्टिगोचर होता, तो वे मन मसोस कर रह जाती हैं, धन-धाम भूल जाता है और वे विरह की ज्वाला में दग्ध होने लगती हैं। रसिकों की दृष्टि में उनका मन उनके पास अब नहीं रह गया, और कृष्ण की एक चितवन में ही उनके साथ हो लिया—वे विचार करती हैं, किन्तु दोषी कौन है ? अन्तर्द्वन्द्व मचा है, यह उनकी भी समझ में नहीं आता, यथा—

प्रेम की मरोरनि मसोसे मन मारिये।
दृगनि के साथ ह्वै बिकानो पर हाथ इहि
दीजै काहि दोष कहौ कौन पै पुकारिये।
भूल्यौ धन धाम अब कहाँ घनश्याम आली
बिना काम देह यों वियोग आगि जारिये।
वृन्दावन प्रभु कहूँ नैंक हू निहारिये सुतन,
मन धन प्रान वारि-वारि डारिये ॥८१॥

—श्रीवृन्दावन वाणी—चतुर्थ घाट पृ० ३१

प्रेम की पीर बराबर बढ़ती ही जाती है, प्राणनाथ की अनुपस्थिति में अब प्राण नहीं रहना चाहते। सत्य है, प्रेम की पीर भी कब तक सही जाय ? इस अनोखी पीर में धैर्य तो छूट ही जाता है साथ ही शरीर भी जड़वत् हो जाता है। श्रीकृष्ण की प्रकट लीला विशेष में श्रीराधा का यह विरह मधुर उपासकों के हृदय में भी ठीक वैसी ही तड़पन प्यारे नंदनंदन से मिलने के हेतु उत्पन्न कर देता है, जैसी उनकी स्वामिनी राधा के हृदय में क्षण भर में उत्पन्न हो जाती थी। राधा-माधव की नित्य लीला में किसी का किसी से वियोग कभी नहीं होता। दृश्यमान अवतार लीला के कारण ही ब्रज में रहनेवाली गोपांगनाओं की इस वियोगमयी दशा का चित्रण रसिकों द्वारा किया गया है, यथा—

हरे र्लीलाविशेषस्य प्रकटस्यानुसारतः।
वर्णिता विरहावस्था गोष्ठवामभ्रुवामसौ।
वृन्दारण्ये विहरता सदा रासादि विभ्रमैः।
हरिणा व्रजदेवीनां विरहोऽस्ति न कर्हिचित्।

—उज्ज्वलनीलमणि, संयोगवियोगस्थितिः पृ० ५६०-५६२

आधुनिक कृष्णभक्त कवियों का संयोगात्मक-वियोगात्मक माधुर्य

प्राकृतिक अलंकारों से सुसज्जित वृन्दावन की सुरम्य स्थली में नित्य रस-लीला निमग्न राधा-माधव इस युग के भी माधुर्योपासकों के प्राणनाथ हैं। पूर्व परम्परानुसार इन भक्त जनों ने भी अपने काव्य के विशाल प्रांगण में मधुर उपासना का शंख फूँक दिया था और राधा-कृष्ण युगल की नित्य झाँकी की माधुरी का पान किया था। इष्टदेव की याद में इन भक्तों के भी हृदय रतिरस से परिपूर्ण हो गये थे और तन-मन आदि सब कुछ श्रीकृष्ण की एक ही बाँकी चितवन से इनके पास भी न रह गया था। राधा कृष्ण के प्रेम में मतवाले होकर फिर उन्होंने भी उनका गुणगान करने में कोई कसर न उठा रखी। कुंज के मध्य मादन भाव से युक्त युगल-केलि का इस युग के कवियों ने भी परंपरा से प्राप्त चित्रण कर अपनी रसमयी अनन्य-भावना का परिचय दिया है। इनके राधा-कृष्ण भी जब कुंज के मध्य विराजते हैं, तो प्रेम से उमंगित होकर परस्पर फूले नहीं समाते। दीपक की झिलमिल ज्योति से प्रकाशमान एवं पत्तों के बीच से झरने वाली अमृतमयी चन्द्रिका से आलोकित कुंज में युगल आराध्य तन्मयता से रसमयी वार्ता में संलग्न रहते हैं, परस्पर नित्य सयोग का सुख देते हैं और जालरंध्रों से इस शोभा को देखने वाली सखी-जनों के हृदय में नित्य प्रेम रस को ढरकाते हुये उन्हें आनंदित करते हैं, यथा—

आजु रस कुंज-महल में, बतियन रैन सिरानी जात।
जाल-रन्ध्र तें भरित चाँदनी चलत मंद कछु सीतल बात।
सनसनात निसि, झिलमिल दीपक, पात खरक बिच-बीच सुनात।
रगमगे दोऊ भुज दिये सिरान्हें, आलस बस मुसकात जँभात।
मधुर विहाग सुनात दूर सों, लंपटि रहे बिथकित सब गात।
"हरीचंद" दोऊ रूप-लालची, सिथिल तऊ जागे न अघात ॥९॥

—भारतेन्दु ग्रंथावली, द्वि०भा०पृ०४३९

युगल छविः —

रति-रस के एकमात्र देवता श्यामसुन्दर के साथ कुंज-भवन में विराजमान प्रिया जी की परस्पर छवि को देखकर तथा प्रीति-परिवर्धन करने वाली उनकी प्यारी उक्तियों को सुनकर रसिक भक्त को भी चैन नहीं पड़ती और तब वह भी युगलमूर्ति को अपना सर्वस्व दे डालता है तथा मनहरण की रूप-माधुरी में छक कर गा उठता है—

आज इन दोउन पै बलिहारी।
नंदलाल रति पति विशाल छबि, चन्द्र-बदन वृषभान दुलारी।
बैठे कुंजभवन बतरावत, उपजावत सुख प्रीतम प्यारी।
नारायण उपमा कहा दीजै, मैं अपने मन बहुत विचारी ।।१७।।

—ब्रजविहार पृ०६९

निरंतर रति-रस केलि निमग्न प्रिया-प्रियतम के अलसाते नेत्र, झूमता शरीर और अटपटी वाणी का श्रवण एवं दर्शन सर्वस्व समर्पित करने वाले किसी अति भाग्यवान रसिक भक्त को ही प्राप्त होता है। वे राधा-माधव तो बरबस अपने भक्तों के चित्त का हरण कर उन्हें आनंद प्रदान करते हैं और उपासक एक बार चरणों का सामीप्य पाते ही फिर उन्हें नहीं छोड़ता, यथा—

दोऊ बरबस चितहिं चुरावें।
आँख निगोड़ी परत पिया पै, पिय देखन अकुलावें।
जो समान ह्वै दुहुन देखिये तो कहा नैननि मावैं।
सर्वेश्वर दम्पति के चरणनि, लिपटन ही जिय भावैं।

—'श्रीसर्वेश्वर' वर्ष ७, अंक२, पृ०७

इस अद्भुत छवि से साधक के इष्टदेव करोड़ों कामदेवों को लज्जित करते हुए नटवर वेश से उसके मन में विराज जाते हैं। कुंज में परस्पर संयोग सुखामृत का पान करने वाले युगल आराध्य जब अनायास एक दूसरे के रूप-माधुर्य को देखकर मुग्ध हो जाते हैं, तो फिर एक क्षण भी धैर्य उन्हें नहीं रहता और वे परस्पर अपने मधुर रस का पान कराते हैं। निरंतर इस रस धारा के आस्वादन करने की कामना से साधक अपनी साधना में रत रहता है और अपने विहार सुख का नित्य आस्वाद कराने वाले राधा-माधव भी।

युगल-विहार सुख:—

रसिकों के दर्शनीय दम्पति किशोर जब विहार सुख में तन्मय होकर रसास्वाद करते हैं, तो परस्पर उनके हृदय से हृदय, मन से मन और भुजाओं से कंठ आबद्ध हो जाते हैं, यथा—

बिच विचित्र नव कुंज, में, करत युगल रस केलि।
उर सूँ उर मन सूँ जु मन, ग्रीव भुजा रहे मेलि ।।

ग्रीव भुजा रहे मेलि हिये, अति ही सुख मानत।
अतुल अनूप अनन्द, कहत मुख बनि कित आवत ।।
रँगे प्रेम के रंग अंग, रहे विविरस ते सिच।
हीरासखी सुभाग, कृपाहित लखि शोभा बिच ।।

—अनुभव रस पृ० १३९

राधा-माधव की इस तन्मयता में रसिकों के नेत्र गौर श्याम की नित्य ज्योति का आभास पाकर चकित हो उठते हैं। कुंज के मध्य इस प्रकार वे दोनों अपनी कांति से समस्त भक्तों के हृदय को आलोकित कर अपने रहस्य को प्रकट करते हुये उल्लास के साथ एकाकार हो जाते हैं। निश्चित ही यह अत्यंत निगूढ़ तत्व है, जिसे साधक की किशोरी भावना ही समझ सकती है। यह छटा तो देखते ही बनती है—

लख्यो मैं अनुपम रस एक रात।
दम्पति छटा कहति नहिं आवे, देखत हृदय सिरात।
पौढ़े रत्न-जड़ित पलका पर, दोऊ हिय हुलसात।
मानो चिद्‌घन तेज कांतियुत, सतगुण पर सरसात।
गौर-श्याम छवि एक भाव व्है एकहि ज्योति दिखात।
ध्यान भक्त-रस गम्य अगोचर याहि सकल श्रुति गात।
प्रात होत पुनि द्‌वै छवि देखीं भक्त-पाल मृदुगात।
गूढ़ तत्व यह देखि भक्ति बल दुर्गा रसिक सिहात ।।७।।

—नि० मा० पृ० ६८८ पर

प्रियतम कृष्ण की यह झाँकी तब तक व्यक्त नहीं होती, जब तक श्री राधिका जी अपने भक्तों पर कृपा करके माधव को प्रेरित न करें। राधा की प्रेरणा से श्यामसुन्दर कुंज की एकांत लीला भी करते हैं और मंडल-लीला भी। सखी-जनों को अपने विहार-सुख का अमृत देने के लिये राधा कृष्ण से कहती हैं:—

अहो मेरे लाल ! भामते प्रीतम।
आनंद कंद किशोर मूरति प्रेम रस घन-बरसने प्रीतम।
दिव्य चिद्‌घन चारु मनोहर हे उदार ! मेरे लाड़िले प्रीतम।
चलो-चलो अब मंडल चलिये रस ढरिये मेरे लाड़िले प्रीतम।

—व्रजभूषणशरण देव, नि० मा० पृ० ७४१

सखी-जनों को निरंतर अपने ध्यान में मग्न जानकर प्रभु द्रवित हो जाते हैं और प्राणप्रिया के प्रस्ताव करते ही वेगि पधारने की अभिलाषा को व्यक्त कर सखी-मंडल के हेतु चल देते हैं, यथा—

प्रान प्रियतमा प्रियवर प्यारी ! कल बैनी सुकुमारी हो।
तुमरी या मृदु बोलन पर हौं तन मन धन देऊँ वारी हो।
कृपा मनाऊँ यह वर पाऊँ तव सेवा अधिकारी हो।
बेंगि पधारो अब पग धारो परिकर की प्रतिपारी हो।

व्रजभूषण शरण देव, नि० मा० पृ० ७४१

सखी-सुखः—

कुंज की पुष्परचित शय्या से श्याम-श्यामा ने सखीजनों को अपने दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य का पान कराया. सखियाँ आरती करती हैं, बलिहार जाती हैं और अपार रूप-राशि के आलोक को देखकर तृण तोड़ती हैं। उनकी जय-जयकार से वह नवल निकुंज गुंजित हो जाता है, नृत्य-संगीत अपनी समस्त कलाओं के साथ थिरकने लगता है, क्योंकि लड़ैतीलाल सामने विराज रहे हैं—

प्रात उठि लसत न लड़ैती लाल !
रत्न जड़ित सिंहासन राजत ज्यों घन तड़ित अचाल।
आरति करत प्रेम रस सानी ललिता छवि युत बाल।
मानो चिद्घन ऊपर वारति यज्ञ क्रिया तप-माल।
तृण तोरति पुनि वारि विशाखा वन्दत पद धरि भाल।
वारि ब्रह्म पर साधन ज्यों रति सेवत पद आबाल।
जय जय करत सुखित आलीगण देखि युगल प्रतिपाल।
ज्यों सुतिगण तजि बिधि निषेध लखि ब्रह्महिं होत निहाल।
उठत तरंग राग भैरव की बाजे बजत रसाल।
दुर्गा यह दम्पत्ति छवि निरखत मिटत सकल भव-जाल ॥८॥

—नि० मा० पृ० ६८८

सखियों की आन्तरिक अभिलाषा को जानकर ही तो राधा माधव ने यह क्रीड़ा दिव्य छटा दिखलाई और उनके लिये दोनों सखी मंडल सहित वन-बागों में क्रीड़ा करने लगते हैं। समस्त सखियाँ मुग्ध हो जाती हैं और प्यारे दम्पति के रूप सौन्दर्य को अक्षुण्ण बनाये रखने की कामना से राई नोन तक उतारने लगती हैं। मंडल की इस क्रीड़ा में युगल परस्पर अपनी कला का प्रदर्शन करते हुये रसिकों के हृदय स्थित अनुराग का परिवर्द्धन कर उन्हें रस-मत्त कर देते हैं, तभी तो वे गाते हैं—

सखिन सह क्रीडत दोउ बन बाग ।
अति सुकुमार किशोर सदा वय नव शृंगार सुभाग ।
परम रम्य तनु ऊपर छायी मंजुल कुसुम पराग ।
ज्यों चैतन्य शक्तियुत ऊपर लसत निगम अनुराग ।
दोऊ रचत कुसुम आभूषण विविध कदलि रचि ताग ।
शुभ शृंगार सूत्र में पोहत मानों छवि मणि भाग ।
मुख सो प्रिया प्रियहि पहरावत हँसि-हँसि भरी सुहाग ।
करि शृंगार लाड़िली को पुनि लाल सम्हारत माँग ।
यह लीला लखि सखी सिहावें प्रेम सरस मन पाग ।
ललिता छवि पर वारि नौन तृण राई डारत आग ।
रसिक गम्य यह रस सुख अनुपम रसिकन को नवराग ।
यही ताव रस प्रिय दुर्गा को योग सिद्धि जप, याग ।।८।।

—नि० मा० पृ० ६८६

संयोग-वर्णन में कृष्ण:—

इस युग के रसिक भक्तों के रसमय संयोग-वर्णन में राधा के प्यारे और नंद के दुलारे कृष्ण प्रिया जी के समक्ष उपस्थित होकर उनके अनुपम रूप पर ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि कहते ही नहीं बनता। वे मदनमोहन नित्य उनकी रूप-माधुरी का पान करते हुये तिनका तोड़ते दृष्टिगोचर होते हैं और अपनी प्रिया के सौन्दर्य की मलिनता की आशंका से राई नोन उतारने लगते हैं। अत्यंत स्वाभाविक भावना के साथ वे ही कृष्ण अपने कोमल करों से प्रिया जी के शृंगार करने की अभिलाषा को भी प्रगट करते हैं और अपनी प्यारी से स्वतः कहने लगते हैं कि हे प्यारी, यदि कुछ तुम गाओ तो मैं साज संवार लूं।[1] बिना प्यारी के इन कृष्ण को एक क्षण भी चैन नहीं पड़ती। अस्तु, मिलते ही वे कहने लगते हैं—

---

१ प्यारी नित ऐसे ही तुमें निहारूँ।
तृण तोरूँ या चन्द बदन पै राई नोन उतारूँ।
निज कर करूँ शृंगार तिहारो मुख पै भ्रमर बिडारूँ।
नारायण जब तुम कछु गावो मैं ढिग साज संवारूँ।।११।।

—ब्रजविहार पृ० २०५

प्यारी जी तिहारे बिन कल न परत है।
मन्दिर,अटारी चित्रसारी और फुलवारी मोहिं कछु प्रिय न लगत है।
घनो समझायो इत उत बहलायौ पुनि, तौहू मन धीर न धरत है।
एतौ हठ आगे कब कियो नारायण जेतौ हठ आज तू करत हैं ॥१६॥

—ब्रजविहार पृ० ९४

अपनी प्यारी को निरंतर हृदय में बसाये रहने वाले रसिक-शिरोमणि को रति रस रंग में प्रिया जी का तनिक भी हठ अच्छा नहीं लगता। वे भरसक अपने मन को बहलाने तथा धीर धारण करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु सब व्यर्थ जाता है और तब वे कह उठते हैं—

प्यारी तुम सम और न तिय जग हेरी।
कहा बड़ाई करूँ गुणन की आगें दृष्टि न पहुँचत मेरी।
आठो याम मत्त तुमरे रस मो जिय सूँ नहीं पलक टरैरी।
हीरासखी हित की स्वामिनि तुम तिहारे बिन छिन कल न परैरी॥२॥

—अनुभव रस पृ० ६७

संयोगी कृष्ण का दैन्यः—

हठ करती हुई प्राण प्यारी राधिका के ऊपर जब कृष्ण द्वारा की गई इस रसमयी प्रशंसा का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो वे उनके समक्ष अत्यंत दीनता-पूर्वक स्वयं को अपनाने की प्रार्थना करते हैं और प्रेम-विभोर होकर यहाँ तक कह डालते हैं कि हे प्यारी! संकट के समय निरंतर तुम्हीं ने मुझे सहायता पहुँचाई है। अस्तु, तुम्हारे ही वियोग से उत्पन्न जो मेरी वेदना है, उसका निवारण करो।

कृष्ण की उपर्युक्त दीनता एवं अधीरता को न तो रसिक सह पाते हैं और न उनकी स्वामिनी। परिणामत: वे अपने प्यारे को अपने हृदय पर खींच कर उन्हें अपना रसमय आलिंगन दे ही देती हैं, यथा—

लीजिये मोंहि प्रिये अपनाय।
जब जब भीर परत मोंपर तब तुमही होति सहाय।
लखि मोहन की अधिक दीनता मिलीं तुरत उर लाय।
हीरासखी हित नैंन सिरावत निरखत छवि न अघाय॥२॥

—अनुभव रस पृ० ६७

इस मधुर आलिंगन की छवि को देखकर रसिक भक्त कभी तृप्त नहीं होता। संयोग की मधुर वेला में भी कृष्ण के प्रेमवैचित्य के कारण जब राधा-वियोग की याद आती है, तो उनका हृदय क्षणमात्र के लिए वेदना से भर जाता है। यथार्थ में प्रेम रस की मदिरा का एक बार पान कर लेने पर फिर उसकी मादकता का नाश नहीं होता। राग की आग किसी के बुझाये नहीं बुझती। प्रेमी का तन, मन और प्राण सब कुछ इस आग से चमत्कृत हो जाते हैं। प्यारे कृष्ण भी निरंतर प्रिया के इसी प्रेम-संयोग में तन्मय रहते हैं और राधा भी श्यामसुन्दर को पाकर रसमत्त हो जाती हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण जब उन्हें ध्यान आता है, तो वे कुंज के मध्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के हेतु चल पड़ती हैं। जिस मार्ग से राधा चलती हैं, श्यामसुन्दर उसी मार्ग पर कोमल पुष्पों को बिछाते जाते हैं, अपलक नेत्रों से मंद-मंद गयन्द गति से चलने वाली अपनी प्रिया को देखते जाते हैं और उनके मुख-कमल के रस को प्राप्त करने के लिये भ्रमर के समान स्थिति के वशीभूत हो जाते हैं, यथा—

बन कुंजन जात लखी कुहु रैन मध्य—
मानों दामिनी नवल किसोरी।
जाही जाही मग पग धरत प्यारी जू—
ताही ताही पथ प्यारो बिछावत फूलन भरी झोरी।
चंदमुखी मंद मंद चलत गयंद गति-
यक टक चितवत है मनो चकोरी।
अंग अंग राधे कमल अरुण तरुण दल—
मोहन मन भृंग भयौ ललित किशोरी ॥३॥
—अभिलाष माधुरी पृष्ठ २०३

इस प्रकार निकुंजेश्वरी की रस लीला से आह्लादित कृष्ण की इस झाँकी का नित्य दर्शन करते हुए उपासक रस में तन्मय रहते हैं।

संयोग-वर्णन में राधा आदिः—

रसिक विहारी कृष्ण राधा के परम प्यारे प्राणनाथ थे। वे निरंतर उनकी झाँकी को देखकर अपने को भाग्यवान समझती थीं और कृष्ण से कहा करती थीं:—

प्रीतम तुम मोहि प्रान ते प्यारो ।
जो तोहि देखि हिये सुख पावत, सो बड़भागिन वारो ।
तुम जीवन धन सरबस तुमहीं तुमहिं दृगन को तारो ।
जो तुमको पलभर न निहारूँ दीखत जग अँधियारो ।
मोद बढ़ावन के कारण हम मानिनी रूप को धारो ।
नारायण हम दोऊ एक हैं फूल सुगन्धि न न्यारो ।।२२।।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग २

राधा के जीवन में कृष्ण परम पुनीत प्रकाश-पुंज के रूप में हैं। उनके बिना समस्त संसार अंधकारमय प्रतीत होता है। मनोविनोद के हेतु किये गये मान में भी जब वे मदनमोहन को अत्यंत व्याकुल देखती हैं, तो अपने नित्य संयोग की चर्चा से उन्हें शांत करने का प्रयास करती हैं और प्यारे के मुख को चूमते हुए उन्हें गाढ़ालिंगन प्रदान करती हैं। संयोग के इस क्षण में राधा का हृदय उमंग से भर जाता है—

आजु मुख चूमत पिय को प्यारी ।
भरि गाढ़े भुज दृढ़ करि अंग-अंग उमगि उमगि सुकुमारी ।
लहि इकन्त प्रानहु ते प्रियतम करत मनोरथ भारी ।
उर अभिलाष लाख करि-करि के पुजवत साथ महारी ।
मानत धन-धन भाग आपुने देत प्रान-धन वारी ।
'हरीचंद' लूटत सुख संपति श्री वृषभानु-दुलारी ।।२३।।

—भारतेन्दु ग्रंथावली द्वितीय भाग—कृष्णाचरित्र पृष्ठ ६१२

राधा की लज्जाः—

कुंज के मध्य रासेश्वरी प्रिया जी से आलिंगित कृष्ण की जब रति रसलीला का प्रारंभ होता है, तब वृषभानु पुत्री को लाज के कारण प्रियतम के समक्ष अत्यंत संकोच होता है— रतिरस-संयोग के इस सागर की मनोहर तरंगों से तरंगित लाज के उत्पन्न होते ही रस का निरन्तर परिवर्द्धन होता रहता है—दर्पण में प्रतिबिम्बित यह माधुर्य अत्यंत अपूर्व है। भारतेन्दु के शब्दों मेंः—

प्यारी लाजन सकुची जात ।
ज्यों-ज्यों रति प्रतिबिम्ब सामुहे आरसि माँह लखात ।
कहत लाख यहि दूर राखिये बलकरि कर्षत गात ।
''हरीचंद'' रस बढ़त अधिक अति ज्यों-ज्यों तीय लजात ।।६२।।

—भारतेन्दु ग्रंथावली, राग संग्रह पृ० ४५८

प्रियतम के संयोग में लज्जा को स्थान नहीं रहता। तनिक देर के पश्चात्, संयोगिनी राधिका की लज्जा समाप्त हो जाती है और वे रसिकों से दृश्यमान संयोग माधुर्य के इन अपूर्व क्षणों में आनंद से विभोर होकर अपने प्रियतम से यह हठ करती है कि आज मैं उतने सभी कार्य करूँगी जितने आप मेरी प्रसन्नता के हेतु करते हैं। कृष्ण बनकर तुम्हें मनाऊँगी, अपलक नेत्रों से निहारूँगी, झगड़ूँगी तथा समय जानकर आलिंगन भी करूँगी, यथा—

प्यारे आजु अनुपम ख्याल करौंगी।
नख शिख लौं पट भूषण अपने तिहारे अंग धरौंगी।
साँच कहति हूँ प्रकट देखियों तुमरे हौं पहरौंगी।
मैं सिर मुकुट चन्द्रिका तुम सिर या विधि चित्त हरौंगी।
आप मान करिकै विराजियौ हौं तब चरण परौंगी।
लाख बार किन नाहीं करिहों ढिग ते पल न टरौंगी।
जैसे तुम नित झगरत मो संग तैसेई मैं झगरौंगी।
होरासखोहित समय जानि उर गहि भुज अंक भरौंगी।।४।।

—अनुभव रस पृ०२१३

संयोगिनी राधा की आकुलता—

आह्लादिनी शक्तिस्वरूप प्रिया जी की अभिलाषा के वशीभूत मदनमोहन प्यारी के आग्रह को स्वीकार करते हुए मानकर बैठते हैं।

स्नेहातिरेक से तभी राधा व्याकुल हो जाती हैं। वे अपने प्राण प्यारे के क्षणिक वियोग को भी नहीं सह पातीं और रसिक कवि के शब्दों में अपने श्यामसुन्दर से कह उठती हैं—

मति ब्रज श्याम हंसावो जी प्यारे।
हाथ जोरि पिया विनती करति हूँ तनक हिये किन लावौ जी प्यारे।
चलिये सदन मदन दल मिलियै जिन जियरा तरसावौ जी प्यारे।
सामरी सुरति और लटक मुकुट की दृग भरि नित ही दिखावौ जी प्यारे।
हम अधीन अबला सुनि प्रीतम दीन जानि अपनावौ जी प्यारे।
लगन लगी तुम संग नंदनंदन चरण शरण लिपटावौ जी प्यारे।
क्षण अन्तर अब सहि न परत है निपटहिं निकट बसावौ जी प्यारे।
हीरासखीहित चूक माफ करि निज पद टहल बतावौ जी प्यारे।।४।।

—अनुभव रस प० २३७

कितनी रहस्यमय है यह दम्पति किशोर की लीला ? राधा का प्रस्ताव और राधा का दैन्य या तो प्यारे कृष्ण ही जान सकते हैं या फिर उनके वे रसिक भक्त जो निरंतर इस रहस्यमय आनंद का रस पान करते हुये अपना दिव्य जीवन वृन्दावन की सुरम्य वनस्थली में व्यतीत करते हैं। माधुर्योपासकों के वर्णन के अनुसार श्याम रंग में मतवाली राधा निकुंज महल में कुंजविहारी प्राणनाथ के कंठ में उमंग के साथ लिपट कर अपने उस क्षणिक प्रेम-वियोग की कसक को मिटाती हैं। रति-लीला में प्यारे को पराजित करती हैं और अपने नित्य संयोग के लीलापरक वियोग का बदला चुका लेती हैं। इस मधुर बेला में प्रियतम के द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर वे राधिका जी नहीं दे पातीं और घूँघट की ओट में अपने मुख की कांति को छिपा लेती हैं। इस प्रकार प्रेम रस में सराबोर होने के पश्चात् प्रिया जी जब निकुंज महल के बाहर आती हैं, तो रसिक भ्रमर उनके कमल मुख के रस को पान करने का प्रयास करते हैं। इस समय राधा के नेत्रों में रस, अंग पर अस्त-व्यस्त वस्त्र और वक्षःस्थल पर प्रियतम द्वारा किया हुआ नखक्षत अपने सौन्दर्य की रश्मियों से उपासक को रसमत्त कर देता है। राधा, बाहर आते ही नित्य सखी जनों को अपनी रस केलि की कहानी सुनाकर रसमग्न कर देती हैं और चित्र के समान द्वार के सहारे खड़ी होकर अपने बाजूबन्द को बाँधने लगती हैं, यथा—

आजु केलि मन्दिर सों निकसि नवेली ठाढ़ी,
भौंर चारों ओर रहे गंध लोभि बार के।
नैंन अलसाने घूमैं पटहु परे हैं भू मैं,
उर में प्रगट चिन्ह पिव कंठहार के।
हरीचंद सखिन सों केलि की कहानी कहै,
रस में मसूसी रही आलस निवार के ॥६३॥
साँचे में खरी सी परी सी सी उतरी सी खरी,
बाजूबंद बाँधै बाजू पकरि किवार के।

—भारतेन्दु ग्रंथावली—प्रेममाधुरी पृ १६७

माधुर्योपासक यहीं पर अपने प्यारे के ऊपर सब कुछ न्यौछावर कर सदा के लिए उनका हो जाता है।

वियोग-वर्णन में कृष्ण:—

रसिक-भक्ति-परंपरा के अनुसार राधा-माधव युगल के प्रेम में तन्मय होकर इस काल के भक्तों ने भी उनकी प्रकट लीला की महत्ता के प्रतिपादन के हेतु ही वियोग-माधुर्य की अभिव्यंजना प्रस्तुत की है। प्रिया जी को क्षण मात्र भी अपने निकट न पाकर वे रास-विहारी विरहजन्य वेदना से अधीर होकर अपनी प्रिया जी की परमप्रिय सखी ललिता से पूछ उठते हैं और कहते हैं कि जो मुझे राधा प्यारी का संयोग करा दे उसे मैं अपना पीताम्बर, वंशी आदि सब कुछ दे डालूँगा। विरह की इस एकाग्रता में माधव के नेत्रों के समक्ष वृषभानु-लली की झाँकी विद्यमान रहती है और वियोग का अनुभव होते ही—

सखिन सों पूछत कित है प्यारी।
ललिता तू मोहिं आनि मिलावै हौं तेरी बलिहारी।
दैहौं आपुनों पीत पिछौरा वंशी रतन जराई।
"हरीचंद" इमि कहत राधिका ध्यान माँह फिर आई ॥५॥

—भारतेन्दु ग्रंथावली द्वि० भा०—तन्मय लीला पृ० ६५७

कृष्ण की अधीरता एवं आकुलता:—

राधा के प्रेम-रस में मत्त वियोगी कृष्ण को इस समय स्वयं का ज्ञान नहीं रहता। सखियाँ उन्हें धीर बँधाती हैं, सान्त्वना देती हैं और लज्जित भी करती हैं किन्तु आकुल माधव उनसे कहने लगते हैं :—

लाज सों मेरौ काज कहा री।
बिन प्यारी मोंहि कल न परत है, इक-इक पल बीतत है भारी।
ऐसी कहा चूक भई मो पै तुम सजनी सब देखनहारी।
नारायण मोंहि बेगि बताओ क्यों रूठी वृषभानु दुलारी ॥६॥

—ब्रजविहार पृ० ९०

कृष्ण ने ठीक ही कहा है, प्रेम के इस पवित्र प्रान्त में लज्जा स्वयं लज्जित हो जाती है और प्रेमी स्वयं अपनी ओर देखने लगता है। नंदनंदन की भी दशा इस वियोग के कारण बड़ी विचित्र सी हो गयी है। प्यारी के बिना उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता, चारों तरफ़ आँख पसार कर देखते हैं, किन्तु प्रिया जी दृष्टिगोचर नहीं होतीं। हृदय वेदना की अग्नि से दग्ध हो रहा है और मन समझाने से भी धैर्य धारण नहीं करता—

मोहि प्यारी बिन कछु न सुहावे।
इत उत हेरत हूँ सुनि सजनी कितहू नजरि न आवे।
पावक की सी ताप उठत हिय उन बिन कौन बुझावे।
हीरासखीहित प्राण प्रिया मन तो बिन को समुझावे।

— अनुभव रस पृष्ठ ६९

विरह की परिपूर्ण स्थिति में राधिकारमण पुनः विशाखा से कहते हैं—

विशाखा गुण मानूंगो तेरौ।
दुख में सुख सरसाई अलीरी यही निहोरो मेरौ।
अब बिन प्यारी जू के देखें सब जग मांहि अंधेरौ।
हीरासखीहित कृपा कीजिये जानि आपनो चेरौ।

—अनुभव रस पृष्ठ ६९

प्रकट लीला विशेष के कारण प्रिया जी के वियोग से उत्पन्न जिस दैन्य का प्रकाशन माधव सखी के समक्ष करते हैं, उससे रसिक जनों के हृदय में भी राधा आह्लादिनी का आह्लाद निरंतर विकसित होता रहता है।

प्रिया जी की सखी ने प्यारे की विरहजन्य अवस्था को देखा। दया आई, वह राधा प्यारी के पास गई और प्रियतम की दशा का वर्णन करते हुये कहने लगी—

मान छाँड़ि किन चलौ मानिनी देखि भलौ मोहन कुमिलाने।
ऐसी चूक परी कहा उनपै कै कछु बातन में इठलाने।
खान न पान प्रान सुधि नाहीं लटपटी तन सौधि भुलाने।
हीरासखीहित कहत तजौ हठ वेगि मिलौ अति ही अकुलाने ॥२॥

—अनुभव रस पृष्ठ ६६

स्वामिनी के वियोग में अपने इष्टदेव को व्याकुल देखकर रसिक जनों का धैर्य भी छूट जाता है और नेत्रों से अश्रुप्रवाह होने लगता है।

वियोग-वर्णन में राधा आदि गोपियाँ:—

जिस प्रकार रसिक जन बिना प्यारे कृष्ण के प्रतिक्षण व्याकुल होकर उनके नाम की रट लगाया करते हैं, उसी प्रकार वृषभानु पुत्री राधिका भी अपने प्रियतम के वियोग में दग्ध होती हैं। राधा के बिना कृष्ण का और कृष्ण के बिना राधा का वियोग में धैर्य खो बैठना स्वाभाविक ही है। प्रकट लीला विशेष के द्वारा अपने मधुर रसोपासकों के हृदय में अनन्य भावना

उत्पन्न करके उन्हें अपना लेने की दृष्टि से राधा-माधव युगल ने वियोग की सरस सरिता को प्रवाहित किया है।

राधा की आकुलताः--

नित्य संयोगिनी प्रिया जी जब अपने प्रियतम के वियोग में उसी लीला विशेष के कारण व्याकुल हो जाती हैं, तो रसिकों से फिर मौन नहीं रहा जाता और वे गा उठते हैं:—

विरह की पीर सही नहिं जाय।
कहा करौं कछु बस नहिं मेरो कीजै कौन उपाय।
हरीचंद मेरी बाँह पकरि के लीजै आय उठाय ।।२।।

—भारतेन्दु ग्रंथावली प्रेम तरंग पृ० १३९

रसरूप प्यारे मदनमोहन के वियोग की पीर का सहन करना कठिन है। जिसने एक बार भी इस माधुर्यमयी छवि को देख लिया वह उसे अपनी आँखों में अविलम्ब बसा लेना चाहता है। नेत्रों में अपने प्रिय को बसा लेने के बाद फिर वे नेत्र किसी दूसरे को नहीं देखते।

प्रियतम की लजीली चितवन, रसमय वचन और यमुना तट का मधुर मिलन जब याद आता है, तो राधा प्यारी आकुल होकर कहने लगती हैं-

तो तेरे मुख पर वारी रे।
इन अँखियन को प्रान-प्रिया छबि तेरी लागत प्यारी रे।
तुम बिनु कल न परत पिय प्यारे बिरह वेदना भारी रे।
'हरीचंद' पिय गरे लगाओ पैयाँ परौं गिरधारी रे ।।२६।।

—भारतेन्दु ग्रंन्थावली द्वि० भाग पृष्ठ २७९

प्रियतम के आलिंगन की स्मृति से राधा के हृदय में उथल-पुथल मच जाती है। वेदना के कारण रात्रि में निन्द्रा भी नहीं आती और तारों की गणना करते-करते समस्त रात्रि व्यतीत हो जाती है। प्रभात होता है, राधा का धीर छूट जाता है और तब वे भूमि पर गिर ही पड़ती हैं, यथा—

पिया बिन कटत न दख की रात।
तारे गिनत लेत करवट बहु होत न कठिन प्रभात।
नैंनन नींद न आवत क्यों हू जियरा अति अकुलात।
'हरीचंद' पिय बिनु अति व्याकुल मुरि-मुरि पछरा खात ।।२७।।

—भारतेन्दु ग्रंथावली द्वितीय भाग पष्ठ ४००

वियोगिनी राधा की लालसाः—

वियोगिनी प्रिया जी का समस्त अंग प्यारे कृष्ण की स्मृति में शिथिल हो जाता है। बुद्धि कुछ सोच नहीं पाती, हँसी कभी आ नहीं पाती, सुख का सारा समाज नीरस प्रतीत होता है। प्रिया जी की प्रबल अभिलाषा है कि श्यामसुन्दर घर आवें, उन्हें अपनी रूप-सुधा का पान करावें और पुनः रसिकों के चित्त को चुरावें—

आइये मो घर प्रान प्रिया मुख चन्द्र दया करिकै दरसाइये।
प्याइये पानिय रूप सुधा को विलोकि इतै दृग प्यास बुझाइये।
छाइये सीतलता हरीचंद जू हा हा लगी हियरे की बुझाइये।
लाइये मोंहि गरे हँसि कै उर गीषमै प्यारे हिमन्त बनाइये ।।७।।

—भारतेन्दु ग्रंथावली द्वि० भा० पृ० ८२०

प्यारे के संयोग को प्राप्त करने की लालसा कभी नहीं मिटती और संयोग-सुख के रसास्वाद से भी कभी हृदय तृप्त नहीं होता। नेत्र निरंतर चकोर की भाँति मदनमोहन के मुख चंद्र को निहारने के लिये तरसते रहते हैं और प्राण प्राणनाथ के बिना रह नहीं सकते। अस्तु, राधा कहती हैं :—

रे निरमोही छवि दरसाइजा।
कान चातकी श्याम विरह घन मुरली मधुर सुनाइजा।
'ललित किशोरी' नैन चकोरनि दुति मुख चंद दिखाइजा।
भयो चहत यह प्राण बटोही रूसे पथिक मनाइजा ।।१०८।।

—अभिलाष-माधुरी पृष्ठ १२६

प्रिया जी की इस विरहानुभूति से साधक के हृदय में एक प्रकार का कंप उत्पन्न हो जाता है और उसकी वृत्तियाँ भी प्रियतम कृष्ण की स्मृति में लीन हो जाती हैं।

वियोगिनी राधा की चिन्ताः—

मिलन की मधुर चिंता में सर्वदा कृष्ण को स्मरण करती हुई वियोगिनी राधिका के नेत्रों के समक्ष क्षण-क्षण में प्रभु की मधुर मुस्कान और तिरछी चितवन की छवि छा जाती है। वे तभी अपनी प्रिय सखी से कहती हैं :—

मैंने देखी री आज मोहन की हँसन।
अधरन पै अद्‌भुत अरुणाई, मुतियन की लर पाँति दसन।

राधा की अनन्यताः—

राधा तो कृष्ण की कहलायेंगी ही, चाहे कोई कुछ भी कहा करे। कृष्ण की प्यारी छवि के अतिरिक्त अब उनके नेत्रों में कोई अन्य मूर्ति नहीं समा सकती। उनके मुखारविन्द की शोभा, मधुर मुरली की ध्वनि, रास का नृत्य और यमुना-तट का विहार राधा के हृदय में स्मृति द्वारा कंपन उत्पन्न कर देता है और वे अपनी सखी से कहने लगती हैं—

सखि सुन्दर श्याम सलोना।
कोयन चितै विहँसि मुसकान्यो चितवन में कछु करि गयो टोना।
जब तें देखी ललित माधुरी अनरस लगत अलोना।
मन तो अब चितचोर सों अट्क्यो होनी होय सो होना ॥६४॥

—अभिलाष-माधुरी पृ० २२४

श्यामसुन्दर के प्रति अनन्य भावना से सराबोर राधा जब उनके वियोग को नहीं सहन कर पातीं, तो उनके गुणों का स्मरण करने लगती हैं। इस चिंतन में प्रेम की कठिनता का अनुभव उन्हें होता है, किन्तु-कृष्ण प्रेम की अनन्यता ने उनके हृदय में प्रिय संयोग के हेतु एक तड़पन पैदा कर दी है। श्याम की मनोहर मूर्ति को वे भुला नहीं सकतीं, यथा—

अरी मैं तलफत नेह नवीन लई मेरी सुधि-बुधि सगरी छीन।
यह दुख जस तस विदित तुमहिं सब दृगन पलक तजि दीन।
रहीं लुभाय मनोहर मूरति मनमोहन रसभीन।
तजि लिहाज हठ करत मिलन हित होन चहति लवलीन।
बैरिनि भई अरी इन अँखियाँ जिन यह गति मम कीन।
गोवर्धन प्रभु विलग अली गति विलग नीर जिमि मीन ॥२॥

—नि० मा० पृ० ७२०

वियोगिनी राधा का उन्माद—

नित्य संयोगिनी राधा की प्रकट लीला विशेष के कारण उत्पन्न, वियोग दशा को देखकर ललितादिक का हृदय उत्साह से भर जाता है, किन्तु राधा प्रेम के रंग में ऐसी सराबोर हैं कि उन्होंने स्वयं को घनश्याम समझ कर राधा नाम का परित्याग ही कर दिया है। कुंज के मध्य माधव की भाँति ही राधा की समस्त चेष्टायें एक अपूर्व माधर्य के साथ प्रकट होती हैं, यथा—

राधे भईं आपु घनश्याम ।
आपुन को गोविन्द कहत हैं छाँड़ि राधिका नाम।
वैसेइ झुकि झुकि के कुंजन मैं कबहुँक बेनु बजावें।
कबहुँ आपनो नाम लेइ कै राधा राधा गावें।
कबहुँ मौन गहि रहत ध्यान करि मूँदि रहत दोउ नैंन।
'हरीचंद' मोहन बिनु व्याकुल नेंकु नहीं चित्त चैन ।।२।।

— भारतेन्दु ग्रंथावली द्वि० भा० पृ० ६५६

चित्त की इस बेचैनी में श्याम-रँगीली राधा को सब कुछ श्याममय प्रतीत होने लगता है। इसका अनुभव करते हुए भक्त कहता है—

श्याम-विरह में सूझत सब जग, हमको श्यामहिं श्याम हो इकरंगी।
जमुना श्याम गोबरधन श्यामहिं श्याम कुंज बन धाम हो इकरंगी।
श्याम घटा पिक मोर श्याम सब श्यामहिं को है काम हो इकरंगी।
''हरीचंद'' याही तें भयो है श्यामा मेरो नाम हो इकरंगी ।।८५।।

—भारतेन्दु ग्रंथावली पृ० ५१७

समाधि की यह अवस्था जब क्षण भर में समाप्त हो जाती है, तो प्रिया जी प्यारे के वियोग में पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं। श्वासों की गति अवरुद्ध हो जाती है और वे उपायहीन हो जाती हैं। अपने काव्य में रसिक प्रेम के इस आदर्श का चित्रण कर प्रेम-साधना के मार्ग में मतवाले होकर निकल पड़ते हैं। राधा-कृष्ण की यह प्रकट-वियोग लीला भक्तों के रसास्वाद के लिये ही होती है, वैसे तो राधा-कृष्ण नित्य संयोगी हैं।

———

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी में कृष्ण-भक्त कवियों की माधुर्यात्मक प्रपत्ति

●

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की माधुर्यात्मिक प्रपत्ति

प्रपत्ति का स्वरूप

प्रियतम कृष्ण स्वयं आनंदसुधासागर और आनंदस्वरूप हैं। ऐसे आनंदधाम की ओर उन्मुख होना ही भक्ति है और उनकी इच्छा पर अपने आपको छोड़ देना ही प्रपत्ति है। वस्तुतः प्रपत्ति का अर्थ प्र-प्रकर्षेण पत्तिः पदनं भगवान की ओर चलना है तथा आत्मन: अपने आपको भगवान में निक्षेप नितरां क्षेपः एकदम डाल देना आत्मनिक्षेप है। पांचरात्र-विष्वक्सेन संहिता में कहा गया है कि भगवत् सेवा रूप प्राप्य वस्तु की प्रबल आकांक्षा वाले विभिन्न उपायहीन अधिकारी के निवेदन में पर्यवसित होने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रपत्ति का रूप है। भगवान को पाने की उत्कट अभिलाषा रखने वाले अधिकारी व्यक्ति के हेतु प्राप्ति रूप परिणाम में उन्हीं को सिद्धोपायरूप में समझ करके आर्त होकर नित्य सेवा में स्वीकृत करने के हेतु निरंतर उनसे प्रार्थना करते रहने का नाम ही प्रपत्ति है।[1] यथार्थ रूप में यह वह राजपथ है जहाँ अंधा भी दौड़ता हुआ बेखटके जा सकता है।

प्रपन्न को अपने इष्टदेव से मिलने की निरंतर आकुलता बनी रहती है। मार्यादिकी प्रपन्न भक्त तो यह जानता है कि प्रभु मेरे हैं, किन्तु अनुग्रह प्रपन्न की दृष्टि में 'मैं भगवान का हूँ, यह भाव सर्वदा बना रहता है, इतना ही नहीं यह प्रपन्न यह भी समझता है कि मेरी रक्षा का उत्तरदायित्व इष्टदेव

---

१ बुद्धिरध्यवसायात्मा याञ्चापर्यवसायिनी।
प्राप्येच्छोरनुपायस्य प्रपत्तेरूपमिष्यते।
अनन्य साध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेको पायतायां च प्रपत्तिः शरणागतिः॥

—पांचरात्र-विष्वक्सेन संहिता साधनांक पृ०६२

पर ही है। मार्यादिकी प्रपन्न भक्त यथार्थ में बन्दरी का वह बालक है, जो स्वयं अपनी माता को दृढ़ता के साथ पकड़े रहता है यद्यपि बानरी माँ को उसकी चिंता नहीं रहती और वह अपने खेलकूद में पूर्ववत् ही प्रसन्न रहती है तथा बालक स्वयं ही अपने गिरने पड़ने की सम्हाल रखता है। किन्तु अनुग्रह प्रपन्न को भगवान ठीक उसी प्रकार पकड़ते हैं, जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे को पकड़कर उसका योगक्षेम वहन करती है। यहाँ शिशु को किंचित् मात्र भी चिंता की आवश्यकता नहीं होती। शिशु भले ही गलती कर जाय, किन्तु माँ भूल नहीं कर सकती। भगवान की तो यह प्रतिज्ञा है कि जो एक बार भी शरणागत होकर हृदय से यह कहता है कि हे नाथ! मैं आपका हूँ— मुझसे रक्षा के लिए प्रार्थना करता है, मैं उसे अभय कर देता हूँ।[1] प्रपन्न की अवस्था तो पत्नी की सी होती है, नौकर या सेवक के समान नहीं। स्वामी के अप्रसन्न होने पर सेवक तो कहीं भी जा सकता है, किन्तु पत्नी को पति के सिवाय दूसरा आश्रय कहाँ है? इसी प्रकार प्रपन्न भी अपने सर्वस्व-इष्टदेव को त्याग कर दूसरी जगह कैसे जा सकता है? जिस प्रपत्ति का यह ऐश्वर्य हो, उसी के सम्बन्ध में भगवान शंकर पद्मपुराण के उत्तरखंड में अपनी प्रियतमा पार्वती जी से कहते हैं कि "कर्मयोग ज्ञानयोगादि निष्ठा वाले साधक, सिद्धोपाय निष्ठ भगवतशरण-वरण करने वाले की करोड़वीं कला की भी समता नहीं कर सकते।[2] इष्टदेव पर तथा अपनी प्रपत्ति साधना पर साधक का महाविश्वास होना वांछनीय है, क्योंकि विश्वास के अभाव में प्रपत्ति साधक को तत्क्षण त्याग देती है।

प्रपत्ति का एक कण भी यदि साधक को प्राप्त हो जाय, तो जन्म-मृत्यु के भीषण भय से छुटकारा हो जाता है और समग्र प्रपत्ति यदि प्राप्त हो गई, तो फिर प्राप्त करने के लिये शेष कुछ नहीं रहता। इस स्थिति में पहुँचकर प्रपन्न की दृष्टि में सर्वोत्कृष्ट फल युगल सरकार की सेवा ही है। समस्त

---

१ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रसादं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
—श्वेताश्व० ६-१८

२ सत्कर्म निरताः शुद्धा सांख्ययोगविदस्तथा।
नार्हन्ति शरणस्थस्य कलां कोटितमामपि।
—पद्मपुराण, उत्तर खण्ड

सांसारिक तथा अलौकिक सभी लक्ष्य प्रपत्ति से उपलब्ध हो जाते हैं। जब प्रपन्न चातक पक्षी की भाँति दृढ़ निष्ठावाला हो जाता है, तभी प्रपतव्य (शरण्य) में भी कपोत की भाँति सर्वस्व छोड़कर शरण में आये हुए की रक्षा करने की दृढ़ता होती है। उपायांतरों में निर्लिप्त रहने वाला अर्थात् आसक्ति रहित और प्राप्य वस्तु में रुचिवान् पुरुष ही इस प्रपत्ति का सच्चा हक़दार है। वर्णाश्रम का यहाँ कोई नियम लागू नहीं होता। समस्त वर्ण, आश्रम के लोग तथा स्त्री, शूद्र अन्त्यजादि प्रपन्नता को धारण कर सकते हैं—श्री जी की यही आज्ञा है[1]— भगवान के चरण-कमल में अखंड प्रेम रखने वाले सभी जन (चाहे वे समर्थ हों चाहे असमर्थ), भगवच्छरणागति के नित्य अधिकारी हैं। केवल दीनता की आवश्यकता है। जिस दैन्य को प्रियतम इष्टदेव चाहते हों वही दैन्य प्राप्त करने का सर्वप्रथम प्रयास होना चाहिये, तभी यथार्थ प्रपन्नता प्राप्त होगी।

शरणागति शब्द को प्रपत्ति का पर्यायवाची ही समझना चाहिये क्योंकि निक्षेप, न्यास, सन्यास, त्याग एवं शरणागति शब्द प्रपन्नों की दृष्टि में एक ही हैं। अनुग्रह प्रपन्न को तो श्रीपति अपनी ओर ऐसे खींच लेते हैं जैसे चुम्बक जड़ लोहे को बरबस अपनी ओर खींच लेता है।[2] प्रपन्न जब निवेदन करता है, तो यही कि मुझ शरणागत को अपनी ओर खींचिये—श्री मद्-भागवत् पुराण के सप्तम स्कन्ध में प्रहलाद जी ने अपने प्रभु से यही कहा था।[3] जिस शरणगति का संकेत ऊपर दिया गया है, वह भी अपने में परिपूर्ण

---

१ अनन्योपायसक्तस्य प्राप्येच्छोरधिकारिता।
प्रपत्तौ सर्व वर्णस्य सात्विकत्वादियोगतः।
सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकाम फलप्रदा।
इति सर्वफल प्राप्तौ सर्वेषां विहिता यतः।

—लक्ष्मीतंत्र संहिता साधनांक पृ० ६६

२ आश्रितमात्रं पुरुषं स्वाभिमुखं कर्षति श्रीशः।
लोहमपि चुम्बकाश्मा संमुखमात्रं जड़ं यद्वत्।

—श्री शंकराचार्यस्य प्रबोधसुधाकरात् २५१

३ स त्वं हि नित्य विजितात्मगुणः स्वधाम्ना कालोवशीकृतविसृज्य विसर्गशक्तिः।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम्।

—श्रीमद्भागवत ७-९-२२

तथा रहस्यात्मक है। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने 'शरण' शब्द की व्याख्या तीन प्रकार से की है। उनका कथन है कि भगवान की शरणागति अधिकारी भेद तथा साधन-अभ्यास के तारतम्य से तीन प्रकार की है, यथा—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः।

उपर्युक्त श्लोक में तीन शब्द विचारणीय हैं—

१—तस्यैवाहम्—मैं उस प्रभु का ही हूँ।—मृदु भगवत शरणागति।

२—ममैवासौ—मेरा ही वह प्रभु है। मध्य शरणागति।

३—स एवाहम्—मैं ही वह प्रभु हूँ। सर्वोत्तम शरणागति।

जैसे सागर की लहरें विख्यात है, लहरों का सागर नहीं कहा जाता, क्योंकि लहरें सागर के ही अधीन रहती हैं—सागर न हो तो लहरें नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार जीव प्रभु के हैं—ऐसा विख्यात है, जीवों के प्रभु नहीं कहा जाता। यथार्थ में जीव प्रभु के अधीन है, प्रभु जीव के अधीन नहीं है। अतः मैं उस प्रभु का हीं हूँ— इस प्रकार के भाव का नाम मृदुभगवतशरणागति है।

जिस समय भक्त-प्रवर विल्वमंगल जी वृन्दावन को गमन कर रहे थे कि मार्ग में बालरूप धारण कर कृष्ण मिले तथा सहारा देकर कुयें में गिरने से भी बचाया—ऐसा भी कहा जाता है, किन्तु जब वे बलपूर्वक हाथ छुड़ाकर चल दिये तब विल्वमंगल ने तुरंत कहा कि हे प्रियतम! यह तुम्हारा आश्चर्य-जनक पराक्रम नहीं हो सकता कि आप बलपूर्वक बाँह छुड़ाकर चल दिये। आपकी पराक्रम तो तब था जब आप मेरे हृदय से निकल कर भाग जायें अर्थात् हे प्रभु! आप तो मेरे ही हैं—इस प्रकार के भाव का नाम मध्य शरणागति है।[1]

'मैं वासुदेव हूं—' जिसका ऐसा भाव हो गया हो उसे तुम दूर से ही त्याग देना, क्योंकि वहाँ तुम्हारा जाना अनुचित है—[2] विष्णुपुराण में

---

१ हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते।

—भक्तप्रवर विल्वमंगल कृत

२ सकलमिदमहं च वासुदेवः, परमपुमान् परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते, हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात्।

—विष्णुपुराण ३, ७, ३२

यमराज ने अपने दूतों से यही कहा था। सब कुछ वासुदेव ही हैं—इस प्रकार की दृढ़ धारणा सर्वोत्तम शरणागति है। अनुग्रह प्रपत्ति या शरणागति की जो चर्चा ऊपर की गयी, उसी के ये तीन अंग हैं। क्योंकि इसमें प्रपन्न या शरणागत अपने आपको प्रियतम इष्टदेव को सौंपकर सर्व प्रकार से, सर्व उपाय से रहित हो जाता है और भगवान की कृपा-कटाक्ष की चिन्तना करता है—इसे दृप्ता शरणागति भी कहते हैं। यहाँ पर आत्मसमर्पण का बड़ा महत्व होता है—बिना इसके साधना आगे नहीं बढ़ सकती। भगवान श्यामसुन्दर की प्रपत्ति साधना के लिये यहीं पर आत्मसमर्पण की प्रेरणा उनकी आह्लादिनी शक्ति स्वरूपा श्रीराधा से ग्रहण करना चाहिए। बिना इनके आश्रय के कृष्ण-प्रपत्ति संभव नहीं होती।[1] इस स्थिति में प्रपन्न की चित्तवृत्ति अपने आराध्यदेव के चरण-कमल में वैसे ही आकर्षित हो जाती हैं, जैसे अंकोलवृक्ष के बीज मूल वृक्ष से, सुई चुम्बक से, पतिव्रता अपने पति से, लता वृक्ष से और नदी सागर से मिल जाती है। जो प्रपन्न या शरणगत निर्भय होकर, विघ्न बाधाओं की चिंता न करते हुए भगवान के समीप चला जाता है, उसे वे केवल स्पर्श ही नहीं करते वरन् अपनी गोद में उठाकर अपने को धन्य मानते हैं। उस समय शरणागत भी उनके स्पर्श को प्राप्त कर उनकी कृपा-कटाक्ष के द्वारा अपने को निर्मलतम अनुभव करता है और तत्क्षण से ही उसका हृदय प्रभु का स्थायी निवास स्थल हो जाता है। इतना ही नहीं प्रीति से सराबोर होने के कारण उसके नेत्रों से प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। श्रीमद्भागवत में प्रहलाद की यही स्थिति हो गई थी।[2] इस स्थिति में पहुँचते ही प्रपन्न विरक्त हो जाता है, क्योंकि जब स्वयं को ही उसने समर्पित कर दिया, तो उसके हृदय में आकांक्षा उठने का प्रश्न ही नहीं होता। महाभारत में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं उद्धव जी से कहते हैं कि जिन भक्तों ने

---

१ श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये।

—छान्दोग्योपनिषद् ८–१३–१

२ स्वपादमूले पतितं तमर्भकं विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः।
उत्थाप्यतच्छीर्ष्ण्यदधात्कराम्बुजं कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम्
स तत्कर स्पर्शधुताखिला शुभः स पद्यभिव्यक्त परात्मदर्शनः।
तत्पाद पद्मं हृदि निर्वृतो दधौ हृष्यत्तनु क्लिन्नहृदश्रुलोचनः।

—श्रीमद्भागवत सप्तम् स्कंध

मेरे प्रति अपना आत्मसमर्पण कर दिया है, वे मुझे छोड़ ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, पाताल का साम्राज्य, योग सिद्धियाँ—यहाँ तक कि सायुज्य मोक्ष भी नहीं चाहते। [१]

बर्फ से आवृत पर्वत जिसके महत्व का गान करते हैं, अपार जलराशि से युक्त सागर जिसकी भक्ति की व्याख्या करता है और ये असीम दिशाएँ जिसकी विशालता की प्रतीक हैं, उसी के प्रति प्रपन्न होना श्रेयस्कर है। अत्यंत प्रबल आकांक्षा भगवान के नित्यकैंकर्य को प्राप्त करने की प्रपन्न में होती है—श्री रामानुजाचार्य के शरणागति गद्य में इसका अपूर्व प्रत्यक्षीकरण हुआ है, वे कहते हैं—भगवान के युगलचरणारविन्दों के प्रति पारमार्थिक अनन्यभावापन्न, शाश्वत पराभक्ति, परज्ञान एवं परमभक्ति से परिपूर्ण निरंतर उज्ज्वलतम, अन्य प्रयोजन से रहित, असीम, निरतिशय, अत्यंत प्रिय भगवद्‌बोधजनित-अनन्त अतिशय प्रीति से उत्पादित, सभी अवस्थाओं के अनुरूप, सम्पूर्ण दास्यभाव-विषयक एकमात्र अनुरागमय नित्य कैंकर्य की प्राप्ति की अपेक्षा से पारमार्थिक भगवच्चरणारविन्द शरणागति मुझे निरंतर यथार्थ रूप से प्राप्त हो। तुम्हें भी प्राप्त हो। उसी से सब कुछ सम्पन्न होगा। [२]-यह नित्यकैंकर्य मुझे प्राप्त हो गया—इस भावना का उदय तभी होगा, जब साधक या प्रपन्न के हृदय में मन-समर्पण के लिये एक तड़प उत्पन्न हो जाय और साधक यह कह उठे—

---

१ न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ठ न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीर पुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यतः।
—महाभारत

२ पारमार्थिक भगवच्चरणारविन्द युगलैकांतिकात्यन्तिक परभक्ति परज्ञान परमभक्ति कृतपरिपूर्णानवरतनित्यविशदतमानन्य प्रयोजनानवधिकातिशयाति प्रियभगवदनुभवजनितानवधिकातिशयप्रीतिकारिताशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिरूप नित्यकैंकर्य प्राप्त्यपेक्षया पारमार्थिकी भगवच्चरणारविन्द शरणागतिर्यथा वस्थिताविरतास्तु मे। अस्तु ते। तयैव सर्वं सम्पत्स्यते।

—शरणागतिगद्यम् (श्रीरामानुजाचार्य कृत)
पृष्ठ ७४२ संतवाणी अंक—गीताप्रेस, गोरखपुर

रत्नाकरस्तव गृहं गृहणी च पद्मा।
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधा गृहीतमनसेऽमनसे च तुभ्यं।
दत्तं मया मम मनस्तदिदं गृहाण।

इतना ही नहीं जिस प्रकार पक्षियों के पंखहीन बच्चे अपनी माँ की प्रतीक्षा करते रहते हैं, जिस प्रकार क्षुधा से पीड़ित बछड़े अपनी माता के दुग्ध-पान के हेतु आकुल रहते हैं एवं जिस प्रकार पति से बिछुड़ी हुई पत्नी अपने प्रवासी पति से मिलने के लिये आतुर रहती है, उसी प्रकार कमल नयन के सान्निध्य के लिये जब हृदय छटपटाये तभी नित्य प्रपन्नता की सार्थकता है।

प्रपत्ति के प्रकारः—

परमात्मा की शक्ति का नाम है माया। यह माया अपने बल से सभी को पराजित करती रहती है और स्वयं भगवच्छरणागति से ही पराजित होती है। अस्तु, साधक को भगवान का आश्रय ग्रहण कर अपने उद्धार का सारा भार उन्हें सौंपते हुये, समस्त धर्मों का त्याग करना चाहिए तथा अपने प्रियतम इष्टदेव के द्वादश गुणों का निरंतर चिन्तन करते रहना चाहिये:—

(१) वात्सल्य	(२) सौशील्य	(३) सौलभ्य
(४) स्वामित्व	(५) कारुण्य	(६) मार्दव
(७) सौहार्द	(८) शरण्यत्व	(९) कृतज्ञत्व
(१०) सत्य प्रतिज्ञत्व	(११) पूर्णत्व	(१२) औदार्य्य

अपने आराध्य देव के वात्सल्य का चिन्तन करने से अनुग्रह प्रपन्न को अपने अपराधों के उचित दंड की क्षमा प्राप्त हो जाती है। उनके सौशील्य का स्मरण करने से आश्रित को जातिहीनता का आभास तक नहीं होता अर्थात् नीच जाति हो नेके कारण भगवान की शरण योग्य नहीं हूँ–इस चिंता का निवारण हो जाता है। सौलभ्य का स्मरण करने से षडैश्वर्यपूर्ण भगवान को जिन्हें देवता भी पाने में असमर्थ हैं, पाना सुलभ हो जाता है। स्वामित्व के चिन्तन से प्रपन्न को अपनी अरक्षा का भय नहीं रहता अर्थात् भगवान मेरी रक्षा करेंगे ऐसी दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है। अपने इष्टदेव के कारुण्य की याद करते ही प्रपन्न 'भगवन मेरी उपेक्षा करेंगे' को यह भय नहीं रहता। हृदय की कोमलता के कारण अपने आश्रितों के दुःखों को देख सकने में असमर्थ होने के स्वभाव को मार्दव कहा जाता है—इस भय का निवारण इस

गुण का स्मरण करने से हो जाता है। अपनी शक्ति का अतिक्रमण कर दूसरों की रक्षा में लगना ही सौहार्द है। भगवान के इस गुण की याद करने से शरणागत की यह चिन्ता छूट जाती है कि भगवान अपने कार्यों को त्याग कर मेरी रक्षा कैसे करेंगे? ब्रह्मादि से लेकर स्थावर पर्यन्त के असाधारण उपाय होने का गुण 'शरण्यत्व' नाम से विख्यात है। समस्त साधनों से रहित होने के कारण प्रपत्ति में मेरा क्या अधिकार है—इस विचार से साधक की निवृत्ति इस गुण को स्मरण करते ही हो जाती है। किसी प्रपन्न की थोड़ी सेवा को बहुत करके स्वीकार कर लेना ही कृतज्ञत्व है। जो प्रभु अनन्त कोटि ब्रह्मांड के अधिपति हैं, वे मेरे पत्र-पुष्प कैसे ग्रहण करेंगे—इस भाव का अपहरण इस गुण की चिन्तना से तुरंत हो जाता है। अपने वचन का पालन करना ही सत्य-प्रतिज्ञत्व है। इस गुण का ध्यान करते से यह निश्चय हो जाता है कि प्रभु मुझे अभय कर ही देंगे। सर्वप्रकार से संपन्न होने के कारण प्रत्युपकार की अभिलाषा न रखना ही पूर्णत्व है। प्रभु की दया आदि के प्रत्युपकार के लिये मेरी सामर्थ्य कहाँ है? इस शोक का निवारण इस गुण से हो जाता है। स्वयं को भी समर्पित कर देने को औदार्य्य कहते हैं। मेरे इष्टदेव मेरे हार्दिक भाव को प्राप्त करावेंगे—इसका दृढ़ निश्चय उनके इस गुण को याद करते ही हो जाता है।[1] जिन्होंने शरणागति या प्रपत्तिमार्ग का सहारा लिया है, ऐसे साधकों को उपर्युक्त भगवत् गुणों की याद सर्वदा सर्वत्र करना चाहिए। अनुग्रह प्रपन्नों या शरणागतों की यह प्रपत्ति या शरणागति जिसके स्वरूप एवं महत्व का वर्णन किया गया, उसके छः प्रकार अहिर्बुध्न्य संहिता में बतलाये गये हैं,[2] यथा—

---

१ प्रपन्न सुरतरु मंजरी "श्री १०८ आचार्यवर सुन्दरभट्टाचार्य कृत संस्कृत भाष्य पृ० १०

२ षोढा हि वेद विदुषो वदन्त्येनं महामुने।
आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्यवर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधाशरणागति।

—अहिर्बुध्न्य संहिता ३७-२८-२९
(भक्ति का विकास पृ० २७२ पर उद्धृत)

१—आनुकूलस्य संकल्पः	(भगवान के अनुकूल कार्यों को करने का संकल्प)
२—प्रतिकूलस्यवर्जनम्	(भगवान के प्रतिकूल कार्यों का त्याग)
३—रक्षिष्यतीतिविश्वासः	(भगवान की रक्षा में विश्वास)
४—गोप्तृत्व वरणं	(भगवान की निरंतर प्रार्थना)
५—आत्मनिक्षेप	(भगवान की कृपा पर अपने को छोड़ देना)
६—कार्पण्य	(अपने शक्त्यभिमान—गर्व का नाश तथा सच्ची दीनता का उदय)

आनुकूलस्य संकल्पः—

गीता में उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण ने स्वयं अर्जुन को बतलाया है कि मैं सबका आत्मा हूँ ! अर्थात् समस्त चेतन और अचेतन विश्व में वे समाये हुये हैं ! अस्तु, जिस प्रकार एक ही परिवार के लोग एक दूसरे के अनुकूल कार्य करते रहते हैं, उसी प्रकार प्रपन्न को भी सभी की प्रशस्ति करते हुये अनुकूल कार्य भगवत्प्रीत्यर्थं करना चाहिएं। सनत्कुमार जी का भी यही वचन है।[1]

प्रातिकूलस्य वर्जनम् :—

प्रपन्न जब अनुकूलता का संकल्प कर लेता है, तो प्रतिकूलता का त्याग हो ही जाता है। जो बातें प्रपत्ति साधना में बाधक हों, उन्हें अविलम्ब त्याग देना ही प्रतिकूलता है। जैसे—

१—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि स्वकीय भाव का त्याग।

२—चेतनस्वरूप जीव की स्वतंत्रता के भाव का त्याग।

३—सद्गुरु एवं इष्टदेव को त्याग कर दूसरे की अधीनता की भावना का त्याग।

४—सभी आत्मीय भगवान के वश में हैं—इसमें सन्देह का त्याग।

५—श्रुति, स्मृति आदि प्रभु की आज्ञा न मानना—इसका त्याग।

---

१ आत्मौपम्येन सर्वेषामानुकूल्य विचिन्तयेत्।
एतद्व्रतं प्रपन्नस्य श्रेयः कूर्याज्जनार्दन।
प्रपन्नसुरतरु मंजरी पृ० ९७

६—प्रभु को छोड़ कर अन्य की उपासना—इसका त्याग।

७—असद् शास्त्रों की इच्छा करना—इसका त्याग।

उपर्युक्त प्रतिकूल भावनाओं को प्रथम प्रकार की प्रतिकूलता में समझना चाहिए और प्रपत्ति की अभिलाषा करने वालों को तुरन्त इन्हें छोड़ देना चाहिए। दूसरे प्रकार की प्रतिकूलता वह है जिसमें भगवान के स्वरूप पर ही आवरण पड़ जाय! जो भाव भगवान की प्राप्ति में बाधक हैं, उन्हें भी फौरन छोड़ देना ही कल्याणकारक है, जैसे—

१—भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति की गई प्रपत्ति की बराबरी अन्य देवताओं से करना—इसका त्याग।

२—श्रीकृष्णचन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवों में ब्रह्मत्व की भावना का त्याग।

३—भगवान के अवतार में मनुष्य की भावना का त्याग।

४—भगवान की प्रतिमा आदि में अनीश्वरता की भावना का त्याग।

५—भगवान की कथा वार्ता में होने वाली लौकिक बुद्धि का त्याग।

६—भगवान में गुण शक्ति की हीनता के भाव का त्याग।

७—भगवान के गुणों को मायिक मानने की भावना का त्याग।

८—शरणागति रूप साधन को लघु प्रयत्न जानना—इसका त्याग।

९—प्रपतव्य भगवान में अविश्वास—इसका त्याग।

१०—प्रभु की सेवादि में अपने को कर्ता समझना—इसका त्याग।

११—भगवान की शरणागति से विमुख पुरुषों के संग का त्याग।

१२—भगवान के भक्तों में जाति-भेद-भावना का त्याग।

प्रपन्न के लिए सप्त तथा द्वादश भावनाओं का तत्क्षण त्याग ही श्रेयस्कर है।

रक्षिष्यतीतिविश्वासः

श्री जी ने लक्ष्मीतंत्र संहिता में इन्द्र से कहा कि शरण्य प्रभु में समस्त शक्ति तथा सर्वदा कृपा गुण की पूर्ति होने से और उनके साथ जीव का सेव्य-सेवक भाव होने से (जो अनादिकाल से जुड़ा हुआ सम्बन्ध है) उनकी आज्ञानुसार गतिमान होने वाले हम आश्रितों की वे अवश्य रक्षा करेंगे—ऐसा अटल विश्वास ही समस्त दुष्कृत का विनाश करने वाला है। सयुक्तिक अनेक प्रमाणों से यह दृढ़ निश्चय करते हुये कि सर्वेश्वर ही सर्वप्रकार से

निरंतर रक्षक हैं, मनोवांछित फल की प्राप्ति के हेतु उन्हीं को साधन-उपाय जानना ही शरणागति का प्रमुख अंग है।[1] तात्पर्य यह है कि भगवान रक्षा करेंगे—ऐसा विश्वास प्रपन्न को करना ही चाहिये।

गोप्तृत्ववरणं:—

दया के सागर अर्थात् परम दयालु, सर्व प्रकार से शक्ति-सम्पन्न तथा समस्त देहधारियों के एक मात्र स्वामी होते भी प्रभु बिना निवेदन के रक्षा नहीं करते हैं, अस्तु निरंतर बुद्धि तथा मन को प्रार्थना में लगाना चाहिये। गोप्तृत्ववरणं का यही रहस्य है।[2]

आत्मनिक्षेपः—

अशरण शरण इष्टदेव की अनुकम्पा के अवलम्ब से ही प्रपत्ति साधना सिद्ध होगी—इस भाव को रखते हुये उनको आत्मसमर्पण कर देना ही आत्मनिक्षेप है। लक्ष्मी संहिता में इसे भी स्पष्ट किया गया है।[3]

---

१ शक्तेः सूपदत्वाच्च कृपायोगाच्च शाश्वतात्।
ईशेशितव्य सम्बन्धाद निशं प्रथमादपि।
रक्षिष्यत्यनुकूलान्न इति या सुदृढ़ामतिः।
स विश्वासो भवेच्छक् सर्वदुष्कृतनाशनः।
स्ववक्षा योग्यतां ज्ञात्वा प्रपत्तव्यस्य युक्तितः।
रक्षिष्यतीति विश्वासादभीष्टोपायकल्पनम्।

—लक्ष्मीतंत्रसंहिता—साधनांक कल्याण पृ० ६५

२ करुणावानपि व्यक्तं शक्तः स्वाम्यपि देहिनाम्।
अप्रार्थितो न गोपायेदिति तत्प्रार्थनामतिः।
गोपायिता भवेत्येवं गोप्तृत्व वरणं स्मृतम्।
याच्ञापर्यवसायित्वं प्रपत्तेरत इष्यते॥

—वही, (साध० कल्याण) पृ० ६५

३ प्रपत्तेस्तु प्रपत्तव्य प्रसादद्वारता तथा।
तेन संरक्ष्यमाणस्य फलं स्वाम्यवियुक्तता।
केशवार्पण पर्यन्ता ह्यात्मनिक्षेप उच्यते।
उपाये च फले चैव स्वप्रयत्न निवर्तनम्।
स्वाम्यायत्तमिति व्यक्तं निक्षेपस्यांगिता तथा।

—लक्ष्मीतंत्रसंहिता, (साध० पृ० ६५)

कार्पण्यः --

अपने कार्यों की असिद्धि में कर्तापन के अभिमान का नाश होते हुये दैन्य का उत्पन्न हो जाना ही कार्पण्य है। प्रयत्न से भी सफलता प्राप्त नहीं होती अपितु बाधायें उपस्थित हो जाती हैं और परिणाम भी बिपरीत होता है—इन सब बातों की निवृत्ति तथा आराध्यदेव की कार्यशक्ति पर विश्वास करते हुये साधक को दीनता धारण करना ही यहाँ श्रेयस्कर होता है।[1]

उपर्युक्त अभिव्यंजित प्रपत्ति के सभी प्रकार आर्तप्रपन्न के समक्ष एक साथ उदय हो जाते हैं और दृप्त प्रपत्ति में, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, उत्तरोत्तर ही आते हैं।[2] किन्तु सर्वस्व समर्पण करने की प्रधानता दोनों में ही निरंतर विद्यमान है, अन्यथा प्रपत्ति प्रपत्ति नहीं रह जाती है और इसके अभाव में प्रियतम का अनुग्रह प्राप्त करना भी असंभव हो जाता है।

माधुर्यात्मक प्रपत्तिः—

देहादि सर्वस्व समर्पण या आत्मसमर्पण की भावना का, जिसे आत्मा-निवेदन भी कहते हैं, उदय पत्नीभाव में ही होता है, सेवक भाव में नहीं—इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। माधुर्य के एक मात्र भण्डार हैं श्रीकृष्ण, यह स्मरण रखते हुए शरणागति ग्रहण करना चाहिये। सुन्दर गोपबालकों से आवृत समस्त कलाओं के आधार, रास मण्डल में लीला करने वाले, कामदेव से भी अधिक सुन्दर तथा समस्त देवताओं के पूज्य श्रीकृष्ण की ही शरण प्रपन्नों के लिए हैं, क्योंकि वे गोपियों के घनीभूत प्रेम हैं, यदुवंशियों के मूर्तिमान सौभाग्य हैं और श्रुतियों की अत्यंत गोप्य संपति भी हैं। उन्हीं के चरण-कमल से गिरती हुई मकरन्द की बूंदें ही यथार्थ में समस्त सुख तथा ऐश्वर्य का भण्डार हैं। अनुग्रह प्रपन्न इन्हें अपने हृदय में धारण करता है

---

१ अंगसामग्र्यसम्पत्तेरशक्तश्चापि कर्मणाम्।
अधिकारस्य चा सिद्धे र्देशकालगुणाक्षयात्।
उपायानैव सिद्ध्यन्ति ह्यपायबहुलास्तथा।
इति या गर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्पण्यमुच्यते।

—वही, पृ० ६५ साध०

२ आर्त प्रपत्ताविर्त्येषामंगानां सन्निधिस्तथा।
दृप्त प्रपत्ता वे तानि भविष्यन्त्युत्तरोत्तरम्।

—वही, पृ० ६५ साध०

माधुर्यमयी इस प्रपत्ति साधना में गृह, लज्जा, कुल, धर्म आदि सभी का त्याग करना पड़ता है और कहना पड़ता है कि श्रीकृष्ण स्वरूप ही केवल (शृंगार) माधुर्य का आश्रय है, सर्वरस का आश्रय है, सर्व भुवन का आश्रय है, सर्वजीवन का आश्रय है और मेरा भी परमाश्रय है। भक्त-प्रवर तथा अनन्य प्रपन्न विल्वमंगल जी ने भी उसी का आश्रय लिया था और कहा था, "मैं तो ऐसे प्रभु का आश्रय लेता हूँ, जिसके हस्तकमल में वेणु है, जिस वेणु से वे गोपियों को आकुल कर रहे हैं और स्वयं भी आकुल हो रहे हैं, जिसके अरुण चरण, कमलों ने श्वेतारुण पटल (गुलाब) की इस समय शोभा धारण कर रखी है, जिसके मधुर अधरों की उल्लसित कान्ति के द्वारा मुख-कमल सरस हो रहा है।[1] उनकी दृष्टि में यही आश्रय जीवन भी है और मरण भी। क्योंकि इस आश्रय से ही समस्त कामनाओं का नाश होकर भगवत्प्रीत्यर्थ कामनाओं का उदय होता है। भगवत्प्रीत्यर्थ कामनाओ के उदय हो जाने पर शरणागत कहता है कि हे गोपी-व्रत से आनन्दित रहने वाले। हे वरदेश्वर! हे जल क्रीडा में सम्यक् आसक्त तथा हे गोपियों के वस्त्रों को हरण करने वाले! प्रसन्न होइये। हे कदम्ब पर बैठने वाले! हे नर्मोक्ति के पंडित! आपकी वन्दना करता हूँ। हे गोपियों के स्तव से आत्मविस्मृत होने वाले! गोपिकाओं ने आप से वस्त्र माँगे थे। हे यमुना का स्रोत ही जिनका वस्त्र है ऐसी अर्थात् नग्ना, जलमग्ना, शोभायमाना, गोप कन्या के आकर्षण में लालस! हे शीतार्त यमुना से उत्थित उनके भाव से आनन्दित! हे स्कन्ध में उनके वस्त्र के धारणकारी! हे स्मितभाषी! हे गोपियों को नमस्कार के लिए आदेश देने वाले! हे उनके हाथों द्वारा वन्दित! हे गोपिकाओं के अंजलि जोड़ने के लिए प्रार्थी! हे गोपियों से नमस्कृत! हे गोपियों के वस्त्र देने वाले। हे गोपियों की कामना और कामनातीत वस्तु के दानी! हे गोपियों के चित्त के महान चोर! हे उनके काम-विष का उद्गारकारी सर्परूप! तथा हे गोपियों के भाव से विभावित! आप मुझे आपना गोपी-दास्य दीजिये। कृष्ण

---

१ पल्लवारुणपाणिपंकज संगिवेणुरवाकुलं।
कुल्ल पाटल पाटली परिवादि पाद सरोरुहम्।
उल्लसन्मधुराधर द्युति मञ्जरीसरसानन।
वल्लवीकुचकुम्भकुंकुम पंकिलं प्रभुमाश्रये।

—श्रीकृष्ण कर्णामृतम ९

के प्रति-माधुर्यमय प्रपन्न की यही वाणी होती है श्री सनातन गोस्वामिपाद कृत 'श्री कृष्ण लीलास्तव' दशम् स्कंध। श्री सनातन गोस्वामिपाद कृत 'श्रीकृष्ण लीलास्तव' दशमस्कंध!

जिस विशुद्ध आत्मसमर्पण की भावना की प्रधानता माधुर्यप्रपत्ति में है 'उसका ज्वलंत प्रमाण है—भागवत में वर्णित चीरहरण का प्रसंग। इससे स्पष्ट है कि भगवान का सान्निध्य शुद्धात्मा ही प्राप्त कर सकता है, त्रिगुणात्मक शरीर नहीं, तभी तो कृष्ण ने नग्न स्थिति में आकर ही गोपियों से वस्त्र ले जाने को कहा था। अनात्म उपाधियों में आसक्त रहने से प्रियतम से मिलन नहीं हो सकता, क्योंकि यह एक प्रकार का आवरण है। नंगे होने की लज्जा उसी को होती है, जो अपने को शरीर मानता है, आत्मा नहीं और साथ ही भगवान को भी शरीरधारी साधारण मनुष्य समझता है, परमात्मा नहीं। सारांश यह कि बिना अनात्म उपाधियों से विरक्ति पाये सच्चा आत्मनिवेदन नहीं हो सकता। सच्चे आत्म निवेदन के हेतु, चतुर गोपियों के मन की मनोरथ शय्या पर शयन करने वाले, कुंज-वन में बढ़ी हुई (विरह) अग्नि को पान करने वाले एवं श्री वृषभानु-किशोरी की अंगकान्ति से जिनके अंग प्रत्यंग चमत्कृत हो रहे हैं तथा जिनके नेत्रों में अंजन सौन्दर्य को बढ़ा रहा है—ऐसे ही श्रीकृष्ण को कोटिशः प्रणाम प्रपन्न करता है। माधुर्यमयी प्रपन्नता से सराबोर साधक ऐसे प्रियतम इष्टदेव श्रीकृष्ण से कहता है कि आप दर्शन देकर मेरी रक्षा तथा पालन करें, कैसा पालन? सर्वप्रकार से पालन, समस्त ओर से पालन, सब भावों से पालन, सभी रसों से पालन, सर्वकाल में पालन तथा सभी स्थान पर पालन। यह पालन नित्य दर्शन के अभाव में नहीं हो सकता। इतना ही नहीं यह पालन तभी होगा, जब प्रियतम श्रीकृष्ण गोपियों की भाँति माधुर्यमय प्रपन्न के कंठ में भी उसी प्रकार हाथ डालकर नृत्य करेंगे। केवल कंठ में हाथ डालकर प्रियतम के साथ नृत्य करने में भी प्रपन्न संतुष्ट नहीं होता—वह कहता है कि जब मैं प्रपन्न हो गया, तो मुझे वैसी ही कृपा चाहिए जैसी दीनों को मिलती है। श्रीकृष्ण समस्त प्राणियों के एकमात्र आश्रयस्थल हैं। वे मेरे जैसे सभी दीन-दुखियों को हृदय से लगा लेते हैं। अस्तु मुझे भी लगायेंगे। वे

१ उदुत्तमं वरुण पाशमस्म दवाधमं विमध्यमं श्रथाय।
अथावयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥
—यजुर्वेद १२।१२

—'भारतीय साधना और सूर साहित्य' द्वि० खं० पृ०२८०

कब हृदय से लगायेंगे, कब उदार नेत्रों से मेरी ओर देखेंगे, कब मन्दस्मित से मुझे आश्वासन देंगे, कब मृदुल वचनोद्गार से मुझे द्रवित करेंगे और कब मेरे में ऐसी प्रीति उत्पन्न करेंगे जैसी प्रीति वंशी उनके अधरों से करती है।

अष्टछाप के भक्त-कवियों की प्रपत्ति:—

रस स्वरूप, रस रीति के मर्मज्ञ एवं रस-लीला-परायण प्रियतम कृष्ण के हृदय से लगने के लिये मधुर प्रपन्न को सर्वात्मसमर्पण के साथ इष्टदेव का हो जाना पड़ता है। इस समर्पण के अभाव में उपासक को अपने प्रभु का आश्रय प्राप्त नहीं होता। प्रियतम से निरंतर मिलने की आकुलता और चातक की सी दृढ़ता मधुर रस का पान करने वाले प्रपन्न में ही संभव है। तभी वह अपनी समस्त चेष्टायें अपने आराध्य देव के अनुकूल करने का संकल्प कर अपनी साधना में रत हो जाता है। अनुग्रह प्रपन्न की यह प्रपत्ति साधना इष्टदेव के प्रति प्रियतम अथवा पति भाव में ही सर्वोत्कर्ष को प्राप्त कर आत्म निवेदन में उसे दक्ष बना देती है। यहाँ पर उपासक का उपास्यदेव न तो ब्रह्म होता है, न ब्रह्म के समान वरन् ब्रह्म से भी बढ़कर। इसी प्रभु को वह आत्मसमर्पण करता है। प्यारे इष्टदेव कृष्ण के पद-पंकज की सेवा और गोपियों के समान नित्य संयोग की अभिलाषा को अपने अन्त:करण में लिये हुए रसिक प्रपन्न प्रतिक्षण अपने प्रशस्त पथ पर आगे बढ़ता है। अष्टछाप के कवियों ने सर्वात्मभाव से अपने माधव को अपना सब कुछ सौंप दिया था और निरंतर उन्हीं की याद मे तन्मय रहकर चिन्तामुक्त हो गये थे। इन कवियों ने ही भगवान के पूर्व कथित द्वादश गुणों का स्मरण करते हुए, प्रपत्ति के समस्त सोपानों को पाकर वह सिद्धि प्राप्त कर ली थी, जहाँ भेद नाम की कोई वस्तु नहीं होती। चुम्बक की भाँति आकर्षित होकर इन भक्तों ने अपने प्रभु से सर्वप्रथम कहा था—

> तिहारे चरन कमल को मधुकर, मोंहि कब जू करोगे।
> कृपावंत भगवत गुसाईं यह विनती चित जू धरोगे।
> सीतल आतपत्र की छैयाँ कर अम्बुज सुखकारी।
> प्रेम प्रवाल नैन रतनारे कृपा कटाच्छ मुरारी।
> परमानंददास रस लोभी भाग्य बिना कोउ पावै।
> जापर कृपा करें नंदनंदन ताहि सबै बनि आवै ।।८१७।।

—परमानंदसागर पृ०२८७

प्रपन्नों को यह विश्वास है कि बिना नंदनंदन की कृपा-कटाक्ष के चरण-कमल का सामीप्य उपलब्ध नहीं होता और यह कृपा-कटाक्ष भी सबको नहीं मिलती, मिलती है तो केवल भाग्यवान को। विषयरत रहने वाले को तो इस कृपा-कटाक्ष की छाया भी नहीं दिखलाई देती। मन, वचन और कर्म से प्रभु की इस कृपा-कटाक्ष को प्राप्त करने वाले प्रपन्न अत्यंत हुलास से श्यामसुन्दर की सेवा का व्रत लेते हैं और अपने अनुराग में कमी नहीं आने देते। निस्सन्देह ऐसे भक्त मदनमोहन की महिमा को जानकर ही ऐसा करते हैं। वे अपने नेत्रों में अपने राधा-माधव को बसाये रहते हैं, श्रवणों से सर्वदा उनकी कीर्ति सुनते हैं तथा वाणी से उनका गुणगान करते हुये उनकी सेवा के समक्ष मुक्ति को भी तुच्छ समझते हैं—

सेवा मदन गोपाल की मुकति हू ते मीठी।
जानै रसिक उपासिका सुक मुख जिन दीठी।
चरन कमल रज मन बसी सबै धर्म बहाये।
स्रवन कथन चिंतन बढ़्यौ पावन जस गाये।
वेद पुरान निरूपि कै रस लियौ निचोई।
पान करत आनंद भयो डार्‌यो सब धोई।
परमानंद विचारिके परमारथ साध्यो।
रामकृष्ण पद प्रेम बढ़्यो लीलारस बांध्यों ।।८५३।।

—परमानंदसागर पृ० २९९

इस प्रकार मदनगोपाल की सेवा के व्रती रसिक प्रपन्न अपने प्रभु के पद-प्रेम में तन्मय होकर समस्त धर्मों का त्याग करते हुये एकमात्र प्यारे कृष्ण की शरण में चले जाते हैं। उनकी यह धारणा है कि निकुंज-रस में निमग्न श्री राधावल्लभ की एकमात्र शरण ग्रहण करने से समस्त दुःखों का नाश और समस्त प्रकार के ऐश्वर्य का विकास हो जाता है। भला ऐसे संरक्षक से कौन प्रेम नहीं करेगा, जो सदा एक रस हो और शरणागत के साथ ऐसा व्यवहार करता हो जैसा उसके माता-पिता तथा बन्धु आदि कोई नहीं कर पाते?

तुम तजि कौन सनेही कीजै।
सदा एक रस को निबहत है जाकी चरन रज लीजै।
यह न होई अपनी जननी ते पिता करत नहिं ऐसी।
बन्धु सहोदर सोऊ न करत है मदनगोपाल करत है जैसी।

सुख अरु लोक देत हैं व्रजपति अरु वृन्दावन वास बसावत ।
परमानंददास को ठाकुर नारदादि पावन जस गावत ।।८५६।।

—परमानंद सागर पृ० ३००

प्रेम के एकमात्र देवता के इस रसमय व्यवहार के कारण प्रपन्न को इतना भरोसा हो जाता है कि फिर वह वृन्दावन में रहता हुआ सब कुछ सहन कर लेता है । चाहे कोई उसे कितना ही भला-बुरा क्यों न कहे वह इसकी किंचित चिंता नहीं करता और श्यामसुन्दर के प्रेमानंद में मग्न रहकर उन्हीं का गुणगान करता हुआ कहने लगता है:—

ब्रजवसि बोल सबन के सहिये ।
जो कोऊ भली बुरी कहै लाखै, नँदनंदन रस लहिये ।
अपने गूढ़ मतै की बातें काहू सों नहिं कहिये ।
परमानंद प्रभु के गुन गावत आनंद प्रेम बढ़ैये ।।८३५।।

—परमानंद सागर पृ० २९३

आराध्यदेव के गुण-गान के आनंद की कोई सीमा नहीं होती । इस आनंद रस-रंग के चढ़ते ही शरण में जाने वाले साधक का अभिमान रहित हो जाना स्वाभाविक है । तत्पश्चात् तो वह मधुर भाव-सागर की तरंगों से लहरें खाता हुआ निरंतर राधावर की सेवा में लीन रहकर अपनी समस्त कामनाओं का नाश कर देता है, यथा—

लगे जो श्री वृन्दाबन रंग ।
देह अभिमान सबै मिटि जैहैं अरु विषयन कौ संग ।
सखी भाव सहज होय सजनी पुरुष भाव होय भंग ।
स्रीराधावर सेवत सुमिरत उपजत लहर तरंग ।
मन कौ मैल सबै छुटि जैहैं मनसा होय अपंग ।
परमानंद स्वामी गुन गावत मिटि गये कोटि अनंग ।।८३७।।

—परमानंद सागर पृ० २९४

विषयबासनाओं के धरातल से बहुत ऊपर उठकर प्रभु के सान्निध्य का लाभ जब मधुर रसोपासक-प्रपन्न को हो जाता है, तब वह आनंदातिरेक से थिरक उठता है, किन्तु प्रेम-वैचित्य में वियोग का अनुभव करके तुरंत ही अपने आराध्यदेव से उनके उस हस्त-कमल की छाया की याचना करने लगता है, जिसने गोकुल की रक्षा, दैत्यों का संहार, राधा का स्पर्श और वेणु से गोपियों के प्रेम को मूर्तिमान कर दिया था—

कबहूँ हरि हौं द्यौं दया।
हस्त कमल की हमहूँ ऊपर फेरि जैहौ छया।
जिहि प्रसाद गोकुलपति पाल्यो कर तल अद्रि उठायौ।
जिहि कर अंबुज परसि चारु कुच राधा भलौ मनायौ।
जिहि कर कमल बाल लीला रस धेनुक दैत्य फिरायौ।
जिहि कर कमल कोप झूठे धरि भूतल कंस गिरायौ।
जेहि कर कमल बेनु हरि लीनो गोपिन प्रेम बढ़ायौ।
जिहि कर कमल दास परमानंद सुमिरत यह दिन आयौ ।।८७३।।

—परमानंद सागर पृ० ३०६

पूर्णरूपेण अपने भगवान की रक्षा-शक्ति में विश्वास करते हुये ही यहाँ पर प्रपन्न ने उनके वरद हस्त की छाया को चाहा है तथा दीनों के हेतु कल्पतरु के समान नंदनंदन करुणासागर के सान्निध्य लाभ का संदेश दिया है–

जाइये वह देश जहाँ नंदनंदन भेटि ये।
निरखिये मुख कमल कांति विरह ताप मेटिये।
सुन्दर मुखरूप सुधा लोचन पुट पीजिये।
लंपट लव निमिष रहति अंचय अंचय जीजिये।
नख सिख मृदु अंग अंग कोमल कर परसिये।
अरु अनन्य भाव सौं भजि मन क्रम वचन सरसिये।
रास हार भुव विलास लीला सुख पाइये।
भगतन के जूथ सहित रसनिधि अवगाहिये।
इहि अभिलाष अंतरगति प्राननाथ पूरिये।
सागर करुना उदार त्रिविध ताप चूरिये।
छिन छिन पल कोटि कलप बीतत अति भारी।
परमानंद प्रभु कल्प तरु दीनन दुखहारी ।।८४६।।

—परमानंद सागर पृ० २९७

ऐसे करुणासागर इष्टदेव श्रीकृष्ण के समीप वही पहुँच सकता है, जो नंदनंदन को निरंतर अपने हृदय में प्रीतिपूर्वक धारण करने वाले ब्रजवासियों की रसरीति को अपना ले और सर्वभाव से प्रतिक्षण प्रार्थना में रत हो जाय। गुरु-कृपा के अवलम्ब से साधक इसका कुछ अंश प्राप्त करता है—

ब्रजवासी जाने रस रीति ।
जाके हृदय और कछु नाहीं नंद सुवन पद प्रीति ।
करत महल में टहल निरंतर जाम जाम सब बीति ।
सर्वभाव आत्मा निवेदित रहे त्रिगुनातीति ।
इनकी गति और नहिं जानत बीच जवनिका भीति ।
कछुक लहत दासपरमानंद गुरु प्रसाद परतीति ।।८४८।।

—परमानंद सागर पृ० २९८

गुरु-कृपा से रस-रीति को अंशतः प्राप्त कर लेने पर भी प्रपन्न को देवों के देव राधिकावल्लभ प्यारे लगते है और वह समस्त साधनाओं के शृंगार स्वरूप उनका स्मरण करता हुआ, समस्त विषयों को त्याग कर मधुप के समान उनके चरण-कमल का रस पान करने लगता है। इस प्रकार के साधक के हृदय में अपने प्रभु के प्रति अनन्य निष्ठा और दृढ़ प्रीति का सतत् विकास होता है। अपने प्रभु के स्वभाव को जानकर प्रपन्न निरंतर उनकी गंभीरता और उदारता की सराहना करता रहता है। वे प्रभु भी अत्यंत अनुग्रहपूर्वक अपनी शरण में आये हुये भक्त के छोटे-छोटे गुणों को भी मेरु के समान मानते हुये बड़े से बड़े अपराध को बूंद के समान गिनते हैं और भक्त के विरह में स्वयं आकुल होकर उसे पाने के लिये उसके पीछे-पीछे घूमते हैं—

प्रभु कौ देखौ एक सुभाइ ।
अति-गंभीर-उदार-उदधि हरि, जान शिरोमनि राइ ।
तिनका सौ अपने जन कौ गुन मानत मेरु-समान ।
सकुचि गनत अपराध-समुद्रहिं बूँद-तुल्य भगवान ।
बदन-प्रसन्न कमल सन मुख ह्वै देखत हौं हरि जैसें ।
विमुख भये अकृपा न निमिष हूँ फिरि चितयौं तौ तैसें ।
भक्त विरह-कातर करुनामय डोलत पाछैं लागे ।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहिं पीठि सो अभागे ।।८।।

—सूरसागर प्रथम खंड (ना० प्र० स०) पृ० ३

कभी भक्त भगवान के पीछे-पीछे घूमता है और कभी भगवान भक्त के। भगवत् कृत भक्त के स्वीकार के कारण अनुग्रह प्रपन्न की भगवत्निष्ठा कम नहीं होती। ऐसे भक्त का मन यदि तनिक भी आराध्य प्रभु के पास से इधर-उधर हटा, तो वह फौरन उसे डाँटने लगता है कि—

करि हरि सौं सनेह मन साँचौ ।
निपट कपट की छाँड़ि अटपटी इंद्रिय बस राखहिं किन पाँचौ ?
सुमिरन कथा सदा सुखदायक विषधर-विषय विषम-विष-बाँचौ ।
सूरदास प्रभु हित कै सुमिरौ जौ, तौ आनंद करिकै नाचौ ।।८३।।

—सूरसागर प्रथम खंड (ना० प्र० स०) पृ २७

स्नेह से पूरित भक्त जब अपने मन को डाँटता है, तो उसके पीछे उसके आराध्य प्रीतम के संयोगानंद की उपलब्धि की आकांक्षा छिपी होती है, क्योंकि वह समझता है कि मन का विषयासक्त होना इस अपूर्व रसमय संयोग में बाधक होगा । अस्तु, वह बार-बार कहता है—

हरि बिनु मीत नहीं कोउ तेरे ।
सुनि मन, कहौं पुकारि तो सौं हौं, भजि गोपालहिं मेरे ।
या संसार विषय-विषसागर रहत सदा सब घेरे ।
सूरस्याम बिनु अंतकाल मैं कोउ न आवत नेरे ।।८५।।

— सूरसागर प्रथम खंड (ना० प्र० स०) पृ० २८

जो भगवान निरंतर अपने भक्त के पीछे-पीछे घूमता हो वह तो मित्र, स्वामी आदि सबसे महान होता है और चंचल मन के स्थिर हो जाने पर उसके लिये वरदानी सिद्ध हो जाता है । इस मन के भगवच्छरणागति में पहुँचते ही भक्त को श्याम-श्यामा की वृन्दावन-राजधानी ही प्यारी लगती है और तब वह संसार के तुच्छ सुखों की परवाह न करते हुये सर्वोपरि अखंडानन्द में तन्मय होकर झूम उठता है—

अबै तो यहै बात मन मानी ।
छाँड़ौं नाहिं स्याम-स्यामा की वृन्दावन रजधानी ।
भ्रम्यौ बहुत लघु धाम बिलोकत छन-भंगुर दुखदानी ।
सर्वोपरि आनंद अखंडित सूर-मरम लपिटानी ।

—सूरसागर प्रथम खंड (ना० प्र० स०) पृ०२८

अन्तःकरण में श्रीहरि का स्मरण करने से और श्यामसुन्दर की सर्वात्मभाव से सेवा करने से प्रपन्न को किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। किन्तु दैन्य के साथ प्रभु से निरंतर निवेदन करते रहना परमावश्यक माना गया है । बिना दैन्य के अभिमान का नाश नहीं होता और अभिमान के नष्ट हुए बिना साधक को अपने प्रभु की शक्ति पर सन्देह बना रहता है । अस्तु, साधक अत्यंत दैन्य के साथ कहता है:—

हरि, हौं महापतित अभिमानी ।
परमारथ सौं विरत विषयरत, भाव-भगति नहिं नैंकहु जानी ।
× × × ×
नवलकिशोर जलद-तनु सुन्दर बिसर्यो सूर सकल सुखदानी ।।१४९।।
—सूरसागर प्र० खंड (ना० प्र० स०) पृ० ४९

इसलिये हे प्रभु—
कृपा अब कीजिये बलि जाउँ ।
नाहिंन मेरैं और कोउ, बलि, चरन-कमल बिन ठाउँ ।
× × ×
तुम कृपाल, करुनानिधि, केसव, अधम-उधारन-नाउँ ।
असरन सरन नाम तुम्हरौ, हौं कामी, कुटिल निभाउँ ।
× × ×
सूर पतित पावन पद-अम्बुज सो क्यों परिहरि जाउँ ।।१२८।।
—सूरसागर प्रथम खंड (ना० प्र० स०) पृ० ४३

कृपा प्राप्त करते हुये भी कृपा की प्रार्थना और दीनता रहते हुए भी दीनता की भावना प्रपन्न के सर्वोत्कृर्ष का प्रतीक है। यह प्रपत्ति ही इस अनुग्रह प्रपन्न का प्राण है। जैसे प्राणी प्राण के बिना नहीं रह सकता, वैसे ही भक्त प्रपत्ति के बिना नहीं रह सकता, क्योंकि वृन्दावन की सुरम्य वनस्थली में राधादि के साथ विहार करने वाले अपने समर्थ प्रभु के सिवाय उसकी दृष्टि में कोई दूसरा दीनदयाल नहीं आता, अस्तु वे करुणा के सागर श्याम-सुन्दर उसे जैसे रखें वह रहने को तैयार रहता है। मृदु शरणागति की साधना में रत, इस प्रकार अपने को, अपने इष्टदेव का बनाकर, प्रपन्न अत्यंत दीनता एवं निष्ठा के साथ कह उठता है—

जौ हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हें हमारी लाज-बड़ाई, विनती सुनि प्रभु मेरे।
सब तजि तुम सरनागत आयो दृढ़ करि चरन गहे रे।
तुम प्रताप-बल बदत न काहूँ निडर भये घर-चेरे।
और देव सब रंक-भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा तैं पाये सुख जु घनेरे ।।१७०।।
—सूरसागर प्रथम खंड (ना०प्र०स०)पृ०५५

संसार के समस्त धर्मों का त्याग कर भगवान की शरण में चले जाना ही प्रपत्ति की सर्वमहान्-क्रिया है। अष्टछापादि के सभी भक्त कवियों ने भली

प्रकार इसे समझकर विरक्त जीवन व्यतीत किया है और जिस प्रकार भगवान उनके पीछे फिरते हैं, उसी प्रकार वे भी उनके पीछे फिरते हुए उनकी शरण ग्रहण कर कहते हैं—

प्रभु, मैं पीछौ लियौ तुम्हारौ।
तुम तौ दीनदयाल कहावत, सकल आपदा टारौ।
महा कुबुद्धि कुटिल, अपराधी, औगुन भरिलियौ भारौ।
सूर कूर की याही विनती, लै चरननि मैं डारौ ॥२१८॥

—सूरसागर प्रथम खंड (ना० प्र० स०) पृ०७१

इसी प्रकार दीन भक्त भगवान का हो जाता है और कृपालु प्रभु भी अपने भक्त के वश में होकर संपूर्ण योग-क्षेम का वहन करते हैं। सूरदास के शब्दों में कृष्ण अर्जुन से स्वयं कहते हैं—

हम भक्तन के, भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिज्ञा मेरी यह ब्रत टरत न टारे।
× × ×
जीते जीत भक्त अपने की हारे हारि बिचारौं।
सूरदास सुनि भक्ति विरोधी चक्र सुदर्शन जारौं।

—सूरसागर प्रथम खंड (वे०प्रे०) पृ० २३

अपने भक्तों की भाँति ही सर्वेश्वर कृष्ण भी भक्तों की रक्षा का संकल्प कर लेते हैं और भक्तों के विश्वास के अनुसार पूर्ण कृपा कर त्रिविध संताप का अविलम्ब हरण कर उन्हें कृतकृत्य कर देते हैं। कितना विश्वास है इष्टदेव की कृपा पर—

तुम बिनु को ऐसी कृपा करै।
लेत सरन ततछिन करुणानिधि त्रिविध संताप हरै।
सुफल कियो मेरौ जनमु महाप्रभु, प्रभुता कहि न परै।
पूरन ब्रह्म-कृपा कटाक्ष तें भव कों कुंभन तरै।[1] ॥४०१

ऐसे कृपालु प्रभु का संयोग पाने के बाद प्रपन्न को फिर किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती, क्योंकि वह तो उनका नित्य संयोग ही चाहता है और निरंतर उनकी माधुर्यमंडित छवि का अवलोकन कर सब कुछ न्योछावर करने का उपक्रम करता है। इतना ही नहीं वह अपने भगवान से इसी नित्य संयोग की प्रार्थना भी करता है।

---

१ कुंभनदास पद-संग्रह (विद्या विभाग, कांकरौली, राजस्थान)

स्याम सुन्दर प्रान-प्यारे ! छिनु जिनि होहु निन्यारे।
नेंकु की ओट मीन ज्यौं तलफत इनि नैननि के तारे।
मृदु मुसुकानि, बंक अवलोकनि, डगमग चलति सहज में सुढारे।
चतुभुज प्रभु गिरिधर-बानिक पर कोटिक मन्मथ वारे।[1]

ऐसे प्रपन्न को प्रभु का क्षण भर वियोग भी मछली के समान तड़पा देता है। उस रूप को देखकर उसे स्वर्ग का सौन्दर्य भी तुच्छ जान पड़ता है क्योंकि स्वर्ग में उनकी धारणा के अनुसार न तो बृन्दावन के कुंज हैं और न लतायें, न वहाँ वंशी की ध्वनि है और न प्रेम की पुलक और प्यारे इष्टदेव भी तो वहाँ नहीं मिलेंगे, फिर वह बैकुण्ठ में जाकर क्या करे,

कहा करौं बैकुन्ठे जाइ।
जहाँ नहीं ए कुंज लता द्रुम मंद सुगंध बाजत नहिं बाइ।
कोकिल मोर हंस नहिं कूजत ताकौ बसिबौ काहि सुहाइ।
जहाँ नहीं वंशी धुनि बाजत कृष्ण न पुरवत अधर लगाइ।
प्रेम पुलक रोमांचय उपजत मन क्रम वच आवत नहिं दाइ।
जहाँ नहीं ए भुव बृन्दाबन बाबा नन्द जसोमति माइ।
गोविन्द प्रभु तजि नंद सुख को ब्रज तजि वहाँ बसत बलाइ।[2]

जिन प्रभु से उसे काम है, जब वही बैकुण्ठ में न रहकर बृन्दावन में रहते हैं, तो उसे भी वृन्दावन में ही अच्छा लगता है, अस्तु यश-अपयश से निर्भय वह केवल ब्रजलाड़िले को अपने सम्मुख चाहता हुआ प्रभुमय हो जाना चाहता है,

हमहिं ब्रजलाड़िले सो काज।
जस अपजस कौ हमें डर नाहीं कहनी होइ सो कह लेउ आज।
किधौं काहू कृपा करी धौं न करी जो सनमुख ब्रजनृप युवराज।
गोविन्द प्रभु की कृपा चाहिएँ जो है सकल धोख सिरताज ॥५७३॥

—गोविन्द स्वामी पृ० २१५

---

१ चतुर्भुजदास पदसंग्रह (विद्या विभाग, कांकरौली राजस्थान) पृ० ११८

२ गोविन्द स्वामी पद संग्रह (विद्या विभाग, कांकरौली, राजस्थान) पृ० २१५

श्यामसुन्दर भी ऐसे अनुग्रह प्रपन्न की सर्वोत्तम शरणागति की महत्ता को स्वीकार करते हुये उसके हृदय में अविलम्ब प्रवेश कर उसकी सेवा के लिये आकुल हो जाते हैं। कितनी उच्चस्थिति है इस शरणागति की, जब भक्त भगवानमय और भगवान भक्तमय होकर एकाकार हो जाते हैं। भेद यहाँ सर्वथा विलीन हो जाता है, यथा—

आपनु पै आपुन ही सेवा करत।
आपुन ही प्रभु आपुन सेवक आपुन रूप धरत।
आपुने धर्म, कर्म सब आपुने आपुनिय विधि अनुसरत।
छीतस्वामी गिरधरन श्री बिट्ठल भक्त वच्छल भय हरन ॥१८०॥

— छीत स्वामी पृ० ७६

रीतिकालिक कृष्ण-भक्त कवियों की प्रपत्तिः—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा निर्णीत काल-विभाजन को ध्यान में रखते हुए इस युग में जिन प्रमुख मधुररसोपासक कवियों ने प्रभु की प्रपन्नता ग्रहण की, वे निश्चय ही परम त्यागी, आचारवान् भक्त थे, विषयसरिता में बहने वाले विलासी नहीं। उज्ज्वल रस के प्रवाह में बहते हुये इन उपासकों ने भी कृष्ण को अपना प्राणनाथ मानकर नितांत रूप से उनके हो जाने का दृढ़ संकल्प किया था और उनका शाश्वत सामीप्य प्राप्त करने के लिये अधीर हो उठे थे। रसिक-शिरोमणि कुंजविहारी की शरण प्राप्त करने के हेतु इन कवियों ने श्री राधिका जी का भी स्तवन किया है, क्योंकि वे मानते हैं कि बिना कृपा राधा की न तो कृष्ण का दर्शन ही प्राप्त हो सकता है और न सामीप्य ही। परम पवित्र भावना से राधा-कृपा को प्राप्त करते हुये श्यामसुन्दर को अपने हृदय-मन्दिर में बैठाने का उन सबका प्रयत्न है। माधव भी तो अपनी आह्लादिनी शक्ति की आज्ञा बिना एक पग भी आगे नहीं आ सकते। अस्तु, सर्वप्रथम वह भक्त उन्हीं महाभावस्वरूपा वृन्दावनेश्वरी का स्मरण करता है—

मोहिं श्रीराधे नाम सुहावै।
तासु तत्व शिव अज सुक समझत करि उपास सचि पावै।

जोगिन्द्रादि मुनी मन चाहत नेति नेति श्रुति गावै ।
दास किसोर अनन्य उपासिक रस जुत रसिक लड़ावैं[1] ॥२।२६६॥

इस स्मरण के साथ प्रपत्ति पथ पर चलने वाला रीतिकालिक अनुग्रह प्रपन्न, अपने आराध्य देव के सुरम्य निवास स्थल वृन्दावन के समीप रहता हुआ उनकी मधुर भावना को अपने हृदय में धारण कर सहचरी-स्वरूप से उनकी शरण में चला जाता है और कहता है—

भयो मन साँवरे को दास ।
प्रफुलित बदन सदन सोभानिधि वरधत विमल विकास ।
सकल कुटुम्ब बिटमना तजि तजि भक्ति भाव विस्वास ।
संपति विपत्ति अपमित आवत होत न अधिक उदास ।
रसिक अनन्य धर्मधरि सिर परि सहत विविध उपहास ।
दास किशोर उपाय रहित निति नित्य किशोर उपास[2] ॥३।८४॥

मन ही तो समस्त बन्धन और मोक्ष का कारण है। यदि यह प्रभु का बन गया, तो फिर साधक अत्यंत विश्वास के साथ सबको त्यागकर सुख दुख में समान भाव रखते हुए अनेक प्रकार के उपहास को सहन करके भी किशोरवय वाले रसिक शिरोमणि का हो जाता है और अत्यंत दीन होकर उनकी कृपा के हेतु निवेदन करने लगता है—

तुमरी कृपा बिना मन दीन ।
तुम अपनाय गहत कर ताको सो जन परम प्रवीन ।
तुम क्रितग्य करुणानिधि कारण जीव परम बल हीन ।
दास किशोर करत ताकूँ तुम सों समुझत वपु झीन[3] ॥२।२८८॥

बड़ा प्रभाव है इस दैन्य ने। भगवान भक्त के इस दैन्य से प्रभावित होकर क्षण भर में उसे अपनी ओर खीच लेते है और करुणा के रस से उसे सर्वप्रकार से सराबोर कर परम प्रवीण बना देते हैं।

इष्टदेव श्रीकृष्ण के पास पहुँचकर तो साधक उनकी बाँकी चितवन से ऐसा वशीभूत हो जाता है कि कुछ कहते नहीं बनता और फिर समस्त प्रकार के भय भी भस्मीभूत हो जाते है, तभी वह कहने लगता है—

---

१ सिद्धांत सार संग्रह पृ० २१४
२ ,, ,, पृ० १३५
३ सिद्धान्त सार संग्रह

अधम अधारन मैं तुम जाने ।
दीनानाथ कृपानिधि स्वामी सदा दया रस सानें ।
सोचहरन सुखकरन छमापति अति उदार उर आने ।
पतित पपीहनि के आनंदघन जीवनधन पहिचाने[1] ॥५६३॥

सर्वविदित है कि वे प्यारे [प्रभु पतितों का उद्धार करते हैं, दीनों पर कृपा करते हैं, समस्त दुःखों का निवारण करते हैं और आनंद की वर्षा करते हैं। प्रपन्न भी इसका अनुभव करता है और प्रभु से निवेदन करता है—

तुमही हो हरि गति मेरी ।
सबै ठौर सब भाँति सब समय पति मेरी ।
तुमही मैं तुम तें निहचल रहौ मति मेरी ।
आनंदघन चातक लौं राखौ रति मेरी[2] ॥१३६॥

जिस प्रकार चातक स्वाति को प्राप्त करने के हेतु निश्चल बुद्धि से साधना में रत रहता है, उसी प्रकार की रति एवं निष्ठा को अपने आराध्य प्रियतम से कामना करता हुआ शरण चाहने वाला व्यक्ति सर्वप्रकार से हरि की शरण ग्रहण कर लेता है—

हमकौं तिहारी है हो सरन हरि ।
जग मंगलकारी जदुनन्दन अंतर-ताप-हरन ।
अंतरजामी सब-सुखस्वामी बंछित-पूरन करन ।
करुनानिधि उदार आनंदघन जीवन-पोषन-भरन[3] ॥७३८॥

समस्त जनों के हेतु कल्याण करने वाले अन्तरयामी हरि के औदार्य का स्मरण प्रपन्न के जीवन को रसमय बनाकर उसे नित्य प्रार्थी बना देता है। इष्टदेव की इस प्रार्थना में तन्मय वह भक्त न तो श्रीकृष्ण की लीला को समझ पाता है और न उसे उपासना का ही ज्ञान रहता है। केवल कृपालुता की याद ही उसे संतोष प्रदान करती है जिसके कारण माधव उसकी प्रीति को परख लेते हैं। हरि के चरणों की यह प्रीति ही तो उसकी सबसे बड़ी उपासना है—

---

१ घनानंद पृ० ४६३
२ ,, ,, ३६५
३ ,, ,, ५०६

प्रीति पारखू जुगल हैं तिन पद राखौं प्रीति।
बृन्दावन हितरूप की यही उपासना रीति ॥४०॥

चाचा हितबृन्दावन दास कृत रसिक पथचंद्रिका पृ० ५

राधा-माधव के चरणों की यह प्रीति जिसे प्राप्त हो जाती है, संसार में वही सौभाग्यशाली होता है। उसके हृदय में राधा-वर के चरण निरंतर बने रहते हैं। वह अनुराग के पंथ पर चलता हुआ नित्य विहार के गीत गाकर आनंदविभोर हो जाता है—

बड़भागी सोई जगु जानौं।
जाके भक्ति भाव राधा वर चरन कमल चित आनौं।
श्री बृन्दाबन रज अनुरागी प्रेमपंथ पहिचानौं।
नित्य निकुंज विहार सार रस भजन सजनि सुख ठानौं।
करत मानसिक मन रंगु भीनों प्रेम रूप ललचानौं।
(जै श्री) रूपलाल हित सरनागति सुख सहज संपदा मानौं[1]।

रसिकों की मान्यता है कि इस नित्य विहार की शरण प्राप्त करने के हेतु आह्लादिनी राधा की कृपा, जैसा कि पूर्व में निर्देश किया जा चुका है परम आवश्यक है। भक्ति के इस मधुर प्रपत्ति मार्ग पर वही चल सकता है, जिसकी रुचि समस्त अन्य विषयों से हटकर श्यामा के चरण-कमल में लग जाय। इस स्थिति में आ जाने के बाद प्रपन्न के समस्त संशय दूर हो जाते हैं और वह उमड़ते आनन्दाश्रुओं के साथ अपने इष्टदेव और इष्टदेवी के स्नेह में अवगाहन कर उनकी कीर्ति का गान करने लगता है। उसके हृदय में तब कुंजविहारी राधा-माधव के चरण-कमलों की कांति जगमगा उठती है—

जा जन पर कुँवरि कृपा करै।
सब बातनि तें मन रुचि घटि कैं व्यास सुवन पथ अनुसरै।
संशे मूल निमूँल होहि सब लाभ हानि चिन्ता हरै।
जुगल नेह भींज्यो रहे निसिदिन आनंद वारि दृगन ढरै।
भजन खेत बृन्दावन गहि रे कैं काहू विधि करि नहि टरै।
श्रीहरिवंश विमल जस गावत गाढ़ प्रेम चहलै परै।

---

१ श्री हित० गो० सं० सा० पृ० ४९०

कौतिक कुंज केलि अनुरागी गौर श्याम पद उर धरै।
बृन्दाबन हित रूप जाऊँ बलि जनम जीति परिकर ररै[1] ॥२६॥

चरण-कमलों की प्रीति के इस रसमय अंकुर के हृदय में उगते ही शरणागत अपनी स्वामिनी के परम प्रिय प्राणनाथ ब्रजराज लाड़िले को मुक्त कंठ से पुकारते हुए दैन्य के साथ शीघ्र ही उनकी शरण ग्रहण कर लेता है—

मेरी सुनिये अबै पुकार।
कृपासिन्धु ब्रजराज लाड़िले पर्‌यौ तिहारे द्वार।
चरन सरन आये जे तिनके मेटे दुःख अपार।
मेरी बेर कहो क्यों ब्रजनिधि इतनी करी अबार ॥६५॥

— ब्रजनिधि ग्रंथावली पृ० १७३

अपने शरणागतवत्सल प्रभु के द्वार पर पड़े हुए प्रपन्न को क्षण भर में ही पूर्ण विश्वास हो जाता है कि वे राधिकावल्लभ उसे अवश्य अपनायेंगे। बृन्दावन की उस पवित्र स्थली मे जब उसका मन अपने प्यारे के समक्ष मचल जायेगा, तब तो रसमय आलिंगन पाने में तनिक भी देर न लगेगी, सर्वोच्च पद मिलेगा, चिर काल से हृदय में रहने वाली प्रिय-मिलन की साध पूरी हो जायेगी और मधुर रस का परम दुर्लभ आस्वाद भी हो जायगा—

जब कानन अधिपति अपनैहैं।
तब तू मचलि परैगी द्वारे अति हित मानि अंक भरि लैहैं।
दरसावै लीला जू कुंज की आपु रीझि तोकौं जु रिझैहैं।
सब तैं उच्च परम पद पावैं सब तैं गुरुवो सो सुख दैहैं।
मना रिझाइ धनी कौ बन बसि सबै मनोरथ वांछित पैहैं।
जानतु प्रीति माहिली प्रीतम तेरो कृत बिरथा नहिं जैहैं।
दाता बड़ो राधिका वल्लभ भाँति भाँति प्रानतनि अघवैहैं।
बृन्दाबन हित रूप निकर रस हीये की रसना अचवैहैं।

—बृन्दावन जस प्रकाश पृ० ३०

इसे पाने के लिए साधक आकुल हो उठता है, क्षण भर की भी देर उसे असह्य होती है, तभी वियोग की वेदना को दबाये हुये वह बार-बार कहता है—

---

१ रसिक पथ चन्द्रिका पृ० २१

अहो हरि बिलम्ब नहीं करिये।
दीनबन्धु दयाल करुना करि विपत्ति हरिये।
कहौ तुम बिन कहौं कासों वृथा दुख भरिये।
लाज मेरी तोहिं बृजनिधि बेगि इत ढरिये[1] ॥४५॥

वेदना से व्याकुल प्रपन्न की इस पीर को उसके इष्टदेव प्रभु ही जान सकते हैं। सांसारिक जन केवल स्वार्थ के कारण उससे सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु प्रभु का सम्बन्ध नित्य है। यह सम्बन्ध तो भगवान भक्त पर कृपा करने के लिये ही रखते हैं। इसका अनुभव करते हुये भक्त अपने भगवान के चरणों में अपने चित्त को एकाग्र होकर लगाता हुआ निरंतर उनके गुणों के गीत गाता है--

हरि बिनु को सनेह पहचानै।
सब अपने स्वारथ के साथी पीर न कोऊ जानै।
यह जिय जानि श्याम-श्यामा के चरन-कमल चित ठानै।
ब्रजनिधि कहत पुरान सकल हरि हित के हाथ बिकानै[2] ॥४६॥

आधुनिक कृष्ण-भक्त कवियों की प्रपत्तिः--

प्रपन्न चातकों की प्यास को बुझाने के लिये, दीनों की दशा पर द्रवित होने के लिये और विरहाग्नि से दग्ध भक्तहृदय को अपनी मधुर रस धारा से शीतल करने के लिये ही इस युग के रसिक भक्तों की दृष्टि में श्यामसुन्दर 'घनश्याम' कहलाते हैं। उनकी कृपा की अभिव्यंजना करते-करते वेद भी नेति-नेति कहकर रह जाते हैं। वे मदनमोहन ही तो भक्त के सर्वस्व हैं— उसके प्राण हैं और उसकी प्रत्येक चेष्टा में व्याप्त हैं। यदि ऐसा न होता तो पतितों का उद्धार न होता। पतितों का पाप यदि डाल-डाल पर हैं, तो पतितपावन पात-पात पर रहकर उसे निर्भय कर देते हैं। इसीलिये तो शरणागत भजता है तो गोपाल को, देखता है तो गोपाल को और सेता है तो भी गोपाल ही को। वे गोपाल ही उसके नेत्रों के तारे, प्राणों के प्यारे और जीवन के सहारे हैं। वे इस प्रपन्न के पति हैं, गति है और रति भी हैं। इसीलिये वह उनके चरणों में अपनी प्रीति को समर्पित करता है और भवजाल से बचने की चेष्टा करता है—

---

१ ब्रजनिधि ग्रन्थावली पृ० २०२
२ ब्रजनिधि ग्रन्थावली पृ० २०२

नेह हरि सों नीको लागै ।
सदा एक-रस रहत निरंतर छिन छिन अति रस पागै ।
नहिं वियोग-भय नहिं हिंसा जहँ, सतत मधुर ह्वै जागै ।
"हरीचन्द" तेहिं तजि मूरख क्यों जगत्जाल अनुरागै ।।३०।।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली पृ० ५४७

इस चेष्टा में प्रपन्न भगवान की कृपा के अवलम्ब से न मिटने वाली लालसाओं को मिटाता है और जोग, ज्ञान, जप तथा तीरथ आदि साधनों की कठिनता का अनुभव करता हुआ प्रभु की शरण में चला जाता है। उसका कथन है—

गोपालहि रुचत सहज व्यौहार ।
निहचल बिनु प्रपंच निर कृत्रिम सब विधि बिना विकार ।
सहज प्रेम पुनि नेम सहज ही सहज भजन रस-रीति ।
सहज मिलनि बोलनि चलनि सब सहजहिं प्रीति प्रतीति ।
हाव भाव चितवनि कटाक्ष अनुराग सहज जो होय ।

× × ×

पूजा दान नेम व्रत के पाखंड न हरि को भावैं ।
बादि रसिकता ज्ञान ध्यान जो हरि-पद नेह न लावैं ।
तासों सहज प्रेम पथ वल्लभ सहजहिं प्रगटि चलायो ।
हरीचंद, को सहजहिं निज करि निज जस सहज गँवायो ।।३४।।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली ५४८

ऐसे प्रपन्न साधक के प्रभु परब्रह्म से भी बढ़कर हैं, अस्तु समस्त साधनों से हीन-पर दीन वह उनसे डरते-डरते कुछ कहने की हिम्मत करता है। जिसके दरबार में ब्रह्मादिक देवता मुजरा नहीं पाते, उसके सामने जाते ही वह समस्त विधियों को भूल जाता है और बेअदबी की शंका से डरने लगता है, किन्तु वेदों में वर्णित दीनबन्धु का स्मरण करते ही वह आनंद से फूल उठता है और अपने प्रभु से दैन्य के साथ कहता है—

फैलिहै अपजस तुम्हरो भारी ।
फिर तुमको कोऊ नहिं कहिहै मोहन पतित-उधारी ।

वेदादिक सब झूठ होइंगे ह्वै जैहैं अति ख्वारी।
तासों कोउ विधि धाइ लीजिये हरीचंद को तारी।[1]

किन्तु यह उद्धार कैसे होगा ? भक्त को बिसारने से तो उद्धार का यह महत् कार्य संभव न होगा। पतितों की पीर का एक मात्र अनुभव करने वाले प्रियतम तुम्हारी दयालुता से ही शरण में आये हुए की रक्षा संभव हो सकेगी, इसीलियें—

नाथ बिसारे तें नहिं बनिहै।
तुमबिनु कोउ जग नाहिं मरम की पीर पिया जो जनिहै।
हँसि है सब जग हाल देखि कोउ नाहिं दीनता गनिहै।
उलटी हमहिं सिखावनि दैहैं मेरी एक न मनिहै।
तुम्हरे होइ कहाँ हम जैहैं कौन बीच में सनिहै।
'हरीचंद' तुम बिनु दयालता और कोउ नहिं ठनिहै।[2]

परम दयालुता के साथ शरणागत को अपना लेना चाहिये। इस सम्बन्ध में एक समय की बात है कि श्यामसुन्दर किसी गोपी के साथ रति-रस मग्न थे। गोपी के चरणों में पड़े हुये नूपुरों की झंकार से वातावरण गूंज रहा था, कृष्ण वे नूपुर उतारने लगे। गोपी ने तुरन्त कहा—

प्रीतम नूपुर मति ना उतारो।
इनकी धुनि सुनि पार परोसिनि, कहाँ करैंगी हमारो।
भले करो जग चरचा मेरी, तुम निज प्रण नहिं टारो।
नारायण जे चरण-शरण की तिनें न कीजै न्यारो।[3]

भक्त की कितनी ही चरचा जगत क्यों न करे, किन्तु वह अपने भगवान के प्रण की रक्षा अवश्य करायेगा। उसे पूर्ण विश्वास है कि अपनी रक्षा के लिए न सही, किन्तु अपने प्रण को निभाने के लिये तो उसके प्रभु उसे अवश्य ही अपनायेंगे। यह समय तो भक्तों को अपनाकर उनके तारने का ही है।

पतितन तारिबे की घरी।
रही न ठौर कुंज की गलियन पापिन भीर भरी।

---

१ भारतेन्दु ग्रंथावली प्रेम फुलवारी पृ० ५७९
२ भारतेन्दु ग्रंथावली द्वितीय भाग कृष्ण चरित्र पृ० ६०४
३ ब्रजविहार पृ० १५०

ललित किशोरी नींद विवस सब निशि तें द्वार अरी।
पहिली नजर करौ मो मुजरा कलँगी शीस धरी।
राधा गोविन्द पद सरोज रति लपटी धूरि परी।
अब बकसीस ईस मुहिं दीजै बृन्दावन डगरी।[1]

प्रपन्न के प्रभु बड़े शक्तिमान हैं। उन्होने बंशी के नाद से जमुना के प्रवाह को, आंगुलि मात्र से प्रलय-घन वर्षा को, और तनिक संकेत से उमगते हुये सिन्धु को रोक दिया था। उसे इन सब बातों की आवश्यकता नहीं। वह तो अपने अनन्य प्रेम पर विश्वास करता हुआ कहता है कि करुणासागर का करुणाप्रवाह रुक जाय तो मैं जानूं। यह करुणा प्राप्त होगी, किन्तु कैसे? जब आराध्यदेव के स्मरण से उसका हृदय द्रवित हो जायगा, अश्रुजल प्रवाहित होगा और उछ्वास चलने लगेंगे, तब यह निधि उसे मिल जायगी। नैया को भव-सागर से पार लगाने के लिये यह करुणा का प्रवाह ही तो पतवार का काम करता है। कृत्रिम पतवार से झंझावातों के उस पार जाना प्रपन्न की दृष्टि में असंभव है।

कितना कारुण्य है? बिना उस प्रभु की करुणा के मतवाला मद भी तो परास्त न होगा और जब तक यह परास्त नहीं होता, तब तक उद्धार कहाँ? किन्तु करुणा का प्रवाह रुक नहीं सकता। इसके कारण ही तो अधमों के उद्धार में प्रभु की धाक जमी है और भक्त भी इसी के सहारे उनके चरणों का सामीप्य पाना चाहता हैं, यथा—

राधा रमण चरण जो पाऊँ।
सुक समान दृढ़ कर गहि राखौं नलिनी सम दुलराऊँ।
सौरभजुत मकरंद कमलवर सीतल हिये लगाऊँ।
बिरह जनित दृग तपनि किशोरी सहजे निरषि नसाऊँ।
—अभिलाष माधुरी पृ० १०१

अपने आराध्य देव के चरणों को प्राप्त कर लेना ही प्रपन्न के प्रपत्ति-मार्ग का लक्ष्य है। प्रभु के चरणो का स्पर्श होते ही उसका दग्ध हृदय शीतल हो जाता है और तब वह उन चरणों को फिर नहीं छोड़ता। चरण-ग्रहण के उपरांत दीन का हृदय प्रभु की कृपा-कोर के लिये छटपटा उठता है और आँखें निरंतर रूप-सुधा का पान करने के लिये मतवाली हो जाती है —

---

१ अभिलाष माधुरी पृष्ठ १००

अँखियाँ रूप-सुधा-मदमाती ।
बिन देखें वह जुगल सुघर छबि वह आतुर अकुलातीं ।
बानि परी रति चरन कमल की अब कैसे सचुपातीं ।
ललित माधुरी दरसन दीजै वाही को ललसातीं ।[१]

दर्शन की शाश्वत लालसा को अपने चित्त में लिये हुए साधक की लौ राधा माधव की ओर सदा के लिये लग जाती है, संसार का नाता छूट जाता है, हृदय में प्रेम की तरंगें उठने लगती हैं और प्रीति में निरंतर परिवर्धन ही होता रहता है—

लगी लौ राधा मोहन ओर ।
लीनी चरण शरण अब मैंने जग-सूँ नातौ तोर ।
प्रेम तरंग उठति हिय माँही उमग्यो रस वर जोर ।
हीरासखी हित प्रीति बढ़े नित यह विनती हरि मोर । [२]

उपर्युक्त स्थिति तक पहुँचने के लिये मन को निरंतर अपने कर्तव्य का पालन करना पड़ता है, क्योंकि जब तक समस्त वृत्तियों समेत मन प्रभु के पास नहीं रमता, तब तक सच्ची शरणागति नही होती । इसलिये प्रपन्नों ने सर्वदा मन को युगल चरण की आशा में रत होने की शिक्षा दी है, यथा—

करि मन युगल चरण की आस ।
इन सम हितू और नहिं दूजो तजि सबहिन कौ पास ।
गौर श्याम अलबेली मूरति वृन्दाविपिन निवास ।
नित्य विहार निकुंजनि प्रति दिन रास विलास ।
यमुना नीर तीर सुखदायक लखि हिय होत हुलास ।
भक्त अनन्य रसिक अनुरागत तिन पद कमल प्रकास ।
गुल्म लतनि की भीर सघन तहँ विकसत लसत पलास ।
हीरासखी यही मूलधन अवनी माँहि प्रकास ।[३]

सुरम्य वृन्दाविपिन के मध्य गौर-श्याम की अलबेली मूर्ति का रास विलास, हृदय को आनन्दातिरेक से पूरित करने वाला यमुना का निर्मल जल और निरंतर राधा-माधव के मधुर रस का आस्वाद करने वाले रसिक रूप

---

१ अभिलाष माधुरी पृ० १३१

२ अनुभवरस पृ० १६

३ अनुभव रस पृ० २७३

संपत्ति को यदि इस मन ने न चाहा तो नितांत रूप से वह मूढ़ है। इसी मन को समझाते हुये भक्त कहता है—

रे मन ! सठ तज मूढ़ हठ, भज वृन्दाबन चन्द।
सहजहिं दम्पति पाइये नेति वदत जिहि छन्द।
भज मन वृन्दाविपिन-घन जो चाहत सुख मूढ़।
अनायास जहाँ पाइये दम्पति रसनिधि गूढ़।
रे मन ! प्रथम सुभाव तजि भजि बृन्दावन एक।
सूकर कूकर होयगो खर कपि जन्म अनेक।
रे मन ! श्री हरिव्यास भजि सकल सुखन को मूल।
श्री राधा-पद पाइये भक्ति सदा निज कूल।

—किशोरीदास[1]

निस्सन्देह बनवीथियों में विचरण करने वाले निर्विषयी मन के साधकों को प्रपत्तिमार्ग श्रेयस्कर होता है। वे अपना तन-मन अपने इष्टदेव का समझ कर ही भगवान की आराधना में रत रहते हैं और कठिनाइयों का अनुभव करते हुये अपने प्रभु से निवेदन करते हैं—

कृपालु नंदनंदन बृषभानु की लली अहो अपनाइये।
मेरी भूल है अनादि की यह तो विचारिये।
हो कृपासिन्धु दीनबन्धु विरदे सम्भालिये।
यह बारी त्यारिवा की सालिग्यां कुं त्यारिये।[2]

—सर्वेश्वर शरण वेदाचार्य

इष्टदेव के समक्ष किये हुये इस निवेदन से प्रपन्न उस प्रिय धाम का अधिकारी होता है, जिस में उसके प्रभु के चरण-कमल-मकरंद की रस धारा शाश्वत रूप में बरसती रहती है और आह्लादिनी का आह्लाद प्रकट होता रहता है। शरणागति के अवलम्ब से साधक प्रियधाम निवासिनी अपनी स्वामिनी से उनकी कृपा की याचना करता है। रूप-छटा को निरंतर निहारने की कामना व्यक्त करता है—

अहो निकुंज विहारिनि रानि।
कृपा संभारि संभारे रहियो मैं तो अतिहि अयानि।

---

१ निम्बार्क माधुरी पृ० ६६७
२ श्री सर्वेश्वर, वर्ष ७, अंक २, पृ० ६

छठा अध्याय

हिन्दी कृष्ण काव्येतर अन्य माधुर्य उपासनायें

हिन्दी कृष्ण काव्येतर अन्य माधुर्य उपासनाएँ

ज्ञानाश्रयी साधकों में माधुर्य

जीवन में जिस दिव्य संयोग की कल्पना ज्ञानाश्रित संत कवियों ने की, उसमें निस्सन्देह अमरत्व का संदेश निहित है। एक अलौकिक मादकता के साथ, प्रियतम के उस संयोग को प्राप्त करने के हेतु इस परम्परा के साधकों के हृदय में प्रेम का स्फुरण तथा परिवर्द्धन होता है। यहाँ साधक की समस्त वृत्तियों का समन्वय होकर उसके हृदय में एकमात्र प्रियतम को प्राप्त करने की लालसा जाग उठती है और वह उस संसार से बहुत ऊपर उस दिव्य लोक में पहुँच जाता है, जहाँ सूर्य चन्द्र के बिना ही निरंतर प्रकाश हुआ करता है। शाश्वत प्रकाश के बीच उसकी आत्मा कांतिमान हो उठती है और तब साधक और साध्य का पता नहीं चल पाता है। यह आत्मा रूपी स्त्री परमात्मा रूपी प्रियतम का जब तक सान्निध्य प्राप्त नहीं कर लेती तब तक उसकी अपूर्णावस्था रहती है और वह अपने प्यारे के मधुर मिलन के लिये निरंतर आकुल रहकर उसकी याद में तड़पती रहती है। निर्गुण भक्ति शाखा के साधकों ने इस आकुलता का जैसा वर्णन अपने काव्य में किया हैं, निश्चित ही भक्ति साहित्य में वह बेजोड़ है। संतों की यह आकुलता ही माधुर्य का रस-सागर है, जिसमें संसार के समस्त बन्धन समाप्त हो जाते हैं और सनातन सम्बन्ध मधुरतम होकर दृष्टिगोचर होने लगता है।

"तात्त्विक दृष्टि से प्रभु निर्गुण एवं सगुण दोनों ही हैं। प्राकृत गुणों से विहीन होने के कारण वह निर्गुण और स्वीय गुणों से युक्त होने के कारण वह सगुण हैं"।[1] जहाँ तक भक्ति अथवा उपासना का सम्बन्ध है,

---

१ डा० मुंशीराम शर्मा—भक्ति का विकास, पृ०४१०

स्पष्ट है कि जब तक द्वैत की स्थिति साधक और साध्य रूपा न होगी तब तक भक्ति नहीं हो सकती। ज्ञानाश्रयी साधकों ने साधना की इस कठिनाई का अनुभव किया था और तब अपने प्रेम के अवलम्ब से उस निर्गुण को सगुण बनाकर उससे प्रेम किया था। ये ज्ञानी संत कहने को तो निर्गुणमार्गी थे, किन्तु इनकी साधना सगुण वैष्णवों की भाँति ही होती थी, यद्यपि इनकी उपासना में पूजा के वाह्य साधनों का प्रयोग न था। सगुण वैष्णवों की प्रेमा-भक्ति का उन पर पूरा-पूरा प्रभाव था, इसीलिये इन्होंने भाव-भक्ति को अपनाकर तप, जप, संयम, तीर्थस्नानादि वाह्य साधनों को छोड़ दिया था। इस भाव-भक्ति के सहारे इन्होंने अपने मन को इतना सराबोर कर रखा था कि वह सांसारिक विषयों से पूर्णतः विरक्त रहकर प्रभु के शाश्वत रूप-माधुर्य का पान करने में संलग्न रहे।

जिस प्रेमाभक्ति से नारदादि[१] उस परम प्रभु का निरंतर चिन्तन करते थे, कबीर आदि संतों ने भी उसी प्रणाली को अपना कर गोविन्द-[२] माधव को अपना इष्टदेव माना था और गोपियों की भाँति ही उस प्रियतम के प्रेम में पागल होकर झूम उठे थे।[३] इस प्रकार नारद के प्रभु और गोपियों के गोविन्द कबीर आदि संतों के पति परमात्मा थे—इन्हीं परमात्म-पति ने अपनी संत रूप प्रियाओं के साथ रमण करके "राम" की संज्ञा प्राप्त की थी। इनके प्रेम रस के खुमार का प्रभाव इन्हीं साधकों ने समझा था और मतवाले होकर सब कुछ भूल गये थे[४]। ऐसे प्रेमी को सभी प्यार करते हैं। जिस

---

१ भगति नारदी मगन सरीरा।
इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा ।।२७८।।
—कबीर ग्रंथावली (ना०प्र०स०) पृ०१८३

२ हमरा धन माधव गोविन्द धरनीधर इहै सार धन कहिये।
जो सुख प्रभु गोविन्द की सेवा सो सुख राज न लहिये।
—वही, पृ०२६४

३ प्रेमाधीना छाक्या डोलै, क्यों का क्यों ही बानी बोलै।
जैसे गोपी भूली देहा, ताको चाहै जासो नेहा।
—सुन्दरदास, संतसुधासार पृ०५७७

४ हरि रस पीया जांणिये, जे कबहुँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार ।।४।।
—कबीर ग्रंथावली पृ०१६

प्रकार स्त्री अपने प्रियतम के अभाव मे श्रृंगार करना भूल जाती है, उसी प्रकार ये संत उस दिलदार के स्नेह को सुनकर सब कुछ भूल जाते हैं[1] और कहने लगते हैं कि 'हे वृन्दावन में गायों को चराने वाले मनहरण कृष्ण ! तुम्हीं तो मेरे स्वामी हो, कबीर मेरा ही नाम है। हे कमल को धारण करने वाले ! तुम्हारे ही स्वरूप को देखकर तो गोपियाँ मोहित हो गई थीं, अस्तु मेरा मन भी तुम्हारे चरणों में लग गया है।' कबीर की यह बेचैनी ठीक वैसी ही है, जैसी श्यामसुन्दर के प्रति वृन्दावन की ग्वालिनियों की थी। काशी में रहते हुये भी कबीर के हृदय में अपने उसी परमात्मा के प्रति उत्कट प्रेम था, जो वृन्दाबन में रहता है।[2] रूप के आकर्षण ने उनकी आँखों को विवश कर दिया था उस मनमोहन को अपने भीतर छिपा लेने के लिए[3] और हाथों को विवश कर दिया था उनकी सेवा करने के लिये ! इन साधकों का यह विश्वास है कि मुरारी उसी के साथ रमण करते हैं, जो उनकी निरंतर सेवा का व्रत लेता है।[4] समस्त साधनाओं से ऊपर माधुर्य रस में अवगाहन करने वालों को ही इस व्रत का महत्व ज्ञात है, तभी तो वे बिना

---

१ जैसे नारी नाह बिन भूली सकल सिगार।
ज्यूं रज्जब भूल्या सकल सुनि सनेह दिलदार।
—रज्जब-संत सु०पृ०५२६

२ आस पास घन तुरसी का बिरवा मांझ बनारस गाऊँ रे।
वाका सरूप देखि मोही ग्वारनि मोकौ छोड़ि न आउ न जाहु रे।
तोहि चरन मन लागो सारिंगधर सो मिले जो बड़भागी।
वृन्दावन मनहरन मनोहर कृष्ण चरावत गाउ रे।
जाका ठाकुर तुही सारिंगधर मोहि कबीरा नाउ रे।
—कबीर ग्रंथावली (ना०प्र०स०) पृ०२६९

३ नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउं।
ना हौं देखों और कूं ना तुझ देखन देउं।
—कबीर ग्रंथावली पृ०१९

४ कहै कबीर हरि गुण गाइ लै संतसंगति रिदा मंझारि।
जो सेवग सेवा करे, ता संगि रमै मुरारि।
—वही, पृष्ठ १२७

जाति पांति की चिंता किये हुये, लज्जा को दूर भगाकर आठ याम अपने प्रियतम का ध्यान अपने हृदय में रखते हुये, अत्यंत गोप्य रीति से साधना रूपी गोकुल के निराले मार्ग पर प्राणनाथ से मिलने के लिये बेधड़क चले जाते हैं। मधुर प्रेम के इस प्रशस्त पथ पर चलने वाले के पास न तो सांसारिक मैं-तुम का भेद रहता है और न अन्य वाह्याडम्बरों का ध्यान ।[1] इस प्रशस्त पथ पर चलते-चलते साधक को वह स्वर्ण अवसर प्राप्त हो जाता है, जब वह अपने प्राणप्यारे को अपने सामने देखता है और आनंद में तन्मय होकर कह उठता है—

अब तोहि जांन न देहूँ राम पियारे।
ज्यौं भावै त्यूँ होहु हमारे ।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये।
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
इत मन-मंदिर रहौ नित चोषै, कहै कबीर परहु मति धोखै।
—कबीर ग्रंथावली पृ० ८७

इनके प्राणप्रियतम प्रभु कभी तो उनकी आत्मा में रमण करते हैं और कभी उनके नेत्रों के समक्ष अपने रूप-माधुर्य का पान कराते हैं। ये प्रभु ध्यान-मग्न इन संतों के हृदय रूपी मन्दिर से जब क्षण भर के लिये भी अदृश्य हो जाते हैं, तो ये प्रेमी वियोग की अग्नि में तपने लगते हैं और जब पुनः उनकी झांकी का दर्शन होता है, तो ये आनन्द-विभोर गा उठते हैं—

---

१ प्रीति की रीति नहीं कछु राखत जाति न पांति नहीं कुल-गारो।
प्रेम के नेम कहूँ नहिं दीसत लाज न कानि लग्यो सब खारो।
लीन भयो हरि सों अभिअंतर आठहु जाम रहै मतवारो।
सुन्दर कोउ न जानि सकै यह गोकुल गांव को पैंडो ही न्यारो ॥१॥

द्वन्द्व बिना बिचरै बसुधा परि जा घट आतम ज्ञान अपारो।
काम न क्रोध न लोभ न मोह न राग न दोष न म्हारो न थारो।
योग न भोग न त्याग न संग्रह देह दशा न ढक्यौ न उघारो।
सुन्दर कोउ न जानि सकै यह गोकुल गांव को पैंडोही न्यारो ॥२॥
—संत सुधासार पृ०६३३

अब घर पाया हो मोहन प्यारा।
लखौ अचानक अज अविनासी उघरि गये दृग तारा।
झूमि रह्यौ मेरे आँगन मैं, टरत नहीं कहुँ टारा।
रोम-रोम हिय माँही देखो, होत नहीं छिन न्यारा।
भयौ अचरज "चरनदास" न पैये खोज कियो बहुबारा।

—संत सुधासार द्वि० खं० पृ० १५७

संतों के इस अविनाशी मोहन प्यारे के रूप रस का पान प्रत्येक के नेत्रों का काम नहीं। वह तो उन्हीं दिव्य नेत्रों को होता है, जो प्रेम के अंजन से अँजे हुए होकर चमकते हैं। इन मधुर नेत्रों के द्वार से ही वह अविनाशी मोहन संतों के हृदय-निकुंज में जाकर बैठ जाता है और फिर निकाले नहीं निकलता। गोपियों के साथ रमण करने वाला मोहन इन प्रेमी संतों की आत्मा के साथ उसी प्रकार का संयोग-सुख लेता देता है, जैसा वृन्दावन के निकुंजों में लेता था। इस निकुंज में सदा बसन्त रहता है और सदा कामिनी कंत के विलास का कौतूहल भी। प्रेम में तन्मय संतात्मारूपी प्रियाओं के बंधन में बँध जाना यहाँ उसके लिये स्वाभाविक है। मनमोहन प्यारे के इस संयोग में किसी अन्य के अवलम्ब की अपेक्षा नहीं होती। साधक अपनी प्रेम-साधना में निरंतर रत रहकर इन्हें प्राप्त कर लेता है और तब उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। वह मगलगान करता है, रस-सुधा का पान करता है और अपने प्रकाशमान हृदय-निकुंज में अपने प्रभु के साथ रमण का सुख प्राप्त करते हुये कहने लगता है—

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये।
भाग बड़े घरि बैठें आये।
मंगलाचार माँहि मन राखौं, राम रसांइण रसना चाखौं।
मंदिर माँहि भया उजियारा, ले सूती अपना पिय प्यारा।
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई।
कहैं कबीर मैं कछू न कीन्हाँ, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हाँ।

—कबीर ग्रन्थावली पृ० ८७

इस प्रकार कृष्ण भक्तों की भाँति अपने हृदय में किशोरी भाव का अनुभव करते हुये ये संतात्मारूपी प्रियायें अपने सौभाग्य की सराहना करती हुई अपने को धन्य समझती हैं। जिस प्रकार मनहरण कृष्ण रस-क्रीड़ा का रसस्वाद कराते-कराते वृन्दावन के निकुंज-मंदिर से अदृश्य होकर विरहाग्नि

में अपनी गोपियों तथा प्रेमियों को तपाकर कुन्दन बना देते हैं, वैसा ही यहाँ भी होता है। संतों के हृदय-निकुंज से निकल कर जब वे माधुर्यमूर्ति अपने भक्तों को अपनी विशेष लीला का आस्वादन कराते हुये उनकी छवि का अदृश्य होकर अवलोकन करते हैं, तो नित्य रमण करने वाली संतात्मा वियोग से अत्यंत दुखी होकर कहने लगती है—

कहा करौं कैसे मिलै रे, तलपै मेरा जीव।
दादू आतुर विरहनी, कारण अपने पीव।

—संत सुधा० पृ० ४२९

विरह की इस पीर को या तो देने वाला ही जानता है या सहने वाला। इस पीर से संतरूपी ये प्रियायें भी जर्जर हो जाती हैं और निरंतर अपने साथ रमण करने वाले राम को पुकारती हुई उन्हें संदेश के द्वारा अपनी विरहावस्था से अवगत कराने की दृष्टि से कहती हैं—

दादू विरह न सह सकौं, मो पै रह्या न जाई।
कोई कहौ मेरे पीव कौ, दरस दिखावै आई।

— संत सुधा० पृ० ४५९

वियोग से व्यथित इन साधकों की आत्मा को प्रकृति का सौन्दर्य वैसे ही काट-काट खाता है, जैसे सूर आदि की गोपियों को कृष्ण के बिछुड़ जाने पर जान पड़ता था। इस स्थिति में जैसे-जैसे उन्हें अपने प्रियतम के साथ अनुभव होने वाले संयोग-सुख की याद आती है, वैसे ही वैसे वे विरहाग्नि में दग्ध होने लगती हैं, यथा—

जब जब सुरति आवती मन में तब तब विरह-अनल पर जारै।
नैननि देखौं बैन सुनौं कब यहु वेदन जिय मारै।
चातग मोर कोकिला बोलत, मानौं करवत नख-सिख सारै।
पावस रितु रंगति सब वसुधा, दारुन दुख उर दीनौं धारै।
चन्दन चन्द सुगंध सहित सबहीं, मानौं डसैं भुवंगम कारै।
सुन री सखी यहु विपत हमारी, बिन दरसन अति बिरहा बारै।
गरीबदास, सुख तबहीं लेखौं जबहीं जोति ही जोति निहारै।

—संत सुधासार पृ० ५०५

संतों की धारणा है कि बिना उस प्रियतम को रिझाये उनका दर्शन मिलना दुर्लभ है। उनका कथन है कि रिझाने की यह विधि यदि जान ली

गई होती तो न तो यह दुख ही उठाना पड़ता और न यह यौवन ऐसे ही व्यतीत हो जाता—

> जिस विधि पीव रिझाइये, सो विधि जानी नाहिं।
> जोवन जाइ उतावला सुन्दर यहु दुख मांहि।
>
> —संत सुधासार पृ० ६१६

अपने आराध्य प्रियतम के दर्शनों के लिये तड़पती हुई संतों की आत्मा की आकुलता निरंतर बढ़ती ही जाती है। प्रतीक्षा करते-करते आँखों में झाईं पड़ गई और पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये, किन्तु प्यारे प्रभु का पुनः दर्शन नहीं होता। प्राण भी तो नहीं निकलता! पता नहीं ये चितचोर रस पान कराने के बाद कहाँ चले गये—

> अजहुँ न निकसें प्राण कठोर।
> दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर।
> चारि पहर चार्यौ जुग बीते, रैनि गँवाई भोर।
> अवधि गई अजहूँ नहिं आये, कितहूँ रहे चितचोर।
> कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर।
> दादू ऐसें आतुर बिरहणि जैसें चन्द चकोर।
>
> —संत सुधासार पृ० ४२९

सच्चा भक्त अपने आराध्य की अनुपस्थिति में कभी हताश नहीं होता। उसका आशासंबल इतना सुदृढ़ है कि एक-मात्र उसी के सहारे वह अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देता है। भक्तों की आशा ही तो उनके जीवन का परम स्वाद है, रस है। इस आशा की धुरी है उनका अपना अटूट विश्वास। संत कवि सुन्दरदास की निम्नांकित पंक्तियाँ उसी विश्वास को व्यक्त करती हैं—

> सुन्दर और कछू नहीं एक बिना भगवंत।
> तासौं पतिव्रत राखिये, टेरि कहैं सब संत।
>
> —संत सुधासार पृ० ६३७

रस-साधना के पातिव्रत्य का पालन करते हुए इन रसिकों ने भी एक निष्ठ होकर मनहरण प्रियतम की उपासना की ओर अपने मोहन नंदकिशोर में परमात्मा का चमत्कार लक्षित किया। इन्हीं प्रिय प्रभु से उनकी लगन चकोर की भाँति लग गई, जिसे वे ही सुन सकते थे—

तुम ही सूँ टेका लगौ जैसे चन्द्र चकोर।
अब कासूँ झंखा करौ मोहन नंदकिसोर।

—सत सुधासार द्वि० खं० पृ० २०८

हृदय में विराजित प्रेम की यह लगन इन ज्ञानी साधकों को विह्वल बनाकर उनके नेत्रों में झलकती है। इसके कारण वे रसमत्त हो जाते हैं और अपने प्राणनाथ के चरणों को पकड़ने के लिये आकुल हो जाते हैं। उन्होंने अपना सर्वस्व अपने प्रभु को समर्पित कर दिया है, क्योंकि उनकी मान्यता है कि जो कुछ उनके पास है उसके एक-मात्र स्वामी, उनके आराध्य प्रियतम ही हैं, अस्तु उनको उनकी वस्तु का समर्पण होना ही चाहिये।[1] गोपियों के समान उत्कृष्ट आत्मसमर्पण की भावना से सराबोर ये साधक दिन-रात उस आत्माराम को नहीं भूलते और यही कहते हैं—

प्राणपति न आये हो, विरहिण अति बेहाल।
बिन देखे अब जीव जातु है, बिलम न कीजै लाल।
विरहिणि व्याकुल केसवा निसदिन दुखी बिहाइ।
जैसे चंद कुमोदिनी बिन देखे कुमिलाइ।
खिन-खिन दुखिया दगधिये, विरह-विथा तन पीर।
घरी पलक में विनसिये, ज्यूँ मछरी बिन नीर।
पीव-पीव टेरत दिक भई, स्वाति सुरूपी आव।
सागर सलिता सब भरे, पँर चातिग कै नहिं चाव।
दीन दुखी दीदार बिन "रज्जब" धन बेहाल।
दरस दया करि दीजिये, तौ निकसै सब साल।

—संत सुधासार पृ० ५१७

वियोग को परिवर्द्धित करने वाली प्राय: सभी दशाओं से ये रसिक व्यथित हो रहे हैं। लाल को देखने की लालसा से ही उनका प्राण अभी तक अटका है। केशव की याद में अब वे अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते। प्राणनाथ को टेरते-टेरते बहुत समय व्यतीत हो गया, किन्तु दर्शन की आशा अब भी लगी है। उनके नेत्र हरि के साक्षात्कार के मधुर रस का पान

---

१ मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै है मेरा।

—कबीर ग्रन्थावली पृ० १९

करने के लिये निरंतर तरसते रहते हैं, चित्त की शांति खो जाती है और शरीर वियोग के कारण सूख जाता है—

माइ हो हरि-दरसन की आस !
कब देखौं मेरा प्रान-सनेही, नैन मरत दोउ प्यास।
पल छिन आध घरी नहिं बिसरौं, सुमिरत सास उसास।
घर बाहर मोंहि कल न परत है, निसदिन रहत उदास।
यहै साच सोचत मोहि सजनी, सूकै रगतरु मांस।
"सुन्दर" बिरहिन कैसे जीवै, विरह विथा तन त्रास।

—संत सुधासार पृ० ६५३

प्रियतम के मधुर संयोग का रस जिसने एक बार पी लिया फिर वह सदा के लिये मतवाला हो जाता है। इस रस का पान करने के हेतु अनेक यातनाओं के होते हुए भी रसिक ज्ञानी बार-बार अपने प्रिय को पुकारता हुआ कहता है—

रतिवन्ती आरति करै, राम सनेही आव।
दादू औसर अब मिलै यहु विरहिन का भाव।

—संत सुधासार पृ० ४५७

बिरहिन के भाव को हृदयंगम करना जितना कठिन है, उससे कहीं अधिक कठिन कार्य है उसके प्यारे प्रभु के रहस्य को जानना। इसीलिये रसिकों ने ज्ञान से अपनी अल्पज्ञता को माप कर प्रेम से अपने प्रभु को सर्वस्व सौंप दिया था और हृदय में उसकी रहस्यमयता का अनुभव वसुन्धरा के विशाल निर्माण को देखकर कर लिया था। जिस मधुर उपासना के अवलम्ब से अपने रहस्यमय प्रभु एव पिया को पाने की चेष्टा इन संतों ने की, उसमें विरह के तीव्र निवेदन के साथ तन्मयता और अनुराग की प्रबलता विद्यमान है। उनकी इस उपासना में प्रियतम को सुख देने एवं प्रसन्न करने की भावना का समावेश है, स्वयं की कामनातृप्ति का उल्लास नहीं। अपनी इस साधना में संतों ने गोपियों के प्रेम दर्श का अनुसरण तो किया, किन्तु सूर आदि कृष्ण भक्तों की भाँति गोपियों के माध्यम से अपने भावों को प्रकट करने की पद्धति नहीं अपनाई। ये लोग अपनी भावाभिव्यंजना तथा उपासना के स्वयं ही माध्यम थे। हाँ एक बात अवश्य रही कि इष्टदेव के दृश्यमान संयोग-वियोग के अभाव में रस की कलाओं का प्रत्यक्षीकरण न हो सका। ध्यान देने की बात यह भी है कि कृष्ण-भक्तों के मधुर काव्य में जिस प्रकार गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में मतवाली

होकर विरह-व्यथित हो जाती हैं और कृष्ण राधिका के वियोग में, उस प्रकार का दृश्य संत काव्य में नहीं दिखाई देता। अपने भक्त के विरह में व्याकुल भगवान की भावना का भी यदि थोड़ा सा चित्रण ये संत कर सकते तो निस्संदेह अभिव्यंजना की दृष्टि से (उपासना की दृष्टि से नहीं) इनका काव्य अधिक मधुर होता, वैसे इनके मधुर प्रेम में किसी प्रकार की कसर नहीं दिखलाई देती। इस माधुर्य के कारण ही उनके युग में चमचमाती हुई तलवारें फौरन म्यान में चली गई थीं। कोटि बरस तक किसी का जीना संभव नहीं हुआ और न इस लोक में किसी का अमर पद पाना ही बड़ा महत्वपूर्ण रहा, इसीलिये इन संतों ने समाज को, नित्य रमण करने वाले प्रियतम से प्रेम करने का उपदेश किया और कहा जीवन की सफलता इसी में है—

कोटि बरस क्या जीवणां अमर भये क्या होय।
प्रेम भगति रस राम बिन, का दादू जीवनि सोया।

—संत सुधासार पृ० ४७२

प्रेमाश्रयी साधकों में माधुर्य

ज्ञानियों के ब्रह्म में, योगियों के परमात्मा में और भक्तों के भगवान में परम सौन्दर्य के कारण जैसा आकर्षण विद्यमान है, प्रेमाश्रयी साधकों के "प्रिय" में उससे कम दृष्टिगोचर नहीं होता। ये प्रेमाश्रयी साधक हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत "सूफी संत" नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सूफी ही उजड़ी हुई बस्तियों को बसाते हुए जन-जन के हृदय में प्रेम का बीज बोते हुये अपने उस प्रिय प्रभु को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, जो नित्य सौन्दर्यवान एवं आनंद का सागर है। पृथ्वी और आकाश का कण-कण इसी के तेज से प्रकाशमान होकर गतिशील होता है। इन प्रेमियों का यह इष्टदेव तो उस पारस के समान है, जो सभी को कुन्दन बनाने की क्षमता रखता है। सूफियों की दृष्टि में प्रेम ही इस प्रिय को प्राप्त कराने का एक-मात्र अवलम्ब है। कृष्ण भक्तों के इष्ट की भाँति सूफियों का आराध्य प्रिय भी किशोर वय से युक्त है। अपने इस अव्यक्त प्रिय की छाया को इन्होंने परम आत्ममयी एवं शक्ति संपन्ना नारी में देखा और उसके संयोग को पाकर परम माधुर्य का रसास्वादन किया। प्राचीन सूफियों में सहज संयोगी इस प्रिय के संयोग का कोई वाह्य माध्यम न था और उन्होंने इसके एकान्त दिव्य मिलन का अनुभव करते हुये सांसारिक

वस्तुओं से अपनी आँखें बिलकुल मोड़ ली थीं।[1] किन्तु जायसी की साधना ने प्रेम की शक्ति से सांसारिक पति-पत्नी के संयोग में परमात्मा आत्मा के मधुर मिलन की झाँकी को प्रत्यक्ष करते हुए प्रेम मार्गियों को एक नई दिशा भी दी और प्रेम के अलौकिक आदर्श का प्रतिपादन भी किया। सांसारिकता से प्रेमी का सम्बन्ध न होने के कारण इन प्रेमियों ने संसार को उस परम प्रभु के प्रेम का प्रसार ही मान लिया और भगवत-प्रेम में सराबोर हो गये। इन सूफी भक्तों की दृष्टि में साध्य भी वही प्रेम है और साधन भी। इस प्रेम के कारण अम्ल, मधुर, अरूप रूपवान, ताम्र स्वर्ण, अग्नि प्रकाश, दुःख आनंद, शूली सिंहासन, काँटा फूल, और मृत्यु जीवन बन जाता है। कितना सामर्थ्यवान है यह प्रेम, जिसने जड़ को चेतन और शुष्क को सरस बनाकर रस सागर में डुबो दिया। गोपियाँ इसी प्रेम में मतवाली हो गई थीं और राधा ने इसी प्रेम से श्याम सुन्दर के हृदय को जीतकर उनका नित्य संयोग प्राप्त कर लिया था। भला प्रेममार्गियों से यह बातें छिपी रह सकती हैं! उन्हें इसका सब रहस्य पूर्व से ही ज्ञात रहता है और तभी वे अपने लक्ष्य (प्यारे प्रभु) को पाने के लिये इसी प्रेम के मार्ग पर बेधड़क चलते हैं। उनका तो यह अटल विश्वास है कि जिस प्रेम ने उन्हें इस जगत में लाकर छोड़ा है, वही प्रेम उन्हें उस स्थान पर भी ले जायेगा जहाँ उनका परम रूपवान प्यारा रहता है[2]। रागानुगा भक्ति

---

1 "It is true that in the experience of union with God, there is no room for a mediator. Here the absolute divine unity is realised and of course, we find espesially among the ancient sufis, a feeling that God must be the sole object of adoration. that any regard for other objects is an offence against him".

"The Idia of Personality in Sufism" Page 62.

2 Sufis take the course af love and devotion to accomplish their highest aim because it is love which has brought man from the world of unity to the world of variety and the same force again can take him to the world of unity from that of variety".

—Sufi Message By Proff. Inayat Khan
Q. on P. 36 Kabir ka Rahasvavad.

की भाँति यह प्रभुप्रेम लोक-मर्यादा की चिंता से दूर भगवत पक्ष की मधुर साधना का दिव्य संदेश देता है। पद्मावत में, प्रेममार्गी रसिक जायसी का यह ईश्वरोन्मुख प्रेम, अपनी संपूर्ण छबि के साथ उपस्थित हुआ है और प्रियतम के प्रेम में वशीभूत उनकी आत्मा प्रारंभ से ही अपने प्यारे के वियोग में तड़पती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार 'जायसी की उपासना' माधुर्य-भाव से प्रेमी और प्रिय के भाव से है'।[1] प्रियतम के इस पूर्व सम्बन्ध के आधार के ही कारण प्रेमाश्रितों की इस साधना की विशेष महत्ता है। जिस प्रेम गाथा के सहारे जायसी ने अपने प्रेम सिद्धान्तों का प्रसार किया, उसका एकमात्र कारण था अपनी साधना को मधुर रूप में उपस्थित करना। यह प्रेम गाथा केवल दिखावा है, किन्तु इसके अन्तर में परमसंयोगी प्रभु के संयोग की अपार रसराशि छिपी है। प्रेमाश्रित भक्तों की भाँति जिसके हृदय में उसे पाने की टीस उत्पन्न हो जाय, वही सच्चा साधक है और वही उसे प्राप्त भी कर सकता है। साधक का अहं यहाँ समाप्त हो जाता है और प्रिय-दर्शन की उत्कट अभिलाषा का उदय हो जाता है। दर्शनों की यह लालसा उसके हृदय में मिलन की आकुलता को पैदा कर हृदय में सर्वस्व त्याग की भावना का समावेश कर देती है। कृष्णभक्ति उस मधुरिमा का आस्वाद करने के लिये इसी कारण विरक्त हो गये थे। पद्मावत काव्य का रत्नसेन भी उस माधुर्य को प्राप्त करने के लिये संसार के समस्त बंधनों को तोड़कर योगी बन जाता है और प्रेम-पथ की विघ्न-बाधाओं की चिंता न करते हुए प्रिय-मिलन के हेतु चल पड़ता है। संसार में इस समय सिवा उस प्रियतम के प्रेम के राजा को कुछ नहीं दिखाई देता—

तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझ।
पेम छाँड़ि नहिं लोन किछु जो देखा मन बूझि।

—जायसी ग्रंथावली पद्मावत-राजा सुआ सम्वाद खंड, पृ० ३९

रत्नसेनरूपी भक्त ने बड़े विश्वास के साथ अपने को प्रेम के समुद्र में डाला था और कहा था—

प्रेम समुद्र जो अति अवगाहा। जहाँ न वार न पार न थाहा॥
जो एहि खीर-समुद्र मँह परे। जीव गँवाइ हंस होइ तरे॥

—वही, राजा—गजपति सं०ख०पृ०६०

---

१ जायसी ग्रंथावली—भूमिका पृ० १५६—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

किन्तु उद्धार तो उसी का होता है जो इस प्रेम के समुद्र को लाँघ जाता है। इसे लाँघने पर अमरावती के अनन्त सुख प्राप्त हो जाते हैं। रत्नसेन ने तो उसी समुद्र मे अपनी नौका उतारी थी, जो प्रेम-समुद्र का अंश मात्र है। ऐसे प्रेमी को न तो स्वर्ग की चाह है और न नरक की चिंता। उसका तो एक मात्र लक्ष्य है—प्रेम-मार्ग पर लाने वाले प्रिय का संयोग प्राप्त करना।[1] स्वर्ग को तुच्छ समझने वाली और मोक्ष का तिरस्कार करने वाली कृष्ण की प्रियाओं की निष्ठा के समान निष्ठा को अपने हृदय में धारण कर रसिक योगी (रत्नसेन) आत्मा से परमात्मा के सयोग के हेतु जाता है। प्रेम की पवित्रता और पद्मावती का ईश्वरत्व जायसी के इस प्रेम-काव्य में इसीलिये स्वतः सिद्ध है। जायसी को इस प्रेम को लेकर भगवत्पक्ष में भी घटाना था। ईश्वर के प्रति प्रेम का उदय पहले भक्त के हृदय में होता है। ज्यों-ज्यों यह प्रेम बढ़ता जाता है त्यों-त्यों भगवान की कृपा-दृष्टि भी होती जाती है, यहाँ तक कि पूर्ण प्रेम-दशा को प्राप्त भक्त भगवान को भी प्रिय हो जाता है, प्रेमी होकर प्रिय होने की पद्धति भक्तों की है। भक्ति की साधना का क्रम यही है कि पहले भगवान हमे प्रिय लगें, पीछे अपने प्रेम के प्रभाव से हम भी भगवान को प्रिय लगने लगेंगे।[2] इस दृष्टि से परम प्रेमी जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती की सृष्टि की थी। दोनों एक दूसरे के प्रेमी और प्रिय हैं। जिसे प्राप्त करने के लिये रत्नसेन योगी हुआ था (जिसका सकेत ऊपर किया जा चुका है)। वह योग आत्मिक था। यहाँ भगवान भक्त के लिये सवरस्व हैं और भक्त भगवान के लिये। रत्नसेन पद्मावती को ईश्वर मानता है और पद्मावती रत्नसेन को। दोनों दोनों को प्राप्त करने के हेतु माधुर्यरस-सरिता में बहते रहते हैं। सिंहल द्वीप खंड में रत्नसेन से भेंट होने पर स्वयं शंकर जी ने पद्मावती के ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया है और कहा है कि पद्मावती का निवास स्थान वही है, जहाँ न तो भौंरा जा सकता है और न किसी पक्षी का ही प्रवेश हो सकता है। शंकर जी के निर्देशात्मक-सिद्धि गुटके से ही रत्नसेन वहाँ पहुँचकर उसका दर्शन प्राप्त कर सकता है और तब दिव्य संयोग।[3]

---

१ जायसी ग्रंथावली पद्मावत—सात समुद्र खंड पृ० ६६

२ जायसी ग्रथावली पद्मावत—भूमिका पृ० ५४

३ तहाँ देखु पद्मावति रामा। भौंर न जाइ न पंखी नामा।
अब तोहि देउं सिद्धि एक जोगू। पहिले दरस होइ तब भोगू।
—जायसी ग्रंथावली—सिंहलद्वीप खंड पृ०६९

इधर पद्मावती स्वयं रत्नसेन को पत्रिका भेजते हुये जो लिखती है, उससे भी उसका ईश्वरत्व कवि की दृष्टि में सिद्ध हुआ है।[1] इतना सब होते हुये भी पद्मावती अपने पत्र में लिखती हुई कहती है कि—

आवहु सामि सुलच्छना, जीव बसै तुम्ह नांव।
नैनहिं भीतर पंथ है, हिरदय भीतर ठांव।
—जायसी ग्रंथावली—राजा गढ़छेका खंड, पृ०१०१

रत्नसेन की तरह पद्मावती का प्रेम भी प्रबल है, उसके नेत्र उसके प्रियतम के लिए प्रवेश-द्वार हैं और हृदय उसके प्रियतम का निवास-स्थल। इस रमणीय स्थल पर वह अपने स्वामी को आने आग्रह का करती है। इस पद्मावती ने जब तक अपने प्रभु का नाम नहीं सुना था, तब तक किसी पीर का अनुभव नहीं किया था, किन्तु प्रियतम का नाम सुनते ही उसका धैर्य छूट जाता है और वह भी उसी प्रकार व्याकुल होती है, जिस प्रकार रत्नसेन। कृष्ण-भक्ति के रसिक संतों ने भी राधा-कृष्ण की इस आकुलता का बड़ा सरस वर्णन प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार चन्द्रमा को देखने वाली चकोर की सारी वृत्तियाँ प्रिय में एकाग्र हो जाती हैं, उसी प्रकार रत्नसेन की वृत्ति पद्मावती में और पद्मावती की रत्नसेन में दृष्टिगोचर होती हैं। जायसी का विश्वास है कि प्रेम के पंथ के पार दिव्यलोक में प्रियतम का सामीप्य जिसने प्राप्त कर लिया, उसका संयोग नित्य है। उस उत्तम कैलास में ही आनंद का निवास है और अमरत्व का भी, यथा—

प्रेम पंथ जो पहुँचै पारा। बहुरि न मिलै आइ एहि छारा॥
तेहि पावा उत्तिम कैलासू। जहाँ न मीचु, सदा सुख-वासू॥
—बोहित खंड (जायसी ग्रंथावली) पृ० ६२

रत्नसेन ने उस उत्तम कैलास में पहुँचकर जब प्रिय के आमंत्रण का (हीरामन तोते के द्वारा पाया हुआ पत्र) पत्र पाया, तो वह आनन्दविभोर हो गया और कहने लगा—

जहाँ पिरीतम वै बसहिं, यह जिउ बलि तेहि बाट।
वह जो बोलावै पाँव सौं, हौं तहँ चलौं लिलाट।
—राजा गढ़छेका खंड (जायसी ग्रंथावली) पृ०१०१

---

१ हौं रानी पद्मावती सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौ मैं तेहि के, प्रथम करै अपनास।
—जायसी ग्रंथावली–राजागढ़छेका खंड पृ०१००

इधर तो प्रेमी अपने प्रिय के निकट मस्तक के बल जाने के लिये तैयार है और उधर प्रिय अपने प्रेमी के वियोग में बेताब है। पद्मावती को अब एक-एक क्षण युग के समान बीत रहा है। पिय-मिलन के अभाव में उसका सारा शरीर व्याकुल है। विरह ने काल का सा रूप बनाकर उसके शरीर को जीर्ण-शीर्ण करना प्रारंभ कर दिया है। सखियाँ पद्मावती की इस विरहाकुल अवस्था को देखकर अत्यंत दुखी हैं, किन्तु—

विरह काल होइ हिये पईठा। जीउ काढ़ि लै हाथ बईठा॥
खिनहिं मौन बाँधे खिन खोला। गही जीभ मुख आव ना बोला॥
खिनहिं बेझि के बानन्ह मारा। कंपि कंपि नारि मरे बेकरारा॥
कैसेहु विरह ना छाँड़ै, भा ससि गहन गरास।
नखत चहुँ दिसि रोवहिं, अंधर धरति अकास।

—जायसी ग्रंथावली—गन्धर्वसेन मंत्री खं० पृ० १०७

चन्द्रमुखी पद्मावती को राहु रूपी विरह ने ग्रसित कर मृत तुल्य कर दिया। प्रीति की लता में जकड़ी हुई पद्मिनी विवश है। प्रेमाश्रित जायसी की धारणा है कि प्रीति-लता में फँस कर दुख उठाने वाले को ही प्रियतम की प्राप्ति होती है और तब उसी के द्वारा माधुर्य रस का पान भी, यथा—

प्रीति बेलि अरुझै जब तब सुछाँह सुख-साख।
मिले पीरीतम आइके दाख-बेलि-रस चाख।

—जायसी ग्रंथावली— गंधर्वसेन मंत्री खंड पृ० १०८

सूफी संत कवियों में प्रिय-विरह की भावना अत्यधिक तीव्र है। विरह ही उनकी साधना का एक मात्र आधार है। ऊपर हमने जायसी ग्रन्थावली से कतिपय अंश उद्धृत करके इस तथ्य को देखा है। अन्य सूफी कवियों ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है। कुतबन कृत मृगावती में भी राजकुमार की दोनों रानियाँ प्रियमिलन की उत्कंठा में ही सती होती हैं—

रुकमिनी पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंती सत सों सति भई॥
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान संपत्ति है, जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता।[1]

---

१ स्व० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ९७

विरह अवधि अवगाह अपारा। कोटि माँहि एक परै त पारा ॥
बिरह कि जगत अंबरिथा जाही। बिरह रूप यह सृष्टि सबाही ॥

—मधु मालती

जायसी के ही पदचिन्हों का अनुसरण करने वाले सूफी कवि उस्मान भी विरह की स्थिति का अनुभव करते हैं—

ऋतु बसंत नौतन बन फूला। जहँ तहँ भौंर कुसुम रँग भूला ॥
आहि कहाँ सों भंवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसंत उजारा ॥

—चित्रावली

प्रेम ही परमात्मा की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। इस तथ्य पर विश्वास प्रकट करते हुये नूर मुहम्मद का यह कथन देखिये—

आगम पुर इन्द्रावती कुंवर कलिंजर राय।
प्रेमहु ते दोउन्ह कहँ दीन्हा अलख मिलाय।

—इन्द्रावती

अपनी साधना की इस मान्यता को सार्थक करने के हेतु ही सूफियों ने विरह के महत्व का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि विरह से ही प्रिय के संयोग का सुख मिलता है और प्रेम में परिपक्वता भी आती है। प्रभु के वियोग की चरम परिणति संयोग में होती है। रत्नसेन पद्मावती से और पद्मावती रत्नसेन से मिलकर एकाकार हो जाते हैं। रस की बरसात में भींगते हुये दोनों को अपनी सुधि-बुधि नहीं रहती। सरोवरों में खेलने वाले हंस के जोड़े की भाँति वे तन्मयता की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।[1]

सूफियों की साधना में भी कृष्ण भक्तों की भाँति ही गुरु-कृपा एवं प्रभु-कृपा से प्रेमियों को यह दिव्य संयोग मिलता है। सूरदास के शृंगार वर्णन की भाँति ही जायसी ने भी षोडश शृंगार का वर्णन किया है। जरा सी अश्लीलता का आभास पाते ही ये सूफी अपने वर्ण्य विषय में अलौकिकता का

---

१ कौतुक केलि करहिं दुख नंसा।
खूँदहिं कुरलहिं जनु सर हंसा ॥
जनहुँ औटि कै मिलि गये, तस दूनो भए एक।
कंचन कसत कसौटी, हाथ न कोऊ टेक ॥
—जायसी ग्रन्थावली पद्मावती-रत्नसेन भेंट खंड
(ना० प्र० स०) पृ० १३९।१४०

अविलम्ब समावेश कर देते हैं, जिससे साधकों को सूक्ष्मातिसूक्ष्म का सान्निध्य प्राप्त करने में तनिक भी रुकावट न हो। अपनी रचनाओं में कहीं कहीं तो जायसी आदि कवियों ने आत्मा-परमात्मा के मिलन के वैसे ही वर्णन प्रस्तुत किये हैं, जैसे सूरसागर में प्राप्त होते हैं। 'भक्ति का विकास' नामक ग्रन्थ में डा० मुंशीराम शर्मा ने जायसी द्वारा रचित एक 'महरी बाइसी' नामक (२२ पदों से युक्त) ग्रन्थ का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है— "जायसी ने इस स्थल पर योगयुक्ति पूर्वक मन को मारने, भोगों से विरत होने तथा कतिपय अन्य साधनों का उल्लेख किया है। अन्त में आत्मा और परमात्मा के विवाह का वर्णन किया है। बारहवें पद में आत्मा का श्रृंगार-वर्णन वैसा ही है. जैसा सूरसागर में राधा का श्रृंगार है। वही आभूषण हैं और वैसी ही उपमायें हैं। आत्मा रूपी प्रिया अपने प्रिय परमात्मा को गंभीर गुणों से संयुक्त और महनीय रूप में अनुभव करती है। यह प्रिय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओं में विद्यमान है। इसकी प्राप्ति तभी होती है. जब अपने आपको समाप्त कर दिया जाता है।"[1] रत्नसेन ने अपने को समाप्त करके ही पद्मावती को प्राप्त किया था। जिन विघ्न बाधाओं का समावेश जायसी द्वारा पद्मावत में किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि प्रेमाश्रित रसिकों ने नितांत शुद्धरूप से त्याग एवं सहिष्णुता को अपनाकर अपनी उस दिव्य भावना को भगवान के प्रति लगाने का संदेश दिया है, जो सांसारिक विषयों में आसक्त रहती है।

राम भक्ति काव्य में माधुर्य

उपासना के क्षेत्र मे राम और कृष्ण के अवतारों की गणना सर्वप्रकार से संपन्न तथा सर्वशक्तिमान के रूप में की जाती है। परब्रह्म प्रभु के ये अवतार जब इस भूमि पर होते हैं, तब उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। जहाँ तक राम और कृष्ण के अवतारों का सम्बन्ध हैं, वे तो अपने भक्तों के हृदय में प्रेम के परम आनंदमय स्रोत को प्रवाहित करने तथा अपनी लीला-क्रीडा का प्रसार कर उन्हें रसास्वादन कराने की दृष्टि से हुये हैं। इस लीला-क्रीडा के माधुर्य का पान करता हुआ भक्त अपने भगवान को अपने हृदय में नित्यरूप से प्रतिष्ठित कर लेता है और भगवान अपने मधुर भक्तितत्व की प्रतिष्ठा भक्त के हृदय में सदा के लिये कर देते हैं। मधुर भक्ति के अवलम्ब से भगवान के सान्निध्य को प्राप्त कर रसिक भक्त अपने प्रियतम रूप आराध्य-

---

१ भक्ति का विकास पृ० ५४०

देव के साथ रमण करता है और प्रभु—वे भी अपने उन भक्तों में रमण कर परमानंदमय होते हुये परमानंद को प्राप्त करते हैं।[1]

पूर्व अध्यायों में अभिव्यक्त राधा-कृष्ण की जिस अखिल रसामृत-मूर्ति की छवि एवं लीला का दिग्दर्शन कराया गया वह नित्य है। उनका संयोग, लीला अथा माधुर्यादि सब कुछ नित्य है। इसी प्रकार राम भक्ति के रसिक संप्रदायों में श्री सीता-राम को रस स्वरूप मान कर उनकी लीला-क्रीडा को भी नित्य रूप में स्वीकार किया गया है। इन रामोपासक रसिक भक्तों की दृष्टि में नित्य संयोगी श्री सीता-राम भी अपने मधुर रस का प्रसार करने के लिये ही दो हो गये हैं और नित्य नवीन लीलाओं को साकेत में करके आनंद के मधुर रस-सागर में नहाया करते हैं।

राम-भक्ति में मधुर रस की साधना का प्रचलन निस्सन्देह १६वीं शताब्दि के उपरांत हुआ है। इसके पूर्व भक्तों ने राम को मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में देखते हुए, उनकी शील, शक्ति तथा सौन्दर्य से युक्त झांकी का दर्शन किया था। भक्तों के ये इष्टदेव गीता के अनुसार पृथ्वी पर इसलिए आये थे कि उन्हें साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश करना था और साथ ही अपने धर्म की स्थापना कर सबको अभय कर देना था। किन्तु परमशांति का अनुभव करने वाले भक्तों ने राम के इसी विग्रह को आगे चलकर चुना, जो सौन्दर्य-माधुर्य से मंडित था और जिसमें उनके हृदय को रससिक्त कर देने की राधा-कृष्ण की भाँति शक्ति भी विद्यमान थी।

यह बात तो निश्चित रूप से मान्य है कि सीता-राम की उपासना करने वाले रसिक संप्रदायों पर श्रीमद्भागवत की रसमयी पद्धति का प्रभाव पड़ा, फलतः यहाँ भी ऐसे साहित्य का निर्माण-कार्य प्रारंभ हुआ, जिसमें सहस्रों सखियों से राधाकृष्ण की भाँति ही सेवित सीता-राम के मधुर लीला संयुक्त वर्णन प्रस्तुत किये गये। उज्ज्वलनीलमणि आदि कृष्ण-भक्ति के ग्रंथों की भाँति राम-भक्ति के मधुर रस का आस्वाद कराने वाले हनुमत्संहिता आदि ग्रंथों की रचना यहाँ इस संप्रदाय में भी की गई और राम की रसमयी

---

१ रमन्ते रसिका यस्मिन् दिव्या नेक गुणाश्रये।
स्वयं यत्रमते रामस्तेन प्रयुज्यते।

—हि०सं०१८,५

उपासना करने वालों को रसिक माना जाने लगा।[1]—यह सब कुछ होते हुए भी, जिस प्रकार राधाकृष्ण की मधुर भक्ति की अभिव्यंजना हुई, मर्यादा-पुरुषोत्तम की लीला का वैसा स्वच्छंद चित्रण न हो सका। राधाकृष्ण की मधुर भक्ति का प्रतिपादन करने वाले ग्रंथों तथा काव्यों में जिस प्रकार राधा की अंतरंग ललितादि सखियों का वर्णन प्राप्त होता है, उसी प्रकार सीता-राम के संयोग को कराने वाली चन्द्रकला आदि अनेक अंतरंग सखियाँ यहाँ भी उपस्थित की गई हैं।

राधा की भाँति सीता जी को भी राम की आह्लादिनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। श्री सीता जी की कृपा से ही राम का सान्निध्य, उनकी झाँकी और उनकी सेवा प्राप्त होती है- ऐसा इन साधकों का भी विश्वास है। साधक को यहाँ पीत वस्त्र धारण करते हुए, मस्तक पर बिन्दु के साथ पीला तिलक धारण कर निरंतर यहाँ भी कृष्ण-भक्ति के मधुर साधकों की भाँति किशोरी रूप की भावना करनी पड़ती है। बिना इस भाव के राम की दिव्यकेलि को राधा की दिव्य केलि की भाँति नहीं देखा जा सकता। इस नित्य संयोग को देखने के लिये स्वयं श्रीहनुमान जी ने भक्तों के विश्वास के अनुसार चारुशीला नामक सखी का रूप धारण किया था।[2]

---

१ श्रीरामस्य माधुर्यरीत्यापि बहुस्त्री वल्लभत्वं सिद्धैः सर्वस्त्री स्वामिन्या श्रीजानक्यातद्विरोधाश्रवणाच्च। ऐश्वर्यरीत्यातु श्रीरामस्य सर्वं चिदचिच्छेषित्वेन सर्वजीवभोक्तृत्वोपपत्या सर्वजीव भर्तृत्व-निष्पत्तेः ये भर्तृभार्याभावेन श्रीरामं भजते त्वेषामेव रसिकत्वमुपपद्यते।

—श्रीरामस्तवराज हरिदासकृत भाष्य पृ० १६३

२ पीत वसन कंठी युगल पीत सु तिलक लिलार।
बिन्दु चन्द्रिका मुद्रिका सहित नाम युग सार।
पुरुष भावना जो हिय धारे। दास सखादि तदपि प्रभु प्यारे॥
गुप्तविहार न देखन आवहिं। हठवश परेउ दूरि पछितावहिं॥
हनुमदादि शिव धरि अलिरूपा। निरखहि गुप्त रहस्य अनूपा॥
चारुशिला हनुमान सोइ, शिवसुशीला बाम।
चन्द्रकला श्री भरत पुनि लखन लछिमना नाम॥

—प्रेमलताजीकृत वृहद उपासना रहस्य
(रा० भ०सा०मे० म० उ० पृ०३४६)

जिस प्रकार विलासी पुरुषों को स्त्री, प्यासों को जल, भ्रमरों को कमल, कमलों को सूर्य, मुनियों को ज्ञान प्यारा होता है, इन भक्तों को प्रभु भी वैसे ही प्रिय होते हैं। महाराजदास जी ने तो यहां तक कहा है कि—

दीपक पतंग जिमि राग है कुरंग जिमि,
मणि है भुजंग घृत पावक अहार हो।
नीर हू को क्षीर जिमि प्राण को शरीर जिमि,
नैन को पलक मोर घनरव प्यार हो।
चातक को स्वाति जल पातक को पाप भल,
सती शिव पिव रति भावै जिमि मार हो।
जन महाराज कर जोरि कहै बार-बार,
तिमि प्रिय लागो सिया कोशला कुमार हो।

—सीताराम शृंगार रस—१

जिनके प्रेम का आदर्श यह हो, उन्हें पतिरूप में ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि वे ही समस्त जीवों के एकमात्र प्रियतम हैं:—

देखेउ ग्रंथ खोजि सब भाई।
जीव मात्र तिय, पति रघुराई।

—प्रेमलताजी कृत—बृह्द उपा० र०—२

ऐसे प्यारे सीतापति रघुनाथ को, कृष्ण रसोपासक भक्त की भांति ही, रामोपासक भी आह्लादिनी सीता जी के साथ नित्य क्रीड़ा में रत रंगमहल में देखता है। युगल आराध्य प्रभु भी अपने भक्त के मन की वीणा के मधुर स्वरों में ऐसा रस उँडेल देते हैं कि वह मस्त होकर गा उठता है:—

रंग महल दोउ राजत रंग रसीले।
लावन लंक अंकन की सानिधि भुज अंसनि गुन सीले।
नैन की बतरावनि भावनि लावनि बोलनि बदन हंसीले।
उरहित भाव मिले रुचि वरणित करि नित केलि कबीले।
सखि जन मन की प्रीति चातुरी मिली जुहरत रति सो रतीले।
कृपा निवास श्री जानकी वल्लभ रहसि उपासिक हीले।

—कृपानिवास पदा० ३

१ रा० भ० सा० में म० उ० पृ० २७५
२ रा० भ० सा० में म० उ० पृ० ३४६
३ रा० भ० सा० में म० उ० पृ० २३२

कितना दिव्य संयोग है, यह इस संयोग में प्यारे राम के नेत्र आह्लादिनी सीता के रूप-सौन्दर्य में उलझ जाते हैं और आनंदातिरेक में राम सीता के वश में और सीता राम के वश में होकर तन्मय हो जाते हैं। दोनों दोनों के सर्वस्व हैं। रसमयी वार्ता करते हैं और बड़े से बड़ा त्याग करने में तनिक भी नही हिचकते। निरंतर इस संयोग की लालसा में रत सीता जी तथा राम दोनों के प्रेम का प्रचुर मात्रा में परिवर्द्धन होता है, ऐसे छबिमान युगल प्रभु के चिंतन में रत रसिक ही उनके इस दिव्य रूप का दर्शन करते हैं—

पिय के नैंन प्रिया छबि उरझे सिया दृग पिय छबि लागे।
मनु द्वै रूप सरोवर मीनन सदन पलटि सुख रागे।
प्रीतम प्राण बसै प्यारी वश प्यारी पिया के आगे।
कहि लालन मैं सर्वसु तुम्हरो मैं तुम्हरी बड़ भागे।
तुम्हरी मया बड़भागि विलासनि विलसहु सुख मन माँगे।
लाल रावरो हित सु अमोलक मन सब हे तन त्यागे।
तुमसों लाल निहाल चरण लगि मानो भाग-सुभागे।
राज रावरी वस्तु प्रान तन पगे रहो जिमि पागे।
यह सुख सुधा सदा कोउ पीवै कोउ भूले विष दागे।
कृपानिवास प्रसाद खाद सों प्यायो जन निशि जागे।

—कृपा० निवासपदा०—१

इस मधुर दर्शन में भक्त आनंद विभोर होकर अपने प्रभु को सब कुछ देता है। जनक दुलारी और दशरथ नंदन का गौर-श्यामल गात, नवलनिकुंज में सखियों द्वारा घिरे हुये राधा कृष्ण की भाँति ही देदीप्यमान हो उठता है—

मैं वारी युगल पर वारी।
दशरथ जू के श्याम सलोने गोरे श्री जनक दुलारी।
नवल निकुंज नवल बनिता चहुँ दिशा लसति अति प्यारी।
गान सरस बीना मृदंग धुनि युगल प्रिया बलिहारी।

—युगलप्रिया पदा०—२

---

१ रा०भ०सा०मे०म०उ०पृ०२२८

२ रा०भ०सा०मे०म०उ०पृ०२५५

यहाँ भक्त उस छवि पर बलिहार जाता है। कितनी विचित्र है सीता राम की यह रसमयी लीला ? पुरुषभाव में भला यहाँ कोई पहुँच सकता है ? किसी की तो गति नहीं। रात-दिन सखीरूप से ही रसिक इसे देखते हैं और तनिक देर के लिए भी युगल को आँखों ओट होते देखकर व्याकुल हो जाते हैं—

ललित लीला लाल सिय की त्रिगुन माया पार।
पुरुष तँह पहुँचे नहीं केवल अली अधिकार।
रसिक अलि जीवन यही ध्यावैं रटैं दिन रैन।
बिनु जुगल रस लीला लखे छिन पल हिये न चैन।

—रसिकअलिकृत, आन्दोलरहस्य दीपिका—[1]

अपने भक्त की व्याकुलता को देखकर प्रभु चिन्तित हो जाते हैं। भक्त के वश में होने के कारण वे भी सामने से नहीं हटते और उसे अपने शयन-सुख के सौन्दर्य का पान कराते हैं। भक्त भी सेवानंद का लाभ प्राप्त करने के हेतु जगमगाते हुये मणिमय मन्दिर में पहुँचकर धीरे-धीरे गा उठता है—

सयन कियो पिय प्यारी सेज सुख।
विविध रंग मणिमय मंदिर मैं जगमगात उजियारी।
मदन मंजरी कीं आयसु सखि प्रथमहिं सेज संवारी।
दिव्य सुगन्ध सुमन चहुँ ढिग रचि विविध रंग फुलवारी।
सीताराम अराम कीन सखि ठाढ़ि नीर भरे झारी।
चतुर सखी पद पदुम पलोटहिं राहस बात उचारी।
बीरा पीकदान सखि लीन्हें सयन भोग भरे थारी।
बाजन पंच बजाव पंच सखि सप्त स्वरन रसकारी।
आइ नींद सुख सोइ रहे रघुनन्दन जनक दुलारी।
रामचरण सखि बहु चौकी रहि बहु निज महल पधारी।

—श्रीरामचरण जी कृत अष्टयाम पृ०—[2]

---

१ रा०भ०सा०मे०म०ड०पृ०२३९

२ रा०भ०सा०मे०म०ड०प०२५४

अपने इष्टदेव के ऐश्वर्य तथा सखियों की सेवा-प्रणाली का ध्यान करते-करते रसिक भक्त की आँखें तब चमत्कृत हो उठती हैं, जब वह निकुंज के मध्य पुष्प-शय्या पर निद्रित सीताराम को प्रात: उठते हुये देखता है। युगलाराध्य के अलसाये नेत्र, बिथुरी अलकें और स्नेह से शिथिल अंग उसके नेत्रों के समक्ष छविमान हो जाते हैं—

रंग रंगीले दोउ सोय जगेरी।
बिथुरी अलकैं अलसी पलकैं रंग सनेह सुरंग पगैरी।
मद रस छके विराजत लालन ललना के रसरंग ठगेरी।
कृपा निवास श्री जानकी वल्लभ सखियन के द्दग निरखि परेरी।
—कृपानिवास पदावली[1]

रसिक इस युगल-रति-रस को अपनी भावमयी भाषा में गाकर माधुर्य-रसास्वाद करने वालों के हृदय में चाह बढ़ा देता है। राधा-कृष्ण की उपासना करने वाले माधुर्योपासकों की भाँति इन रसिकों के वर्णन में भी ऐसा जादू है, जिसके कारण वे बलात् विभिन्न प्रकार की साधना करने वाले वैष्णवों को अपनी ओर खींच लेते हैं। जिस प्रकार संयोगिनी सीता नित्य संयोग में तन्मय रहती हैं, उसी प्रकार राम भी आह्लादिनी के साथ कृष्ण की भाँति ही निरंतर आह्लादित होने की कामना करते हुए, अपने मधुर प्रेम से प्रिया (सीता) जी को वशीभूत कर मधुर-रस-सागर की तरंगों के थपेड़े खाकर तन्मय हो जाते हैं—

रंग भरे राम रसिक रस बस करि प्यारी रास भवन रस माते।
सुरति बिहार उमंग अनंगनि अंग-अंग सरसाते।
किंकनी नूपुर वलय मुखर कर लोचन रति इतराते।
कृपानिवास विलास विलासी सुन्दर संग सुहाते।
—कृपानिवास पदावली[2]

इस तन्मयता की अवस्था में प्यारे राम जब जनक दुलारी की कंचुकी को धीरे-धीरे खोलने का प्रयास करते हैं, तो वे हँसकर तथा चमक कर उनके हाथ को हटा देती हैं। रास, विलास में मत्त इस प्रकार सीता-राम की छटा देखते ही बनती है—

---

१ रा०भ०सा०म० उ० पृ० २२७
२ रा०भ०सा०म० उ० पृ० २२२

पिय हँसि रस-रस कंचुकि खोलैं।
चमक निवारत पानि लाड़जी मुरकि-मुरकि मुख बोलैं।
टुक रहो सखी-सखी कछु गावति भावन मदन बिलोलैं।
कटि गहि लटकि हटकती सुन्दरि अधरनि परसि कपोलैं।
तल पटुराय लाय उर सों उर कोक कलानि किलोलैं।
कृपानिवास बिलासी दंपति-संपति रास बढ़ोलैं।

—कृपानिवास पदावली[1]

सखियों के सुमधुर गीतों के मध्य उठने वाली प्रेम-हिलोर मे दोनों के उर से उर मिल जाते हैं और तब राम प्यारी का नीवी बंध, उनमें एकाकार हो जाने के लिये, खोलने का प्रयास करते हैं। प्रिया जी मना करती हैं। राम नहीं मानते। वे उनके हाथ जोड़कर बलिहार जाते है। प्रिया जी चमकती हैं, तिरछी चितवन से देखती हैं और फिर हँस देती हैं—

नीवी करषत बरजत प्यारी।
रस लंपट संपुट कर जोरत पद परसत पुनि पुनि बलिहारी।
बदन घुमाय सिहाय महाजट तड़ित ज्यौं चमकत बंक निहारी।
तलपटराय मचाय धूम रस हँसि-हँसि कृपानिवास सिय हारी।

—कृपानिवास पदावली[2]

उनके हर्षोल्लास में माधुर्य का आस्वादन करते हुए रसिक सिरोमणि राम अपनी प्यारी को प्रसन्न करने तथा रस का परिवर्द्धन करने के हेतु स्वयं नवयौवना किशोरी बन जाते हैं। स्त्रियोचित शृंगार से मंडित वे सिर पर जल का घड़ा लेकर चलते हुए जब फिरते है, तो श्याम सखे आनद में झूम उठते हैं—

रघुवर आये नवल बनि नारी।
करि सिंगार सुघर बनिता की सिर पर गागर भारी।
बीते रात कहत घर-घर में त्यों जल पियनिहारी।
श्याम सखे सैंया रसिक बहादुर करत बिहार बिहारी।

—श्यामसखे पदावली[3]

---

१ रा०भ०सा०म० उ० पृ० २३३

२ रा०भ०सा०म० उ० पृ० २३२

३ रा०भ०सा०म० उ० पृ० ३६९

अपने प्यारे के इस मनमोहन रूप-सौन्दर्य को देखते हुए जानकी अपनी मधुर वाणी से उन्हें प्रसन्न कर मन्द मुस्कान के साथ राम को अपने कनकभवन में ले जाकर नित्य संयोग में डूब जाती हैं—

किशोरी जू के अनुपम रसमय बैन।
सुधा सुधाकर शुक पिक हूँ नहिं कोकिल हूँ सम हैन।
मन्द हँसनि रद लसनि अधर छवि फंसनि प्रिया प्रद चैन।
अंग-अंग छवि फवि कवि दवि मति सारद बरनि सकै न।
करत बिहार अपार पिया संग कनक भवन सुख दैन।
श्री जुगल बिहारिनि भरि उमंग सखि सेवति हैं दिन रैन।[1]

और तब प्रेम से विवश हो प्यारी जानकी प्यारे राम को अपना मधुर आलिगन देकर उनके चित्त को चुरा लेती हैं—

प्रेम विवस हियरे लगत जिया लेतु चुराय।
हँसि-हँसि रसवति आकरत भर्‌यौ सिंगार सुराय।
कल कपोल कुण्डल हलक अलक झलक छवि देत।
ललकि-ललकि हिय सों लगत पलक चित्त हरि लेत।
झूमि-झूमि झुकि-झुकि परत दिये अंस भुजमाल।
हँसि हेरन चित्त चोर हीं कब देखिहैं सिय लाल।
अलकैं उरझीं चंद मुख दृग कपोल लसि पीक।
अंजन अंजित रद सुपट सिय पिय अलिथ बदीक।[2]

रस संगीत की मधुरिमा से जनक-नन्दिनी के हृदय में आनन्द का सागर उमड़ आता है और वे अपने प्राणनाथ प्रभु से कहने लगती हैं—

करौ सुभग सुखमद मतिवारी।
सुघरि-सुघरि उज्ज्वल रस तेरे मेरौ मन हो रौ अधिकारी।
परम उदारनि सरन रावरी मृदुल चित्त मोहित हितकारी।
कृपा निवास विलास भरी सिय पिय को मन वस रस विस्तारी।
—कृपानिवास पदावली[3]

---

१ रा०भ०सा०म०उ० पृ० ४२७

२ रा०भ०सा०म०उ० पृ० ३६४

३ रा०भ०सा०म०उ० पृ० २३२

नित्य संयोग के मधुर रस में जानकी का तन-मन आनदविभोर हो जाता है और वे अपने रसिक प्रियतम श्रीराम की उदारता की सराहना करते हुये उनमें संयुक्त हो जाती हैं। इस छवि को देखकर सीता जी की सखियों का धैर्य छूट जाता है, तन-मन की उन्हें भी सुधि नहीं रहती और वे अपलक नयनों से इस रूप माधुरी का पान करती हैं। चन्द्रकला आदि-सखियाँ तो अपने जीवन को धन्य समझती हैं—

सियावर साँवरे छवि देख ।
रहत न तन मन सुधि कछु सजनी लगत न नैन निमेख ।
सजि सिंगार परस्पर दोऊ गलबाहीं वर देखि ।
युगल प्रिया अलि चन्द्रकलादिक सुफल संजीवन लेखि ।

—युगल प्रिया पदावली[1]

किन्तु माधुर्य रस सागर के इस दर्शन से तो संतोष होने का नहीं। हो भी क्यों ? वे भी तो उनके साथ संयोग सुख का लाभ उठाकर प्रियतम को प्रसन्न करना चाहती हैं और हृदय की प्रेमाग्नि को शीतल एवं अमृतमय आलिंगन से रस-सिक्त करते हुए, उन्हें अपनी कला से रिझाना चाहती हैं—

आजु रसकेलि मचावोंगी ।
इन पिय प्यारे को रस बसि करि हिय-तपनि बुझावोंगी ।
करि नव सप्त सिंगार मनोहर अंग-अंग भूषण सजि कै ।
गान बजाय लगाय लाल उर संग मचावोंगी ।
सुनि सिय बानी सखिन सोहानी हिय हरषानी मन ललचानी ।
ज्ञानाअलि यश गाय-गाय सिय पिय-मन भावोंगी ।[2]

—ज्ञानाअलिकृत, सियवरकेलि पदावली

बिना सियावर की कृपा के यह संयोग मिलना दुर्लभ है— इस बात को ध्यान में रखते हुए सखियाँ प्यारे से निरंतर दर्शन देते रहने की अपनी लालसा को प्रकट करती हैं। वे जानती हैं कि संयोग की लालसा में यदि कहीं प्रत्यक्ष दर्शन भी आँखों से ओट हो गया, तो हृदय टूट जायेगा। प्रियतम तो यह भी करना जानते हैं, अस्तु वे कहती हैं—

---

१ रा०भ०सा०म०उ० पृ० २५८

२ रा०भ०सा०म०उ० पृ० ३१८

लला तुम होहु न आँखिन ओट ।
एक पलक बिन दरश कलप सम लगत कुलिश सी चोट ।
पीर पराई जानत हो नहिं यह सुभाव है खोट ।
श्री रघुराज विदेह लली-पिय तजहु निठुरता कोट ।[1]

सखियाँ कितना ही उन्हें कठोर समझें, रसिक कितना ही उन्हें निठुर समझें, किन्तु वे न निठुर हैं और न कठोर। वे तो तनिक से समर्पण में पीछे-पीछे फिरने लगते हैं। स्नेह परिवर्द्धन की दृष्टि से, लीला विशेष के कारण वे थोड़े समय के लिये ही नित्य संयोगी होकर भी ठीक उसी तरह वियोगी हो जाते हैं जैसे सखी मंडल के बीच से कृष्ण। वियोग की इस अल्प स्थिति में, उनसे प्यार करने वालों के हृदय-रस सागर में एक तूफान उठता है, जो उनकी सारी मनोवृत्तियों को एकाकार प्रभु के समीप ले जाकर छोड़ देता है। कृष्ण के वियोग में व्याकुल गोपियों की तरह श्रीराम के नित्य सान्निध्य में रहने वाली सखियों के हृदय भी वेदना से तड़प उठते हैं और वे पुकार कर कहने लगती हैं—

मिलि जाओ रामा प्यारे।
बन प्रमोद में खड़ी पुकारौं सुनिये रूप उज्यारे।
सुन्दर श्याम कमल दल लोचन मों आँखिन के तारे।
राम सखे जल बिनु मछरी ज्यौं तलफत प्राण हमारे।

—रामसखेकृत पदावली[2]

प्राणनाथ के अभाव में प्राण नहीं रह सकते, ठीक वैसे ही जैसे जल के अभाव में मछली नहीं रह सकती। हृदय में हूक उठतीं है। प्रेमाग्नि ने समस्त शरीर को तपा डाला, वियोग नहीं सहा जाता और स्थिति अत्यंत दयनीय है—सखियों की भी और रसिकों की भी—

उर में उठत रैन दिन हूकैं।
लगन अगिनि जरि भई हो कोयला जरी बरी फिर फूकै।
मरम मारसों मरी रही मैं नई मार नहिं चूकै।
कृपानिवास श्रीराम रसिक सुनि मो विरहनि कूकै।

—कृपानिवास पदावली[3]

---

१ रा०भ०सा०म०उ० पृ० ३५१
२ रा०भ०सा०म०उ० पृ० ३२६
३ रा०भ०सा०म०उ० पृ० २२३

लगन की चोट से व्याकुल विरहिणी सखी का हृदय अधीर है। इस अधीरता को वह किसी से नहीं कह सकती, क्योंकि इसका रहस्य एकमात्र उसके प्रियतम दशरथ-नंदन ही समझ सकते हैं। किसी क्षण उसे उनके वियोग में चैन नहीं मिलती, उनकी स्मृति से वह छटपटाती है और दर्शनों के लिये प्रार्थना करती है—

हरि बिन को जाने मेरे मन की।
आठ पहर मोहिं कल न परत है प्यास बढ़ी दरसन की।
लगन चोट लागी तन बल की हलकी चोटैं घन की।
कृपानिवास श्रीराम रसिक अब सुधि लीजैं बिरहिन की।
—कृपानिवास पदावली—१

श्रीराम के प्रेम में पगी विरहिणी सखी को कहीं कुछ नहीं सुहाता, वह प्यारे के संयोग की रसमयी वार्ता का स्मरण करके वियोगावस्था में भी मधुर आलिंगन की कामना करती हुई, प्रफुल्लित हो जाती है—

रघुबर कैसे बिसरिहो बतियाँ।
कब तो होय साँझ घर बातो मेरी लो लागि सुरतियाँ।
नदिया तीर भई जो बातें रस बस भीजीं मतियाँ।
श्याम सखे सैयाँ श्याम सलोने तोकों लगैहौं छतियाँ।
—श्यामसखे पदावली—२

निस्सन्देह जिसका मन उसके परम सौन्दर्यमय रूप का पुजारी हो गया, उसके लिये विश्व की किसी वस्तु में कोई आकर्षण नहीं रह जाता और मन सर्वदा उसके मधुर-मिलन के लिए आकुल रहता है। वियोगिनी सखी का मन भी श्रीराम के रूप-सौन्दर्य में अटक गया है और नेत्र उनकी छवि-माधुरी को देखने के लिए प्रतिक्षण टकटकी लगाये रहते हैं। देखिये, प्रभु की कुटिल अलकें, रतनारे नैन और मुख-कमल की झाँकी ने सखी की लज्जा को विनष्ट कर उसे किस प्रकार मिलन के लिए बावरा बना दिया है—

मेरो मन राम-लला सों अटको।
अब तो बरबस जाय मिलोंगी कोऊ कितेको हटको।

---

१ रा० भ० सा० म० उ० पृ० २२२
२ रा० भ० सा० म० उ० पृ० ३६९

श्याम-सरूप नैन रतनारे कुटिल अलक मुख लटको।
लखि रघुराजहि आजु लाज को टूटि गयो री फटको।
—रघुराज विलास -[1]

परम माधुर्य रस के स्रोत श्रीराम की नित्य आह्लादिनी सीता जी का वियोग भी लीला विशेष के कारण होता है, वैसे दोनों का संयोग नित्य है, अस्तु वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। इस लीला विशेष में भी वियुक्त होने पर श्री जानकी जी विह्वल हो जाती हैं। वियोग की बरसात सी होती है, हृदय की वेदना उन्हें हिला डालती है। मदन की चोट से व्याकुल एवं प्यारे राम की स्मृति से उत्पन्न इस वेदना का कथन नहीं हो सकता—

बरषत बुन्द विरह बरवारी।
करकत करक करेजो कामिनि कहि न सकत हिय हारी।
गरजि गरजि गरबी गांहक जिय जारत जस डर डारी।
चहुँ दिशि चमचमात बैरिनि यह मदन कृपान करारी।
मान मरोर लिये मादक छकि मन्द मयूर पुकारी।
जहँ तहँ छाय रहे दुखदायक विरहिनि एक विचारी।
युगल अनन्यशरण, सिय पिय बिनु वेद न अकथ अपारी।
— संत सुख प्रकाशिका पदावली—[2]

सीता जी की इस मूक पीर ने उन्हें प्यारे के विरह में पागल सा बना दिया है। वे प्रमोद वन के वृक्ष-वृक्ष से अपने प्रियतम को पूछती हैं किन्तु कैसे बतायें? वे तरु से विहीन लता की भाँति मुरझा जाती हैं, शरीर शिथिल हो जाता है और तब पृथ्वी पर गिर-गिर पड़ती हैं। अन्तरंग सखियों द्वारा सम्हाले जाने पर भी मनहरण की याद में वे किसी की बात तक नहीं सुन पातीं, यथा—

द्रुम-द्रुम बूझ थकीं बन हेरत प्यारी बैठी आय पुलिन पर।
तरु बिनु कल्पलता मानो मुरझी झुकि-झुकि परति सिथिल धर।
सखि-जन धारि संभारि पवन ढर श्रमकण हर कोई गहि पट कटिकर।
कृपानिवास कहति कहा दुरिया राम-रसिक मेरो मनहर।
—कृपा निवास पदा०—[3]

---

१ रा०भ०सा०म०उ०पृ०३५२
२ रा०भ०सा०म०उ०पृ०२७२
३ रा०भ०सा०म०उ०पृ०२२३

इस स्थिति में भी श्री जानकी जी का मन कमल-नयन श्रीराम से मिलने के लिये तड़प रहा है। वे सखियों की किंचित मात्र भी चिंता न करते हुये पुकार कर कहती हैं—

हमारी सुधि लीजैं राजिव नैन।
दृग भरि हेरि फेरि अंसन भुज लावौ हिये सुख दैन।
ललकत मन छिन-छिन मिलिबै को बिनु देखे नहिं चैन।
आरत हरण वेद यश गावत क्यों न सुनौ मम बैन।
रूप सुधा छवि दृगन पिआवो करि कटाक्ष मृदु सैन।
ज्ञानाअलि पिय विरह बावरी नहिं सोहात दिन रैन।

—सियबर केलि पदावली[1]

प्रेमावेश में भी बार-बार श्रीराम के ब्रह्मत्व का स्मरण, मधुर उपासना की पवित्रता एवं सर्वोत्कृष्टता का प्रतीक है। ऐसे श्रीराम की प्रिया को क्षण भर भी प्रियतम के बिना नहीं सुहाता। वे आशा भी करती हैं और संयोग की प्रार्थना भी। प्रेमावेश में कभी-कभी मान से रूठने पर, परोक्ष में उनकी व्याकुलता बढ़ ही जाती है और तब वे उनके विहार-सुख का स्मरण कर सखियों को श्रीराम से कभी न रूठने की सलाह देती है, आकुल हो जाती है—

आली मेरो रघुबर करत सोहाग।
लै कुसुमन बनमाल बनावत बिहरत मो संग लाग।
मो प्रतिबिम्ब बिलोकि मुकुर मँह तजत तासु अनुराग।
अस रघुराज प्राण प्यारे सों रुसब परम अभाग।

—रघुराज बिलास[2]

जिन राम ने अपनी प्रिया को मधुर रस का आस्वाद कराने के हेतु भाँति-भाँति का बिहार सुख संजोया हो, उनसे रूठना परम अभाग नहीं तो और क्या है? उनकी नित्यप्रिया क्षण मात्र के लिये भी ऐसा करके पश्चात्ताप करती हैं और उन्हें प्रसन्न करने के लिये कहती हैं—

लाल मोहिं आस तेहारी हो।
सुनिये कोशलचन्द्र के एक अरज हमारी हो।
तुम जलनिधि हम सरिता हैं तुम पति हम नारी हो।

---

१ रा०भ०सा०म०उ० पृ० ३११

२ रा०भ०सा०म०उ० पृ० ३५४

तू बासर हम राति हैं तुम चन्द हम चकोरी हो।
तुम नायक हम नायका गठबन्धन जोरी हो।
नात बात तुझसे भली जग-नेह लबारी हो।
श्याम सखे अपनाये सब चूक बिसारी हो।

—श्यामसखे पदावली [1]

पवित्र प्रेम की इस मधुर एवं दृढ़ निष्ठा के सहारे ही रसिक जन क्षण भर में ही अपने अपराधों को क्षमा कराकर, प्रभु के परमप्रिय हो जाते हैं। प्रीति का तो यह प्रिय लक्षण है कि वह या तो लगती नहीं और यदि लग जाय, तो फिर छूटने का काम नहीं। रसिक अपने प्यारे प्रभु से ऐसी ही प्रीति करते हैं। यही प्रीति किशोरी-भाव की अनन्यता का प्रतीक है। साधक की सारी मर्यादाएँ यहाँ विनष्ट हो जाती हैं। सियावर की इस मधुर भक्ति में प्रीति का आवेश तो अवश्य है, किन्तु राधाकृष्ण के प्रेम की उन्मुक्त तथा उन्मत्तता की झाँकी यहाँ उतनी मात्रा में इष्टदेव के मर्यादा पुरुषोत्तम होने के कारण प्राप्त नहीं होती, जितनी कि राधा-कृष्ण के माधुर्योपासकों के वर्णन में प्राप्त होती है।

---

१ रा०भ०सा०म०उ० पृ० ३७२

सातवाँ अध्याय

पूर्ववर्ती माधुर्योपासकों का परवर्ती भक्तों पर प्रभाव

पूर्ववर्ती माधुर्योपासकों का परवर्ती भक्त कवियों पर प्रभाव

परम्परा से प्रचलित श्रीकृष्ण की मधुररस साधना के जिस अनुपम राग ने अपनी ध्वनि से मध्य युग के वैष्णव संप्रदायों तथा भक्तों को मोहित किया, उसकी लय में रीतिकालिक कृष्ण भक्त तो अनुरक्त हुये ही, साथ ही आधुनिक समय में रचना करने वाले कवि भी प्रभावित होकर झूम उठे। इस ध्वनि पर उनका भी अंग-अंग थिरकने लगा और तब वे भी हृदय में प्रभु के अलौकिक सान्निध्य की गुदगुदी लेकर अपनी हृद्तन्त्री को झंकृत करते हुए भक्ति का संगीत गा उठे। इस प्रकार हिन्दी काव्य के विशाल, रसमय प्रान्त की उर्वरा शक्ति ने प्रत्येक शताब्दि में वैष्णव संप्रदायानुयायी भक्तों की अपेक्षा ऐसे भक्त हृदय कवियों को भी उत्पन्न किया, जिन्होंने माधुर्योपासकों से प्रभाव ग्रहण कर अपनी काव्यधारा में राधा-कृष्ण की नित्य एवं मधुर लीला का समावेश कर अपने व्यक्तित्व को चिरस्मरणीय बना दिया।

अपने हृदय में कृष्ण-सान्निध्य की अनुभूति का सुख लेते हुये जो अभिव्यंजना इन कवियों ने प्रस्तुत की निस्सदेह उसमें भी प्रेमतत्व की झलक विद्यमान है। राधा, गोपी तथा कृष्ण का पारस्परिक प्रेम इनकी भी वाणी में भाव लोक की निधि-रूप से ही प्रकट हुआ है। यहाँ लौकिकता की भावना से दूर कृष्ण के सर्वशक्तित्व, सर्वव्यापकत्व तथा अखिलरसत्व को स्वीकार करते हुये, इन्होंने उनके आह्लाद का यथाशक्ति चित्रण किया है। ऐसे वर्णन को लौकिक व्यंजना की संज्ञा नहीं दी जा सकती। निश्चित ही यहाँ पर रीतिकालिक कवियों के राज्याश्रित होने का प्रभाव एवं आधुनिक कवियों की धनार्जन भावना तनिक भी दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी भक्तिपरक रचनायें ही उनकी इस धारणा का सबसे प्रमाण हैं।

आधुनिक युग के कुछ कवियों ने, शुद्ध अन्तःकरण से राधा-कृष्ण के नित्य विहार का जो दृश्य उपस्थित किया है, वह उनकी श्रद्धामयी, त्यागमयी

तथा भक्तिमयी मनोवृत्ति को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। जिस धरातल पर बैठकर इन कवियों ने प्रभु की प्रकट लीला विशेष का चित्रण किया है, उसमें व्यंजना के आवेग के साथ-साथ प्रेम का वह आवेश भी है, जिसने उन्हें मतवाला बना दिया है। तन्मयता में रसानुभूति को ग्रहण कर इन कवियों का संसार समाविष्ट हो जाता है और कवित्व सार्थक।

रसिक-शिरोमणि राधा-माधव को प्रमुखरूप मानने वाले रसिक भक्तों ने रीति एवं आधुनिक युग के परवर्ती कवियों को भी, उनके रास बिहार, संयोग-वियोग तथा क्रीड़ा आदि अन्य लीला सम्बन्धी रचनायें प्रस्तुत करने की प्रेरणा प्रदान की है। मधुर रस साधना में जिस निष्ठा और लगन की आवश्यकता होती है, उससे परवर्ती कवि जन प्रभावित तो हुये, किन्तु आश्रयदाताओं के किंचित प्रभाव के कारण रस धारा की उन्मुक्त निर्झरणी प्रवाहित न हो सकी और मनोविनोद के हेतु निर्मित रँगीले काव्य के समक्ष भक्तिपरक रचनाओं का आकार सिमटा ही रहा, फिर भी जो टीस एकाग्रता तथा रसमयता इनकी अल्प मात्रा में भी की गई रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है उससे प्रेम-प्रवाह की गति अवरुद्ध नहीं प्रतीत होती। अस्तु शनैः शनैः अपने प्रेम-रस की बूँद से रस सरिता की धारा को वेगवती बनाने वाले रीति एवं आधुनिक युग के निम्नलिखित संप्रदायमुक्त कुछ कवियों पर अब विचार करना श्रेयस्कर होगा:—

कुछ प्रमुख भक्तहृदय कवि तथा उनका विद्यमान समय

१—बिहारी लाल	वि॰सं॰	१६६०-१७२०
२—देव	,,	१७३०-
३—कुलपति मिश्र	,,	१७२४-१७४३
४—कालिदास त्रिवेदी	,,	१७४५-
५—आलम	,,	१७४०-१७६०
६—तोषनिधि	,,	१७९१-
७—द्विज देव	,,	अज्ञात
८—दास (भिखारीदास)	,,	१८०७
९—पद्माकर	,,	१८१०-१८९०
१०—मंचित	,,	१८१६
११—दीनदयाल गिरि	,,	१८८८
१२—ग्वाल कवि	,,	१८७९-१९१८

१३—गुणमंजरी दास	वि० सं०	१८८४-१९४७
१४—सत्य नारायण	,,	१९४१-
१५—सरस माधुरी (ग्वालियर)	,,	१९१२
१६—प्रेमघन	,,	१९१२-१९७९
१७—रत्नाकर	वि० सं०	१९२१-१९८९
१८—कृष्णदास कायस्थ (अष्टछाप से भिन्न)		१९ वीं शती
१९—वनमाल दास (वृन्दावन)	वि० सं०	वर्तमान
२०—हरिऔध जी	,,	१९२२ ई० से १९४७
२१—स्वामी प्रेमानंद जी	,,	वर्तमान
२२—स्वामी कृपालुदास जी	,,	वर्तमान

उपासना का स्वरूप:—

जिस मधुर प्रेम के आधार पर उक्त कवियों के हेतु विचार किया जा रहा है, उसका रूप इनकी दृष्टि में अत्यंत उज्ज्वल है। अपने प्रीतम प्रभु को प्राप्त करने के हेतु यह प्रेम ही एकमात्र उपाय है। यह प्रेम बिना श्रद्धा तथा विश्वास के किसी को प्राप्त नहीं होता और यदि प्राप्त हो गया तो शनैः शनैः राशिस्वरूप होकर साधक को रस स्वरूप से मिला देता है। इस मधुर प्रेमाश्रित भक्त की स्थिति इस क्षेत्र में ठीक वैसी ही होती है, जैसी पुष्प-वाटिका में खिले हुये पुष्प की होती है। यहाँ भक्त की उपासना ही उसकी प्रेम वाटिका है और वह है स्वयं उस वाटिका का प्रफुल्लित कुसुम। उसके प्रभु उसके रस के आस्वादक हैं। भ्रमर की तरह उनका वर्ण भी श्याम है और वे श्यामसुन्दर कहलाते भी हैं। रसिक शिरोमणि इन्हीं प्रभु के हेतु परवर्ती भक्त पूर्ववर्ती साधकों की भाँति ही अपनी अनुरागमयी उपासना में रत होता है और कहता है—

> तज तीरथ, हरि-राधिका, तन-दुति कर अनुराग।
> जेहि ब्रज केलि निकुंज मग, पग-पग होत प्रयाग।
>
> —**बिहारी सतसई,**

इस अनुराग के उत्पन्न होते ही रसिक का समस्त अभिमान ढह जाता है, हृदय स्निग्ध हो जाता है और प्रभु के प्रति ममता उत्पन्न हो जाती है। यहाँ साधक की समस्त कामनायें समाप्त हो जाती हैं और वह कल्पवृक्ष के समान अपने प्यारे प्रभु का दर्शन पा लेता है। परवर्ती भक्तों ने भी इसकी अनुभूति की और लिखा—

देव घनश्याम-रस बरस्यौ अखंड धार।
पूरन अपार प्रेम-पूर न सहि पर्‌यौ।
विषै-बन्धु बूड़े, मद-मोह-सुत दबे देखि,
अहंकार-मीत भरि, मुरझि मही पर्‌यौ।
आशा, त्रिसना-सी, बहू बेटी लै निकसि भाजी,
माया-मेहरी पै देहरी पै न रहि पर्‌यौ।
गयौ नहिं हेरो लयौ वन में बसेरो नेह—
नदी के किनारे मन-मन्दिर ढहि परयौ।—देव

—ब्रजमाधुरी सार पृ० ३१०

साधक का मन यदि नेह की नदी के कूल पर पहुँच गया, फिर वापस आने का प्रश्न ही नहीं उठता। साधना की सबसे बड़ी सिद्धि है लगन। यदि यह लग गई तो, नित्य सुख के आस्वाद में विलम्ब नहीं होता। यह लगन पुरुषभाव में असम्भव है—इसका अनुभव करके पूर्ववर्ती माधुर्योपासकों की भाँति इन भक्तों ने भी सखीरूप तथा कान्ताभाव का आह्‌वान किया। यथा—

महा मधुर रस सार चहौ तौ राधा-राधा बोल।
ह्‌वै कै अली वृषभानु लली की निर्भय ब्रजवन डोल।

—रसिया ब्रज माधुरी पृ० ८

अथवा संसार को स्वप्नवत् सलझकर प्रभु को प्रेमी रूप में स्वीकार करने की बात कही, यथा—

स्वप्नों है संसार यह, रहत न जानै कोय।
मिलि पिय मन भाँवरि करौं, कालि कहा धौं होय।

—कुलपति मिश्र निम्बार्क माधुरी पृ० ५१६

इन भक्तों का भी विश्वास है—

प्रियतम केवल कृष्ण मुरारी।
कोमल सील निधान रूपनिधि रसमय वर वपुधारी॥

—बि०प०पृ० २०

इसी विश्वास के साथ इस युग के भक्तों ने अपनी उपासना-प्रणाली को आगे बढ़ाया और राधा-कृष्ण को अपनी दिव्य काव्य साधना का साध्य स्वीकार किया। अपने इष्टदेव को पाने के लिये सर्वसमर्पण की अपेक्षा रहती है। समर्पण के अभाव मे साधना शुद्ध नहीं रहती और साधक की अन्त

की इससे उत्तम साधना और क्या हो सकती है ? प्रेममयी यह मधुर उपासना ही समस्त सुखों का सार स्वरूप होकर इस युग के कृष्ण-भक्तों की दृष्टि में भी सर्वोत्तम है। इसीलिये इसे गोप्य रखने का संदेश भक्तों ने दिया। उनकी धारणा है कि मान बड़ाई से दूर रहते हुये, दिव्य रस की अनुभूति एकाग्रता के साथ हृदय में करना चाहिये, यथा—

बाढ़त प्रेम गुप्त करि राखे।
यह रस दिव्य दिखाव करौ जनि अति सुख अन्तर चाखे।

\+ + + +

मान बड़ाई त्यागि जगत की तप करि नेम निभावै।
सो वनमाल नंदलालहिं प्रिय जो निज नेह छिपावै।

— श्री कृ०बि०प०पृ०२६

निश्चित ही मधुर रस की इस गोप्य साधना से इष्टस्वरूप की रूपराशि के दर्शन होते हैं।

रूप-माधुरीः—

वृन्दावन की सुरम्य लताओं के मध्य प्रिया जी के साथ विराजमान श्यामसुन्दर की भुवन मोहनी छबि का जो वर्णन रसिक भक्तों ने अपने काव्य में उपस्थित किया, वह निश्चित ही सीमा से बहुत ऊपर की वस्तु है और उसकी अनुभूति भी केवल प्रेमी हृदय को ही होती है। ब्रजभाषा में अपने भावों को रूप प्रदान करने वाले परवर्ती कवियों ने भी इस रूपराशि का वर्णन कर अपनी रचनाओं को गौरवान्वित किया और उस आनंद का आस्वाद किया, जिसको अखिलरसामृतमूर्ति स्वयं प्रसारित कर भक्तों को कृतार्थ करते हैं। ललितादिक अतरंग सखियों से घिरे हुये राधा माधव किसे आकर्षित नहीं करते ! साक्षात् मन्मथ मन्मथः उनका नाम यहीं सार्थक हो जाता है। त्रिभंगी मुद्रा, राजहंसी-चाल और मधुर चितवनादि सब कुछ तो निराला है उनका। उनके श्रृंगार की समस्त कलायें इसी रूप में मूर्तिमान हो जाती हैं और आज के कवि का मुक्त कंठ गा उठता है—

मूर्तिमान श्रृंगार रस, सरिस रूप छबिधाम।
कमला लालित ललित पद, परसावहु घनस्याम।

—श्री कृ०बि० प०पृ०५७—वनमाल जी

परम सौन्दर्यमय रूप की इस झाँकी से परवर्ती कवियों के नेत्र तो मतवाले हो ही गये, साथ ही उनका हृदय भी इसे अपने में नित्य निवास देने के लिये आकुल हो उठा। अज्ञान रूपी अंधकार से आवृत्त हृदय में यदि ब्रजचन्द्र की रूप चन्द्रिका प्रकाशमान हो जाय, तो फिर कहना ही क्या है ? कितनी सुन्दर कल्पना के साथ श्यामसुन्दर को अपने हृदय में छिपाने की बात कवि कहता है—

ए ब्रजचंद गोविन्द गोपाल सुन्यो, क्यों न एतें कलाम किए मैं।
त्यों पद्माकर आनंद के नद, हौ नंदनंदन जानि लिए मैं।
माखन चोरी कै खोरिन ह्वै चले, भाजि कछू भय मानि जिए मैं।
दूरि न दौरि दुरयौं जौ चहौ तौं, दुरौ किन मेरे अँधरे हिये मैं।

रूप पर आसक्त होकर भक्त किसी भी बहाने अपने प्रभु की समीपता पाने के लिये लालायित हो उठता है। उचित भी है, ऐसा रूप भी तो कहीं उसे दृष्टिगोचर नहीं होता ? पीताम्बर की चमक, कुण्डल की दमक और मुख की कान्ति पर रीझना स्वाभाविक ही है। इसे देखते ही परवर्ती भक्त-हृदय का भी मन-मयूर नाचने लगता है और तब प्रेम रस में सराबोर होकर वह अपनी कविता मे लिखने लगता है—

नव नीरद-दामिनि-दुति जुगल-किसोर।
पेखि मुदित मन नाचन जीवन मोर।

—रत्नाकर द्वि०भा०पृ०२३१

कला की सार्थकता और कविता की महत्ता इसी में है कि वह नित्य सौन्दर्य की दिव्य झाँकी की व्यंजना द्वारा प्रत्येक के मन को मुग्ध कर उसे सांसारिक वासनाओं से विरत कर दे। बिना इसके कवित्व की सफलता भारतीय दृष्टिकोण से नहीं समझी जाती। निस्संदेह इसका अनुभव परवर्ती रीतिकालिक तथा आधुनिक दोनों कवि-वर्गों ने किया है। तभी उनकी कविता में यथासाध्य चित्रण राधा-माधव के उस नित्य सौन्दर्य का, दृष्टिगोचर होता है। मंचित द्वारा वर्णित श्रीकृष्ण की रूप-छटा का एक वर्णन देखिये—

कुंडल लोल अमोल कान के छुवत कपोलन आवैं।
डुलें आपसे खुलें जोरि छवि बरबस मनहि चुरावैं।

खौर विशाल भाल पर सोभित केसर की चित भावैं ।
ताके बीच बिन्दु रोरी की तैमो वेस बनावैं ।
भ्रकुटी बंक नैन खंजन से कंजन गंजन वारे ।
मद भंजन खग-मीन सदा जे मन रंजन अनियारे ।

—संचित—

उपर्युक्त रूप की जिस छवि की व्यंजना कवि ने प्रस्तुत की उससे श्रीकृष्ण की वेश-भूषा स्पष्ट होती है । मकराकृत कुण्डलों की सुषमा, मस्तक का तिलक और नेत्रों की मोहकता ने आधुनिक रसिकों के चित्त को चुरा लिया है । बरबस चित्त को अपनी ओर खींचने की शक्ति रखने वाली कृष्ण की यह रूपराशि जब साधक के नेत्रों में समा जाती है तब रूपराशि की प्यास का परिवर्द्धन हो जाता है । साधक के दो नेत्र उसकी प्यास को नहीं बुझा पाते और तब वह अपने प्रभु से अपने हृदय की अभिलाषा को व्यक्त कर ही देता है । तोषनिधि की भावना पर तनिक दृष्टिपात कीजिये—

श्रीहरि की छवि देखिबे को अँखियाँ प्रतिरोमहिं में करि देतो ।
बैनन के सुनिबे हित स्रौन जितै-तित सो करतौ करि हे तो ।
मो ढिग छाँड़ि न काम कहूँ रहे 'तोष' कहै लिखितो विधि एतो ।
तो करतार इती करनी करि कै कलि में कल कीरति लैतो ।

—तोषनिधि—[२]

यदि करतार की कृपा हो गई तो फिर यह छबि शाश्वत रूप से दृष्टि, गोचर होती है । इन साधकों के भी अनुभव से यही प्रतीत होता है । वे निरंतर उमंग के साथ इसी का पान भी करते है, यथा—

ऐसिय कुंज बनो छवि पुंज रहै अलि गुंजत मो सुख लीजै ।
नैन विशाल हिये बनमाल विलोकत रूप-सुधा भरि पीजै ।
जामिनि-जाम की कौन कहै जुग जात न जानिये ज्यों छिन छीजै ।
आनंद यो उमग्योई रहै, पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै ।

—कुलपति मिश्र—[३]

राधा-माधव युगल का यह स्वरूप इन प्रभावित कवियों की दृष्टि में भी द्वैताद्वैत का बोध कराता है । देव के इस वर्णन में जिस रसिकता तथा

१. हि० सा० इ० पृ० ३७४
२ वही, पृष्ठ २८२
३ वही, पृष्ठ २५९

अनन्यता का प्रत्यक्षीकरण होता है, उससे उनकी आध्यात्मिक रसमयता स्पष्ट है, यथा—

श्याम स्वरूप घटा ज्यों अनूपम नील-पटा तन राधे के झूमैं।
राधे के अंग के रंग रंग्यो पट बीजुरी ज्यों घन सों तन झूमैं।
हैं प्रति मूरति दोऊ दुहून की विधो प्रतिबिम्ब वही घट दूमैं।
एक ही देव दुदेह दुदेहरे देव दुधा यक देह दुहू में।

—देव, नि० मा० पृ० ४८५

युगल रूप की इस चमत्कृत झांकी के सामने नेत्र नहीं टिकते। प्रेम रस उनमें झलकने लगता है और तब वे लज्जा रहित होकर तन्मयता के साथ प्यारे की वनमाला में उलझ जाते हैं। दास जी लिखते हैं—

अँखियाँ हमारी दई मारी सुधि बुधि हारी
मोहू तें जु न्यारी दास रहैं सब काल में।
कौन गहे ज्ञानै, काहि सौंपत सयाने, कौन
लोक ओक जानै, ये नहीं हैं निज हाल में।
प्रेम पगि रहीं, महामोह मैं उमंगि रहीं,
ठीक ठगि रहीं लगि रहीं बन माल में।
लाज को अंचै कै, कुल धरम पचैकै, वृथा
बंधन सचै के भई मगन गोपाल सों।

—भिखारीदास हि० सा० इ० पृ० २८१

रूप दर्शन की जो लालसा पूर्ववर्ती रसिकों में पाई जाती है, उससे उनके चिंतन की गहराई और अखंड प्रेम, दिव्य रूप का सामने आ जाता है। उनकी उस चिंतन प्रणाली की पूरी छाप इन कवियों पर पड़ी और तब इन्होंने भी राधा-कृष्ण के रूप की वैसी ही मनोरम अभिव्यंजना के चित्रण का प्रयास किया। माधव के इस अनुपम रूप से सभी मतवाले हो जाते हैं—

कलित-कपोलन पै अलकैं लुरी हैं मंजु,
सुललित-आभा लसी अधर-तमोर की।
हियरा-हरन बारे उर पे फबै हैं हार,
अंगन प्रभा है आछे-भूषन अथोर की।
हरिऔध, बेस वसनादिक बखाने बनै,
आनै बनै चित्त में निकाई नैन कोर की।

ए री वीर काकी मति बावरी बनी है नाँहि,
सुछवि बिलोकि बाँकी नवलकिसोर की।

—रस कलश पृ० २५१

प्रभु के अलौकिक सौन्दर्य की झाँकी का दर्शन कर साधक जब आसक्त हो जाता है तब उसकी आकुलता बढ़ जाती है और फिर वह निरंतर अपने प्रभु स्वरूप की स्मृति करता रहता है। नवलकिशोर की इस मधुर स्मृति में उसका तन मन सब कुछ प्रेममय हो जाता है और प्रकृति के कण-कण में उसी मधुर प्रेममयता के दर्शन होने लगते हैं, यथा—

प्रेम ही कुंज निकुंज बन प्रेम बिछैया सेज।
प्रेम ही प्रेम पौढ़त जहाँ ओढ़ै ही प्रेम हेज।।४।।

—स्वामी प्रेमानंद जी

प्रेममय होकर कवि जो व्यंजना प्रस्तुत करता है, उसकी उक्ति में रस सागर की अगणित तरंगें उठती रहती हैं। उसके श्यामसुन्दर कभी मुकुट धारण करते हैं और कभी मुकुट रहित घुँघराली अलकावली से सुशोभित होकर मनहरण कहलाते हैं। उनके वे अलक जब चन्द्रमुख पर आ जाते हैं, तो भक्त किसी माध्यम से कह उठता है—

चूमौं कर कंज मंजु अमल अनूप तेरो,
रूप के निधान, कान्ह, मो तन नहारि दै।
कालिदास कहै मेरे पास हरै हेरि हेरि
माथे धरि मुकुट लकुट कर डारि दै।
कुँवर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया, चारु
लोचन चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेंहदी लगी है नंदलाल प्यारे
लट उरझी है नक बेसर संभारि दै।

—कालिदास त्रिवेदी

जिस सौन्दर्य के इस माधुर्य का रस पान करने के हेतु, आधुनिक रसिकों की दृष्टि में भी, समस्त देवता तरसते रहते हैं, राधा माधव का वही सौन्दर्य अपने जनों के हेतु ब्रजमण्डल में निरंतर अपने मधुर रस की वर्षा करता रहता है। कितनी महत्ता है इस रूप रस की, कहते नहीं बनता। युगलकिशोर के लीला-विहार में निश्चित ही उनकी छटा द्विगुणित हो, और तब

रसिक उससे निसृत आनंदमय रस का आस्वाद कर लेते हैं। अपने श्रीकृष्णाष्टक में कवि का कथन है—

जाकी एक बूँद कौं बिरंचि बिबुधेस सेस,
सारदा महेस ह्वै पपीहा तरसत हैं।
कहै रतनाकर रुचिर रुचि जाकी पाइ,
मुनि मन-मोर मंजु मोद सरसत हैं।
लहलही होत उर आनंद-लवंग लता,
दुख दंद जासों ह्वै जवासों झरसत हैं।
कामिनी सुदामिनी समेत घन-श्याम सोई,
सुरस-समूह व्रज-बीच बरसत हैं।
—रत्नाकर द्वि०भाग पृ० ६५

प्रेम नगर के महाराज-युगल को हृदय में बसाने से ही उनकी इस माधुरी का पान हो सकता है। आज का साधक भी बार-बार यही पुकार-पुकार कर कहता है, यथा—

मूरति लाड़िली-लाल कुँवर की अब तो अँखियन लेहु बसाय।
नंदनंदन वृषभानु किसोरी सहज प्रीति की अनुपम जोरी
प्रीति अहार विहार इन कोरी।
प्रीतिपुरी के राजा दोऊ प्रीति ही रहे लुटाय।
रूपरसिक कूँ रूप पिवावैं, अमृत बोल श्रवन अंचवावैं।
जन्म-जन्म की प्यास बुझावैं,
दोऊ भुज भरि कै हृदय लगावैं, लैं निज चरण बसाय।
—प्रेमानन्द जी, रसिया ब्रजमाधुरी पृ० २७

युगल क्रीडाः—

प्रभु की जिस क्रीड़ा का वर्णन पूर्व के भक्तों ने किया, वह निस्संदेह प्रेम से आवृत है। उसके चारों ओर प्रेम ही प्रेम दृष्टिगोचर होता है। गोपी गोप, गोपाल तथा उनकी प्रिया जी कहने को तो भिन्न हैं, किन्तु वे सब एक मात्र प्रेम ही हैं और कुछ नहीं। उनकी क्रीड़ा भी प्रेम है, क्रीड़ा करने वाला भी प्रेम है, व्रज क्षेत्र भी प्रेम है और वे स्वयं भी प्रेम ही हैं। अस्तु, इस प्रेम क्रीड़ा का जब प्राकट्य होता है, तो रसिकों को उनके जीवन का अमृत प्राप्त हो जाता है। क्रीड़ा-दर्शन की मधुरिमा प्रतिक्षण उनकी वाणी में मूर्तिमान

होकर प्रकट होने लगती है और वे प्रेम-विभोर होकर समस्त सांसारिकता को भूल जाते हैं। राधा माधव की इस मधुर क्रीड़ा की अनुभूति इन परवर्ती, भक्त कवियों ने भी की और अपने काव्य में उनके रास, नृत्य, हिंडोल तथा जलविहारादि अनेक प्रकार की लीलाओं की व्यंजना को प्रस्तुत किया।

रास-नृत्यः—

सौन्दर्य से परिपूर्ण शरद पूर्णिमा की उज्ज्वल निशा, प्रफुल्लित वसुन्धरा की हृदयस्वरूप ब्रज-वनस्थली और धीमी गति से प्रवाहित होने वाली यमुना की कल-कल ध्वनि के सयोग को पाकर श्याम की मुरली ने जिस भाव भरे स्वर को गुंजित किया था, उससे रास का रहस्य और रस रूपी अमृत निस्संदेह प्रकट हुआ था। इस अमृत को पीकर जिस प्रकार गोपियाँ मतवाली होकर झूम उठी थीं, उसी प्रकार परवर्ती काल के कवि भी इस दिव्य लीला के स्मरण मात्र से आनन्द-विभोर होकर रसमग्न हो जाते हैं और अत्यंत उत्साह के साथ अनुरागमना होकर उसका गायन करते हैं। रास में माधव की कोमल अंगुलियों से वादित होकर जो ध्वनि उनकी वंशी से निसृत होती थी, उसके चिन्तन से इस युग के कवि भी अपने को सँभाल नहीं पाते और उस दिव्य संगीत की लय में बेसुध हो जाते हैं। उनकी छवि में इस रास की विशेष आध्यात्मिक महत्ता है, तभी तो उसकी अनुभूति में वे तन्मय हो जाते हैं, यथा—

हौं ही ब्रज, बृन्दाबन मोही में बसत सदा,
जमुना-तरंग श्याम रंग अवलीन की।
चहूँ ओर सुन्दर, सघन बन देखियतु,
कुंजनि में सुनियतु, सुगुंजनि अलीन की।
बंशीवट-तट नटनागर नटतु मों में,
रास के विलास की मधुर-धुनि बीन की।
भरि रही भनक बनक ताल-तानन की,
तनक-तनक तामें झनक चुरीन की।[१]

इतना ही नहीं, जब उस बृन्दावन में रसिकों को अपने प्यारे प्रभु के नृत्य की छमछमाहट की ध्वनि और वंशी के सुमधुर स्वर की अनुभूति होती

---

१ 'ब्रजमाधुरी' पृ० ३०५—"देव"

है, तब वे भी अपनी वाणी के आवेग को नहीं रोक पाते और स्वर मिलाकर गा उठते हैं—

थिरकि-थिरकि झुकि धरत धरन पग कर गहि कर नहियाँ बनवारी।
निरत-निरत थेइ-थेइ मुख उलहत कलित ललित गति मन्द धुरारी।
निरखि-निरखि सुर विहरत हरखहिं गौर स्याम छवि अद्भुत प्यारी।
चिन्त लील मनि बसत कनक तजि तड़िता मनु घन मिलि लहकारी।
छवि रसिक रासलालन विलास जन कृष्णदास मन जन प्यारी।
बरुनी नचाय रितु ल्याइ-ल्याइ सारद लजाय थक विच हारी।
नैनन निहार अतुलित विचार, मनसिज विसार दै सुधि सारी।
थेइ-थेइ पुकार टटकार मार, निरतत कुमार सिरि बनवारी।[1]

प्रत्यक्षानुभूति के अभाव में इतना सरस वर्णन सम्भव नहीं होता। अपने दिव्य चक्षुओं से भक्त निरंतर गोपी कृष्ण की इस नित्य रास लीला का अनुभव करता रहता है। इन परवर्ती रसिकों की अभिव्यंजना को देखकर दृढ़ता के साथ कहना पड़ता है कि वे सभी श्यामरंग में सराबोर होकर ही गाते हैं। राधामाधव के रास नृत्य की प्रत्येक ताल और लय पर उनका मन भी थिरक उठता है। श्रीकृष्ण और उनकी प्रिया जी का हुलास तथा बीन के स्वर में मिला हुआ युगलगीत तो साधक पर मधुर रस का कलश ही उड़ेल देता है। यहाँ इनकी कला का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है।

जल-क्रीडाः—

अनुराग के रंग में रँगे हुए राधा-कृष्ण रूप की तरंगों के हिलोरों से सने हुए मधुर रस का पान करते हुए थकित होकर भी तृषित ही रहते हैं। रस की विह्वलता श्रम का अनुभव नहीं होने देती, किन्तु जब सुधि वापस आती है, तो वे दोनों कलाकार अपनी अंतरंग सखियों के प्रस्ताव पर श्याममयी यमुना को कृतार्थ करने के हेतु उसमें जल-प्रवेश करते हैं। बस, श्याम-श्यामा की जल-केलि का यहीं से सभारम्भ होता है। अपने प्यारे के मधुर स्पर्श को पाकर यमुना जी की गति स्तम्भित हो जाती है और वे उस दिव्य माधुर्य का अनुभव कर अपने आपको भूल जाती हैं। दम्पति किशोर यमुना की इस स्थिति का अवलोकन कर प्रफुल्लित हो जाते हैं और तब उन्हें कृतार्थ करने के लिये अपनी दिव्य क्रीड़ा करने लगते हैं। पूर्ववर्ती रसिकों की दिव्य प्रेरणा से परवर्ती

१ 'ब्रजभारती' वर्ष ११, अंक ३, पृ० २०, (कृष्णदास कायस्थ)

संप्रदायमुक्त कवि अपने हृदय-कुंज के किनारे प्रवाहित होने वाली यमुना के निर्मल जल में जब श्यामसुन्दर की जल क्रीडा की अनुभूति करते हैं, तब उनकी लेखनी भी कुछ लिखने के लिये चंचल हो उठती है। वे और लिखते हैं —

जुगलवर जल बिच करत विहार।
जुरि गोरिन, जलजन भरि झोरिन, घेरि लईं रिझवार।
नैन सैन लहि भानुलली की, सज्जित सखिन अपार।
लै कर-कमल कोऊ डरपावति, कोउ चुपके कर धार।
कोउ धावति, कोउ घात लगावति, करि दृग-कमलन वार।
खेलत, भजत, दुरत जलबिच हरि बह्यो जाय मझधार।
लखि कौतुक-विचित्र कालिन्दी रोक दई निजधार।
यह कृपालु येहि जलविहार पर बार-बार बलिहार।

—प्रे० र० म० पृ० २०१

कृष्ण क्रीडित यमुना की इस धार में इन रसिकों की दिव्य आँखे भी जाकर फंस जाती हैं और ऐसी मत्त हो जाती हैं कि फिर उन्हें अपनी स्थिति का भी ज्ञान नहीं रहता। रस के लोभ में आंखों की तो यह दशा होती है, साथ ही इनका चित्त भी वहीं रह जाता है।

हिंडोला: —

यद्यपि अखिल लोकनायक ब्रजराज का रहस्य अत्यंत गोप्य है तथापि रसिक जनों के समक्ष उद्घाटित हो ही जाता है। प्रिया प्रियतम के रुचिर प्रेम में सने हुये भक्त उस रहस्य को हृदयंगम कर प्रभु के सान्निध्य का लाभ उठाते हैं और उनकी प्रत्येक लीला-दर्शन के सुख का अनुभव करते हैं। यमुना के सुन्दर पुलिन पर आह्लादिनी के साथ विहार रत माधव की दिव्य लीलाओं में हिंडोला की अपनी महत्ता है। रसिकों के आनंद के हेतु इसका भी प्रदर्शन श्याम-श्यामा ने रस विभोर होकर किया है। रेशम की डोर से युक्त तथा पुष्प मालाओं से सुसज्जित परम रम्य हिंडोले पर जब ससार की अमित रूप राशि विद्यमान होती है, तो बरबस देव-कन्याओं तक के चित्त चंचल हो उठते हैं और यही झाँकी जब रसिकों के स्मृति पट पर आकर उपस्थित होती है, तो वे प्रेम-रस मदिरा से उन्मत्त होकर गा उठते हैं :—

झूलत श्यामा-श्याम कोटि-रति-काम-प्रभाधर,
धाईं रति अरु रस सिंगार जनु धारि अंग वर।

कै सुखमा सौन्दर्य अनूप रूप रचि राजत।
मृदुल माधुरी औ लावन्य ललित कै भ्राजत।
एक ओर ललिता औ दूजी ओर विसाखा,
प्रेम-पदारथ-देनहारि सुरतरु की शाखा।
दंपति-सुख संपति अनूप-निधि की रखवारिनि,
कृपा-कलित मुसक्यानि मंद की नित अधिकारिनि ॥६३॥

—हिंडोला (रत्नाकर)

हिंडोले पर विराजमान रति और रस स्वरूप प्रिया–प्रियतम इन परवर्ती साधकों के भी मूर्तिमान भाग्य हैं और सिद्धि की राशि हैं। अनुराग की परम पवित्र भूमि पर वे दिन रात अपने प्रभु के ललित लावण्य को देखते हुये भी नही अघाते। सखियों द्वारा झुलाये जाने वाले वे रसिक-शिरोमणि निस्संदेह शिव हृदय की भी शोभा हैं और रसिकों के लिये क्या हैं? इसे वे रसिक महोदय स्वयं कहते हैं—

सुभ सोभा सौभाग्य सुभग संकर-उर-पुर के।
सकल सुमृति अरु वेद-सार सरनालय सुर के।
कलप-लता चिंता मनि चारु सुकवि रसिकनि के,
जिय जानत न कहात कहा अनन्य भक्तनि के ॥३६॥

—रत्नाकर प्र० भा० पृ० ७

कुंज-संयोगः—

जिस अलौकिक एवं दिव्य धाम में राधे के प्रेम में तन्मय होकर श्रीकृष्ण ने अपने भक्तों के हेतु नित्य विहार-सुख की झाँकी उपस्थित की थी, वह वृन्दावन रसिक भक्तों का सर्वस्व है। यहाँ का समस्त जड़ जंगम इन कवियों की दृष्टि में दिव्य एवं चिन्मय प्रतीत होता है। युगल किशोर की नित्य-लीला का यहीं प्राकट्य हुआ है और यहीं उन्होंने अपनी आह्लादिनी शक्ति के साथ आनंद का अनुभव करते हुये दिव्य कुंजों को अपने नित्य संयोग से पवित्र भी किया है।

छविः—

सुन्दर लताओं से आच्छादित कुंज मे जब साधकों के स्मृति पट से राधा-माधव की छवि दिखलाई देती है तो वे मन, वचन और कर्म तीनों से अपने आपको न्योछावर कर देते हैं। लोकातीत प्रेम की दिव्य झाँकी का

माधुर्य उनके दिव्य नेत्रों में विद्युत की भाँति बार-बार चमक उठता है और वे पूर्ववर्ती भक्तों की भाँति ही झूम-झूम कर गाने लगते हैं

> बलि जाउँ निकुंज विहार की।
> नागरि श्री वृषभानु कुँवरि अरु नागर नंद कुमार की।
> जनु धरि रूप अनूप प्रगट भई, मूरति छवि सिंगार की।
> करत केलि भुज मेलि विविध विधि बरसावन रस धार की।
> संग नवेलिन अलि अवलीन हितिन जूथ अपार की।
> पियत कृपाल रसिक निसि बासर, सुधा प्रेम-रस-सार की।
> —प्रे० र० ... पृ० २१९

युगल नर्तनः—

रूप और शृंगार का यह मूर्तिमान संयोग जब तत्स्वरूप-रस की वर्षा अपने निकुंज में करता है, तो निश्चित ही साधक जन उसकी मधुरता का आस्वाद करते है, और फिर निरंतर यह छवि उनके हृदय में बसी रहती है, यथा—

> दोऊ मिलि केलि कुंजनि करत।
> राधिका राधेरमन की सरस छवि लखि परत।
> रास रंग राते रगीले भामिनी भुज परत।
> झमकि नाचत सखिन संग लखि मोर लाजनि मरत।
> मधुर अधरा धरनि ऊपर ललित वंशी धरत।
> मोहिबे हित कोकिलन कल सरस सुभ सुर भरत।
> रति मनोज दुहून की दुति जनु जुगल मिलि हरत।
> विमल बद्रीनाथ कविवर छवि न हिय तें टरत।
> — प्रेमघन सर्वस्व पृ० ४३६।

यमुना के कूल पर आच्छादित लताओं के कुंज में प्रिया-प्रियतम के द्वारा किया हुआ नृत्य सखियों के साथ रसिकों को भी पुलकित कर देता है। इस नृत्य में रसमाते दम्पति जब श्रमित हो जाते हैं, तो उस निकुंज में पहुँच जाते हैं, जहाँ की छवि को सखीजन दूर से ही देखकर अपने को धन्य मानते हैं, प्रेम की इस छवि की वैसी ही अभिव्यंजना नितांत असंभव है, क्योंकि उसका रसास्वाद अनुभूति मात्र से होता है। प्रतिक्षण इस प्रेम के मधुर संयोग की अभिलाषा में राधा-माधव तन्मय रहते हैं। उचित भी है। नित्य संयोगियों का नित्य धाम में अलग होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रकट लीला विशेष के

कारण वे तनिक देर के लिये अलग होते हैं और भक्तों के आनंद हेतु फिर मिलने का प्रयास करते हुये दृष्टिगोचर होने लगते है। अनायास जैसे ही संयोग होता है, रसिक विह्वल हो जाते है और वर्णन करते है—

हेरत दोउन को दोऊ औचकहीं, मिले आनिके कुंज मंझारी।
हेरत ही हरिगे हरि राधिका के हिय दोउन ओर निहारी।
दौरि मिले हिय मेलि दोऊ, मुख चूमत ह्वै घन प्रेम सुखारी।
पूरन दोउन की अभिलाष भई पुरवैं अभिलाष हमारी।

—प्रेमघन स०, प्रेमपीयूष वर्षा पृ० १९७

एक बार तनिक श्यामसुन्दर और राधा की तन्मय स्थिति का पुनः अवलोकन कीजिये—

औचक अकेले मिले कुंज रस पुंज दोऊ,
भौचक भए औ सुधि बुधि सब ख्वै गईं।
कहैं रतनाकर त्यौं बानक विचित्र बन्यौ,
चित्र की सी पलकैं सुभौंहनि में प्वै गईं।
नैननि में नैननि के बिम्ब प्रतिबिंबनि सौं,
दोउ ओर नैननि की पाँति बाँधि द्वै गईं।
दोउन को दोउन के रूप लखिबै को मानौ,
चार आंख होत ही हजार आँख ह्वै गईं।

—रत्नाकर द्वि० भा० पृ० ११

रूप का यह परस्पर दर्शन प्रिया प्रियतम दोनों को मुग्ध कर देता है। रसिक-जन तो इसका वर्णन ही नहीं कर पाते, वे तो केवल यह कहते हैं—

प्रेम रूप गुण कहत न आवै सो जानै जो यह रस पावै।
प्रेमी प्रियतम मिलन चहत यों, उमंगि-उमंगि द्वै सिन्धु मिलत ज्यों।
दोउ अति व्याकुल तन सुधि भूली, दोउ दिसि नेह लता फलि फूली।
दोउ दिसि धधकत ध्यान अंगीठी हिय-हिय कसकत-कसकन मीठी।
दीन्हें तन-मन दोउ प्रवीना, दोउ चकोर दोउ चातक मीना।
बरषत आनंद नयनन-नयनन, मुवित मोद बनमाल सुबयनन।

—श्री कृ० वि० प० पृ० २२

हृदय में निरंतर ज्योतित होने वाली प्रेम ज्योति का प्रकाश जब नेत्रों में झलकने लगता है, तो फिर दम्पति किसोर की आसक्ति द्विगुणित हो

जाती है। महाकवि हरिऔध भी कुंज के मध्य होने वाली इस दिव्य रूपा-शक्ति का चित्रण करते हुये लिखते है—

राधिका-नयन मैं हैं मोहन-नयन बसे,
मोहन विकल राधा-नयन निकाई पै।
प्यारी मुख-सुषमा सराहत रहत प्यारो,
प्यारी मोहि जात प्यारे मुख-मंजुताई पै।
हरिऔध श्याम कौ कहति रमनी है काम।
स्याम रति वारत रमनि रुचिराई पै।
लाल को लुभावति है ललना ललित-छवि,
ललना लटू है भई लाल की लुनाई पै।

—रस कलश पृ० २५०

रतिः—

परस्पर रूप का यह मोहन अधिक देर तक प्रेम के आवेग को रोक नहीं पाता और राधा-माधव-द्वैत को अद्वैत बना ही देता है। हृदयस्थित उमंग की तरंगों से लहराते हुये वे दम्पति रस-सागर में डूबते उतराते हुये एकाकार हो जाते हैं। कवि वर्णन करता है—

छकी प्रेम मद नागरी उर धरि बन्धु अमोल।
नंदलाल बड़भाग सौं ठानी काम कलोल॥

—'ब्रजभारती', वर्ष ११, अंक ३, पृ० २१

इससे कम सौभाग्य राधिका का नहीं जान पड़ता जब कवि यह कहता है—

रति विपरीति रची प्यारी मन मोहन सौं,
करिकै कलोल केलि कसक मिटाये लेति।
हिय हिलकोरनि सौं झमकि झकोरनि सौं,
किंकिनी के सोरनि सौं उर उमगाये लेति।
उच्च कुच-कोरनि सौं जुग-जंघ जोरनि सौं,
मैन के मरोरनि सौं दुमुचि दबाये लेति।
अंग-अंग अमित अनंग की तरंग भरी,
प्रथम समागम कौ बदलौ चुकाये लेति।

—रत्नाकर द्वि० भा० पृ० १९

जब श्याम-श्यामा की यह रतिरसमग्ना छवि इन परवर्ती प्रभावित कवियों की स्मृति में पूर्ववर्ती साधकों की भाँति ही छा जाती है, तो ये उस अद्वैत ज्योति में एकाकार होकर प्रेममय हो जाते हैं। यथार्थ में ये दोनों रसिक शिरोमणि एक है—इसका रहस्य केवल रस साधना में प्रविष्ट अधिकारी साधक ही जानता है और निरंतर चिंतन कर सुखी होता है, यथा –

धरौ मन युगल-माधुरी ध्यान।
मनमोहन-मोहिनि श्यामा अरु, मोहिनि-मोहन कान्ह।
इन दोउन कहँ विलग न मानिये, द्वै देही इक प्रान।
पै लीला विलास महँ मोहन, अनुचर रसिक प्रमान।
रिझवत नित निकुंज श्यामा कहँ, मरम न सक कोउ जान।
यह कृपालु रस रसिकहिं जानत जो नित कर रह पान।

—प्रे० र० म० पृ० २१२

कुंज संयोग की इस मधुरिमा के वश कभी कृष्ण प्यारी की वेणी गुहते हैं और कभी प्रिया जी अपने प्रिय प्राणनाथ को नवीन नवला बनाकर उनकी रूप छटा को कुंज में अपलक निहारते हुये रति-रस-मग्न होकर विह्वल हो जाती हैं। कवि के शब्दों में श्रीकृष्ण की वेणी-गुहन के संयोग-सुख का एक दृश्य देखिये—

गूथन गुपाल बैठे बेनी बनिता की आप,
हरित लतानि कुंज माँहि सुख पाइकै।
कहै रतनाकर संवारि निरवारि बार,
बार-बार विवस विलोकत बिकाई कै।
लाइ उर लेत कबौं फेरि गहि छोर लखैं,
ऐसे रही ख्यालनि मैं लालन लुभाइ कै।
कान्ह गति जानि कै सुजान मनमोद मानि,
करत कहा हौ ? कह्यौ मुरि मुसुकाइ कै।

वेणी तो गुह जाती है, किन्तु राधा आनंद में डूब जाती है और तब श्यामसुन्दर भी प्रिया जी के कोमल करों से नवेली बना ही दिये जाते हैं। माधव का यह नवेली रूप राधा के चित्त में बस जाता है और वे ललित लताओं से आच्छादित कुंज के मध्य रस मग्न होकर झूम उठती हैं, यथा—

प्यारे परवीन कौं बनायौ नवला नवीन,
नायक प्रवीन बनि आप उर लाये लेति।
छल कैं छबीली ज्यौं-ज्यौं भरत न देत अंक,
त्यौंही त्यौं निसंक भुज भरि लपटाये लेति।
झूमि-झूमि लेति मुख चूमि-चूमि लेति मुख,
दूमि-दूमि उरुनि नें उरमैं दबाये लेति।
पूरन प्रभाव विपरीति कौ प्रकासि प्यारी,
प्रथम समागम कौ बदलौ चुकाए लेति।

—रसमा० द्वि० भा० पृ २०

इस प्रकार कुंज के मध्य होने वाली युगल-रस-वर्षा से निस्संदेह भक्ति-भूमि हरी-भरी हो जाती है और साधक की भावना में विश्वास और श्रद्धा का शाश्वत जागरण हो जाता है।

युगल वियोग-प्रवाहः -

जिस प्रकार राधा श्यामसुन्दर की प्राणेश्वरी है, श्यामसुन्दर उसी प्रकार राधा के भी प्राणनाथ हैं। दोनों का संयोग नित्य है, लीला नित्य है और विहार भी नित्य है। किन्तु जब वे श्यामसुन्दर इन परवर्ती साधकों की दृष्टि में भी वियोगी दृष्टिगोचर होते हैं, तो केवल प्रकट लीला विशेष के कारण। प्रभु नहीं चाहते कि उनके भक्त एक क्षण के लिए भी उनका विस्मरण करें, अस्तु उनकी चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करने के हेतु ही उनकी यह वियोग लीला होती है। राधा-माधव के वियोग की भांति ही इन रसिक भक्तों को भी इसकी अनुभूति होती है और उनका मन कुंजविहारी के दर्शन के बिना आकुल हो जाता है। मधुर रस की चाशनी का स्वाद पाये हुये भक्ति युग के साधकों की भांति य साधक भी मुरारी के वियोग में प्रतिदिन मुरझाते जाते हैं। प्रतिक्षण की प्रतीक्षा से उनके नेत्र व्याकुल हो जाते हैं, हृदय अधीर हो जाता है और वे उन्मत्त की भांति वृन्दावन के कुंजों के सौभाग्य का स्मरण कर अचेत हो जाते हैं। जिस प्रकार राधा को श्याम के बिना और श्याम को राधा के बिना एक-एक पल युग समान हो जाता है, उसी प्रकार इन भक्तों के स्मृति-पटल से युगल झांकी के अदृश्य होते ही, उनकी रसमयता समाप्त सी हो जाती है, किन्तु वे फिर भी गाते हैं —

यदि नंदनंदन दरसन पाऊँ ।
तौ भरि नयन निहारि महाछवि हिय भरि कंठ लगाऊँ ।
निरखत पंथ रह्यौ नहिं धीरज कब लौं मन समुझाऊँ ।
ज्यौं बिन चन्द्र चकोर अमावस त्यौं निसि सकल गवाऊँ ।
लाय सुगन्धित सुमन उमगि उर माला ललित बनाऊँ ।
ज्यौं-ज्यौं बीतै रैनि फटै हिय प्रातहि सरित बनाऊँ ।
निरखि भ्रमर मनभ्रमत आगमन जानि गहन हित धाऊँ ।
जो बनमाल पंख कहुँ पाऊँ तौ तुरतहि उड़ि जाऊँ ।

—श्रीकृष्ण विरह पत्रिका पृ० ७५

साधकों के इस गान में प्रिय प्रभु के वियोग की बेदना का रहस्य छिपा है । यदि श्यामसुन्दर के दर्शन उन्हें नहीं होते, तो वे जीवन धारण नहीं कर सकते । उन्मत्त की भाँति प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में उनकी छवि को देखने लगते हैं । वियोग में इन भक्तों को भी प्रत्येक पदार्थ श्याममय प्रतीत होता है, यथा:—

सर सरिता सरसीरुह कुंजन अम्ब कदम्बन माहीं ।
ललित लतान महाछवि छलकत हरि प्रतिबिम्ब लखाहीं ।
सजल जलद नभ इन्द्र धनुष में दरसत हैं बनमाली ।
नवल पल्लवन प्रफुलित फूलन लसत लाल की लाली ।
नाचत मोर मनोहर मानहुँ नाचत नटवर प्यारे ।
सुक पिक सुन्दर बोलत मानहुँ बोलत नन्द दुलारे ।
गुंजत भृंगन झुंड मधुर धुनि मानहुँ वंशी बाजै ।
जनु बनमाल धरै रवि ससि में मोहन मूरति राजै ।

—कृ० वि० प० पृ० ८२

इस प्रकार भक्त श्रीकृष्णमय प्रकृति की झाँकी को वह तब तक देखता रहता है, जब तक अपने में स्थित नहीं होता । अपनी अनुकूल स्थिति में आते ही वह पुनः विरह-वेदना से व्याकुल हो जाता है और कहता है —

कब वियोग-निसि विनसिहै लहे दिवस-संयोग ।
कब अँखियाँ अवलोकिहैं मुख अवलोकन योग ।
घन-रुचि-तन-नव-छवि निरखि कब नचिहै मन मोर ।
वदन-चंद अवलोकिहैं कब मन-नयन चकोर ।

—'हरिऔध' रस कलश पृ० २५८

प्यारे माधव के चन्द्रमुख को निहारने के हेतु जिन भक्त के नेत्र चकोर बनकर निरंतर व्याकुल रहते हैं, वह जब राधा के बिना श्याम को और श्याम के बिना राधा को तड़पता देखता है, तो उसकी अभिव्यंजना में प्रेम की हूक उठने लगती है और उसमें तो फिर सभी बेहाल हो जाते हैं।

कृष्ण वियोगः—

कई बार इस बात का संकेत पूर्व में किया जा चुका है कि नित्यसंयोगी कृष्ण की वियोग लीला, प्रकट लीला विशेष के कारण रसिकों के रसास्वादन के हेतु होती है। किन्तु इस वियोग में ही माधव सच्चे वियोगी भी हो जाते हैं। प्रिया जी की क्षण भर की भी अनुपस्थिति से वे पागल हो उठते हैं। इस समय उनकी आकुलता इतनी बढ़ जाती है कि कहते नहीं बनता। इसका जैसा वर्णन इन रसिकों ने किया उसमें वेदना की सच्ची टीस विद्यमान है। राधा के वियोग में अधीर श्रीकृष्ण की एक स्वाभाविक झांकी देखिये—

कुँवरि बिनु, कुँवर न उर धर धीर।
कबहुँक पंथ निहारत ठाढ़ो, मंजुल कुंज कुटीर।
कबहुँक नखन लिखत कछु मेदिनि नैनन बरसत नीर।
कबहुँक देखि चरन-चिन्हन कहँ, धरत शीश तँह बीर।
कबहुँक हाय-हाय कहि निकसत दीरघ श्वास समीर।
कबहुँक उठि इत उत को भाजत विह्वल प्रेम अधीर।
होत "कृपाल" कबहुँ पुनि मुर्छित सुन्दर श्याम शरीर।

—प्रे०रा०म० पृ० २४३

वियोगी कृष्ण में यहाँ पर प्रतीक्षा, अधीरता, उछ्वास, विह्वलता, उन्माद तथा मूर्च्छा आदि सभी कुछ दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी स्थिति में जब घनश्याम को कहीं प्रिया जी दृष्टिगोचर नहीं होतीं, तो वे परम विरही होकर कुंज-कुंज में उन्हें ढूँढ़ने लगते हैं, यथा—

ढूँढ़त श्याम फिरत कुंजनि बिच कित वृषभान किसोरी रे।
चम्पक केसर कुन्दन हूँ ते सरस-सरस तन गोरी रे।
सिसु-मृग दग वारी, ससिबदनी, नवल वयस अति थोरी रे।
कहाँ गई छल छबि हरनी नितवत हीं चित को चोरी रे।

"बदरीनारयाण" कित भाजो लै मन भौंह मरोरी रे।

—प्रेमघन सर्वस्व पृ० ४२३

प्रिया जी के विरह में वे गोविन्द इतने व्याकुल हो जाते हैं कि उन्हें अपने शरीर तक की सुधि बुधि नहीं रहती। उनकी अस्तव्यस्तता का चित्र खींचते हुए रत्नाकर जी लिखते हैं—

देख्यौ बन-गैल आज छैल छरकीलौ एक,
लोटत धरा में पर्‌यौ धीरज न धारे हैं।
कहै "रत्नाकर" लकुट बनमाल कहूँ,
मुकुट सुढाल कहुँ लुठित धुरारे हैं।
काको कौन नेंकु निरवारत न नीकैं बोलि,
खालि कछु वेदन कौ भेद न उघारे है।
आँस भरि आधो नाम राम को उचारे पुनि,
साँस भरि आधैं बैन धेनु के पुकारे हैं।

—रत्नाकर द्वि० भा० पृ० ७७

यथार्थ में बिना इस तड़प और आकुलता के आह्लादिनी का आह्लाद जब कृष्ण तक को प्राप्त नहीं होता, तो औरों की बात का तो प्रश्न ही नहीं उठता। रसिक जन भी निरंतर इस आकुलता का अनुभव प्रिय-दर्शन के अभाव में करते है और अपनी साधना में तपकर परम दिव्य रूप से प्रभु का सान्निध्य पा जाते हैं।

राधा-वियोगः—

जिसकी भृकुटी के विलास को प्यारे मोहन निरंतर देखते रहते हैं और जिसके नाम को रटते-रटते बृन्दावन की कुंज गलियों में आकुल होकर विचरते रहते हैं, वे राधा भी प्राणनाथ केशव के बिना परम दुखी हो जाती हैं। अत्यंत व्याकुलमना होकर परवर्ती वर्ग का रसिक भी अपनी स्वामिनी राधा प्यारी की अधीरता का वर्णन करता है, यथा—

पिया बिनु प्यारी होति अधीर।
पिवु-पिवु रटति अटति ब्रज वीथिन घटत न दृगघट-नीर।

राधा की प्रिय मिलन की यह अभिलाषा इस अधीरता से बढ़ जाती है और वे कवि के शब्दों में उसे व्यक्त करती हुई कहती हैं—

ब्रज मैं पधारि ब्रज जीवन विनोद दैहैं,
बृन्दाबन वीथिन मैं विहँसि विचारिहैं।

लैहैं सुधि विपुल-बिहाल ब्रज बालन की,
तानन सुनाइ सुधा कानन में भरिहैं।
'हरिऔध' फेर कबौं अनुकूल ह्वैहैं लाल,
कूल पै कलिंद-तनया के केलि करिहैं।
हरिहैं हमारो दुख-पुंज गुंजमाल वारे,
कुंज के बिहारी फिर कुंज में बिहारिहैं।

—रस कलश पृ० २५७

अपने हृदय में इस उत्कंठा को धारण किये हुये प्रिया जी प्रतिक्षण-प्रिय मिलन के हेतु आकुल रहती हैं। निरंतर उन्हें यही चिंता बनी रहती है कि कुंजविहारी अनुकूल होकर कब अपनी रूप माधुरी का पान करायेंगे। जब कभी उन्हें निकुंज विहार के अपार सुख का ध्यान आता है, तो वे चिंताकुल होकर विरह-सागर में डूब जाती हैं. कवि चित्रण करता है—

जा थल कीन्हैं विहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सो करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गन्यो करैं।
'आलम' जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं।

—हि० सा० इ० पृ० ३३०

चिंता की चिता से निकलने वाली विरहाग्नि राधा को व्याकुल कर शरीर को सुखाये देती है। मधुर मिलन की अभिलाषा से वे प्राण भी नहीं त्यागतीं और प्रिय की अनुपस्थिति में प्राण रखें भी, तो किसलिए? कवि चिंताकुल अवस्था का चित्रण करता हुआ लिखता है—

जब तैं विलोक्यो बाल लाल बन-कुंजनि में,
तब ते अनंग की रंग उमगति है।
कहै रत्नाकर न जागति न सोवति हैं,
जागत और सोवत में सोवत-जगति है।
डूबी दिन रैन कहै कान्ह ध्यान वारिधि में,
तौहूँ विरहागिनि की दाह सौं दहति है।
धूरि परौ ए री ईहि नेह दई मारे पर,
जाकी लाग पाइ आग पानी में लगति है।

—रत्नाकर हि० भा० पृ० २२

प्रिय के संयोग सुख की चिंता करते-करते वृषभानु नन्दिनी का शरीर क्षीण हो जाता है, सखियों का संग अच्छा नहीं लगता और खेलना हँसना सब कुछ बिसर जाता है। उनके हृदय में निरंतर अपने प्रभु का ध्यान बना रहता है। बनमाल की भावना पर तनिक दृष्टिपात कीजिये:—

जबहिं नंदनंदन की सुधि होत।
सुमिरत ही हिय पीर उटत है ज्यों जल बूड़त पोत।
नैनन सों नहि नैन सकैं मिलि उमगत अंसुवन सोत।
उड़ि न सकें बनमाल जाल फँसि ए मम प्रान कपोत।

—श्रीकृष्ण वि०प०पृ०८६

स्मरण करते ही प्रिया जी के हृदय में प्रेम की हूक उठने लगती है। वे भूलने का प्रयत्न सा करती हैं, किन्तु भूल नहीं पातीं। श्यामसुन्दर के उस अलौकिक रूप ने उन्हें मतवाला बना दिया है। कविजन इस स्थिति को देखकर राधा की भावव्यंजना को प्रकट करते हुये कहते हैं—

पिया बिनु उठत हूक हिय हाय।
सांवरी सूरति मोहनी मूरति, मो मन गई समाय।
ज्यों-ज्यो हौ विसरावति त्यों-त्यों अधिक अधिक सुधि आय।
लखि कृपालु प्राणाधिक-प्रियतम प्राणहु तजि न सकाय।

--प्रे०र०म०पृ०२४६

हृदय की हूक, आँसुओं के प्रवाह और निरंतर के स्मरण ने प्रिया जी के धैर्य का दमन कर दिया है। वे प्यारे के बिना उन्मत्त की भाँति वृन्दावन के सुरम्य कुंजों में उन्हें खोजती घूमती है। तन मन उनका भी उनके वश में नहीं रह गया है। यद्यपि प्रियतम उपस्थित नहीं हैं तथापि उन्मत्त स्थिति में वे निरंतर उन्हीं से रस वार्ता करती रहती हैं—

पिय बिनु पिय सों तिय बतरात।
भावावेश-समाधि-मगन मन बिहरति तिय दिन रात।
कबहुँक उठि कह तुम अति निष्ठुर तौ सन करहु न बात।
कबहुँक कह कितने प्यारे तुम सुन्दर श्यामल गात।
कबहुँक उर लपटाति कहति कछु कबहुँक पुनि रिसियात।
लतन कृपालु लसति ललितादिक लखि लखि हिय हुलसात।

—प्रे०र०म०पृ०२४७

इस अवस्था में जब वे घिरी हुई श्यामल घटा, पी-पी की रट लगाते हुये पपीहा और प्रकृति के सुरम्य प्रांगण मे थिरकते हुये मयूरों को देखती हैं, तो वे उनसे कहने लगती हैं—

घहरि घहरि घन सघन चहूँधा घेरि,
छहरि छहरि विष बूँद बरसावै ना।
द्विजदेव की सौं अब चूक मत दाँव, एरे
पातकी पपीहा ! तू पिया की धुनि गावै ना।
फेरि ऐसो औसर न ऐहैं तेरे हाथ एरे,
मटकि मटकि मोर मोर तू मचावै ना।
हौं तौ बिन प्रान प्रान चहत तजोइ अब,
कत नभचंद तू अकास चढ़ि धावै ना।
—द्विजदेव—हि०सा०इ०पृ०४०२

श्रीकृष्ण के अभाव में प्रत्येक जीव उन्हें दुख देता हुआ जान पड़ता है और समस्त प्रकृति उन्हें विपरीत चेष्टा में रत प्रतीत होती है, जिससे उनकी वियोग की वेदना बढ़ती ही रहती है, कवि कहता है—

पिया बिनु प्यारिहिं विरह सताय।
विरहिनि निशा निशाचरि बनि जनु रही छिनहिं छिन खाय।
तारे मनहु भये अंगारे, नींद सौत भई आय।
दक्षिण-पवन अहिन-विष ले जनु, सब तन विष बगराय।
बन्यौं सुधाकर मनहु दिवाकर चिनगारिन बरसाय।
विधि विपरीत कृपालु कुंवरि लखि गिरी धरणि बिलखाय।
—प्रे०र०म०पृ०२४५

अपने प्राण-प्रियतम की नित्य संयोगिनी को प्रकट लीला विशेष से उत्पन्न यह विरह चैन नहीं लेने देता। उनके नेत्र प्रतिक्षण प्यारे के मार्ग की ओर लगे रहते हैं, किन्तु फिर भी वे उन्हें दृष्टिगोचर नहीं होते। वे व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं। उनकी अंतरंग सखियों से यह दुख देखा नहीं जाता, वे उन्हें धैर्य बँधाने लगती हैं। किन्तु प्रेममग्ना राधा पर इसका कोई असर नहीं होता। अस्तु, वे सखियों से कहती हैं—

बताओ सखि ! कैसे धरूँ मैं धीर।
जो रातें पल सम मधु बातें करत बीत गईं बीर।
वे अब पल पल कटत न मानो द्रुपद सुता को चीर।

जिन अँखियन जल नेकहु आवत पिय रह होत अधीर।
तिन अंखियन सों सदा एक रस, बहत रहत अब नीर।
जिनते होत पलक हूँ न्यारे, उठति रही उर पीर।
सुनति कृपालु कहानी उनकी, थे कोउ श्याम शरीर।
—प्रे०र० म० पृ०२९५

रसिकों के द्वारा लिखी हुई यह विरह-व्यंजना श्यामसुन्दर के संयोगाभिलाषी भक्तों के हृदय में तूफान पैदा कर, उन्हें अपार रस-राशि के समीप जाने के लिये उतावला बना देती है। उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात निश्चित रूप से मान्य हो जाती है कि इन परवर्ती भक्तों पर भक्तियुग की रस-साधना का पूर्ण प्रभाव विद्यमान है। भावों की व्यंजना, प्रेम की टीस, संयोग का सुख और कुंज-विहार के सरस वर्णन ने निस्संदेह इस बात को प्रमाणित करते हुए, इन कवियों की कला को सार्थक बनाकर जितना कल्याण भक्त हृदयी कवियों का किया है, उतना ही इस काव्य के अध्ययन करने वालों का भी। राधा कृष्ण की मधुर-लीला के रस का आस्वाद और उसके दर्शन की शाश्वत कामना ने भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित कृष्ण भक्ति के काव्य में आत्म दर्शन तथा आत्मसमर्पण दोनों का ही समावेश कर उपासना के मार्ग को अधिक प्रशस्त किया है। साथ ही प्रेम की मधुर सरिता में वेग भी उत्पन्न किया है। भावुकों को आज भी वृन्दाबन की इस पवित्र स्थलों में, यमुना के कूल पर पहुँचते ही राधा-माधव के परम रम्य रूप की झाँकी प्राप्त हो जाती है। स्मृतिपटल पर नित्य निकुंजेश्वरी और निकुंजबिहारी की छवि का दर्शन करते रहना ही इस रसोपासना की सबसे बड़ी सफलता है। प्रभु का सान्निध्य तभी प्राप्त होता है।

———

परिशिष्ट

परिशिष्ट

अन्य माधुर्योपासक संप्रदाय

वृन्दावन की सुरम्य एवं भक्तिमग्ना भूमि पर, मोहन-मोहिनी के प्रेम में मतवाले परम त्यागी रसिक संतों से प्रेरणा एवं प्रभाव लेकर कुछ ऐसे संप्रदायों ने भी इस मधुर रस की साधना को अपनाया है, जिनके सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य-सा प्रतीत होता है। इन संप्रदायों में श्री प्रणामी संप्रदाय तथा सहजिया संप्रदाय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

श्री प्रणामी संप्रदाय:—

इस संप्रदाय के आदि प्रवर्तक श्री देवचन्द्र जी निम्बार्क संप्रदायान्तर्गत आने वाले हरिदासी संप्रदायाचार्य एवं अनन्य रसिक श्रीहरिदास जी के अनन्य भक्त एवं शिष्य थे। इन श्रीदेवचन्द्र जी महाराज के परमप्रिय शिष्य थे स्वामी प्राणनाथ, जिन्हें इस संप्रदाय के विकास का श्रेय प्राप्त है। "पन्ना" के राजवंस के पूज्य स्वामी प्राणनाथ जी ने सखीभाव से ही उपासना का संदेश दिया है। रसावेश में, जिन भावों की अभिव्यंजना स्वामी जी करते थे, उसी को लिपिबद्ध कर उनके भक्त उसे अपनी भक्ति का स्रोत मानते थे।

इस संप्रदाय में भी भगवान कृष्ण की लीला को तीन रूपों में देखा गया है, यथा—(१) व्यावहारिकी (२) प्रातिभासिकी तथा (३) वास्तवी। इन रसिकों की दृष्टि में भगवान श्रीकृष्ण की नित्य व्रजलीला को व्यावहारिकी, नित्य रासलीला को प्रातिभासिकी तथा दिव्य ब्रह्मपुर-लीला को वास्तवी की श्रेणी में रखा गया है।

श्री प्रणामी संप्रदाय में भूषणदास जी का नाम अत्यंत आदर एवं श्रद्धा के साथ लिया जाता है। भूषण दास जी बहुत उच्चकोटि के विद्वान माने गये हैं। व्रजभाषा में इनकी थोड़ी सी रचनायें सिद्धांत सम्बन्धी प्राप्त होती हैं।

इस संप्रदाय के आदि प्रवर्तक श्री देवचन्द्र जी को, जो सैद्धांतिक रीति स्वामी हरिदास जी ने बतलाई थी, उसका अत्यंत स्पष्ट शब्दों में इन्होंने उल्लेख किया है। इन पंक्तियों में प्रणामी संप्रदाय की रसोपासना स्वतः प्रमाणित है—

अखंड नित्य वृन्दावन भाख्यो, सो हरिदास चित में राख्यो।
ताकी चरचा करें प्रेम सों, सेवें नित आचार नेम सों।
निज शिक्षा गुरु और बताई, सो देवचन्द्र चित्त सों लाई।
अपनौ सखी-भाव करि लीजै, पुरुष-भाव अपनौ तजि दीजै।
श्रीकृष्णचन्द्र जानौ गुरु आपन, श्यामा निज उपासना थापन।
सखी बिना इत पुरुष न पहुँचै, कोटि कष्ट करि जो मन शोचै।
तातें सखी भाव करि लीजै, पुनि यह नाम मंत्र रस पीजै।

—भूषणदास जी, 'श्रीसर्वेश्वर' वृन्दावनांक पृ० १००

सखी भाव से इस संप्रदाय के अनुयायी भी श्याम-श्यामा के नित्य-विहार का निरंतर चिन्तन करते हैं। आवश्यक सामग्री के अभाव में इस संप्रदाय के विवरण को बीच में उपस्थित नहीं किया गया। मेरे देखने में इस संप्रदाय के भक्तों का ब्रजभाषा में रचित साहित्य जो भी मिला वह इतना अपर्याप्त था कि प्रधान स्थल पर उसका उल्लेख नहीं किया जा सका वैसे शोध में पृथक रूप से इसे रखकर पर्याप्त कार्य किया जा सकता है। इस संप्रदाय के प्रधानाचार्य सूरत में विद्यमान हैं।

सहजिया संप्रदायः—

यह संप्रदाय यद्यपि चैतन्य से पूर्व का माना जाता है, तथापि महाप्रभु ने इसे अपनी रसोपासना से प्रभावित अवश्य किया। १४ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में होने वाले चंडीदास इसके प्रधान कवि विख्यात हैं। चैतन्य संप्रदाय की भाँति इस संप्रदाय में भी रागानुगा भक्ति के अवलम्ब से साधक इष्टदेव श्रीकृष्ण को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस संप्रदाय के भक्तों की मान्यता है कि मानव का निर्माण प्रेम से ही हुआ है और यही प्रेम उसके विकास में भी सहायक होता है। विकास तब होता है, जब मानव की वृत्तियाँ सतत् स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर रहें। उपासना के क्षेत्र में इन साधकों का विश्वास है कि बिना नारी भावना के भक्त अपने भगवान का सान्निध्य प्राप्त नहीं कर सकता। इस नारी भावना के पवित्र संकल्प में साधक के वासनात्मक विचारों का परित्याग हो जाता है। भागवत् संप्रदाय के रचयिता ने अपने ग्रंथ में "रत्नसार" के उद्धरण से इस बात को प्रमाणित किया है—

शुद्ध सत्य मानुष एई स्वभाव विनम्वति।
स्त्रीमूर्ति आश्रित तार भजन पीरिति।
आपनारि नारी दिया आपनि सेवारि।
ताहा ते पुरुषत्व किंवा जाति कुल दिया।
नाम मात्र पुरुषतार आकार पाइया।
—रत्नसार भा० सं० पृ० ४८३

इस संप्रदाय की विचारधारा में सैद्धांतिक रूप से राधा-कृष्ण युगल को परमतत्व के रूप में स्वीकार कर उन्हें महाभावस्वरूप माना गया है। कवि चंडीदास की रचनाएँ महाभावस्वरूप राधाकृष्ण की विहार-लीलाओं से युक्त है। उन्होंने राधा-माधव के संयोग-रस के माधुर्य को प्रेम की सर्वोत्कृष्ट कोटि में रखा है।

इस संप्रदाय के लोग वृन्दावन के तीन रूप मानते हैं:—

(१) वृन्दावन (२) मन-वृन्दावन (३) नित्य वृन्दावन

साधक, वृन्दावन तथा मन वृन्दावन को पार करके ही नित्य-वृन्दावन में होने वाली युगल रूप की नित्य छवि का दर्शन करता है। यह नित्य वृन्दावन सहजिया साधकों की दृष्टि में वृषभानु लली तथा वृन्दावनेश्वर की लीला भूमि चन्द्रपुर नाम से विख्यात है। राधा-माधव युगल की स्वरूप लीला का यह केन्द्रस्थल इस संप्रदाय के भक्तों के लिये प्राणस्वरूप हैं। वे इसे क्षणमात्र के लिये भी ओझल नहीं होने देते। नित्य वृन्दावन की यह लीला प्राकृत में वृन्दावन "श्री रूपलीला" के नाम से जानी जाती है। शनैः शनैः इसी लीला-विहार के सुख का अनुभव करता हुआ भक्त उस दिव्य स्वरूप लीला के केन्द्र-नित्य वृन्दावन में प्रवेश करता है। इस लीला से माधव युगल कभी एक और कभी दो रूपों में नित्य दृष्टिगोचर होते हैं:—

राधा कृष्ण रस-प्रेम एकुइ से हय।
नित्य-नित्य ध्वंस नाइ नित्य विराजय।[1]

यह रूप प्राकृत वृन्दावन में जब प्रकट होता है, तो अपने आप रसिक उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं और उस दिव्य प्रेम की महत्ता का अनुभव

---

१ तरुणीरमणकृत—सहज उपासना तत्व, बंगीय साहित्यपरिषद् पत्रिका खंड ४ सं० १।

करते हैं। कुंज मे विहार करने वाले वे राधा कृष्ण निस्संदेह एक ही हैं, जो अपने जनों के आस्वाद के हेतु यहाँ रस की वर्षा करते रहते है, यथा—

सेइ रूपेते करै कुंजेते विहार ।
सेइ कृष्ण एइ राधा एकुइ अपार ।
राधा हइते निकाकार रसेर स्वरूप ।
अतएव दुइ रूप हय एक रूप ।[1]

इस संप्रदाय वालों का कथन है कि भाव के इस परम पावन क्षेत्र में वही पहुँच सकता है, जो प्रेम के रस का आस्वादक होने की निरंतर कामना सर्वस्व त्याग करके भी करता रहता है और अपने आराध्य प्रियतम के सान्निध्य की अनुभूति में विभोर रहता है। इस अनुभूति को प्राप्त करने के हेतु साधक को अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारते हुये अपनी दिनचर्या निश्चित करनी पड़ती है। वे कुछ बातें इस प्रकार हैं:—

(१) परमात्मा माधुर्य के एकमात्र स्रोत हैं।
(२) यह माधुर्य सार्वभौम है।
(३) श्रीकृष्ण और राधिका ही परम उपास्यदेव है।
(४) प्रेम उस भगवान का धर्म है।
(५) स्वरूप ज्ञान से यह प्रेम उत्पन्न होता है।
(६) इसी प्रेम से भगवानमय हो जाना ही साधना की सफलता है।
(७) रूप के संयोग से स्वरूप की प्राप्ति संभव है।
(८) परकीया की साधना में प्रेमासक्ति होना आवश्यक है।
(९) व्यक्ति के अन्दर रहने वाला स्वरूप कृष्ण का आध्यात्मिक तत्व है और रूप भौतिक तत्व है।
(१०) श्रीकृष्ण का पुरुषत्व तथा राधा का प्रकृतित्व सिद्ध हैं।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर चलने वाले सहजिया वैष्णव अपने लक्ष्य को प्राप्त कर परमानंद में तन्मय हो जाते हैं। यह तन्मयता उन्हें इष्ट-देव की कृपा स्वरूप प्रदर्शित होने वाली उनकी मधुर लीला के दर्शन मात्र से होती है। काम और मदन अथवा रस रति स्वरूप राधा माधव ही इस लीला

---

१ रागिकारसकारिका, बंग साहित्य परिचय खंड २

विलास के नित्य रूप हैं। साधक इन्हीं की जय-जय कार करता हुआ प्रतिक्षण रसमय रहने की चेष्टा करता है—

जय-जय सर्वादि वस्तु रस रास काम।
जय-जय सर्वश्रेष्ठ रस नित्य धाम।
प्राकृत अप्राकृत आर महा अप्राकृते।
विहार करिछ तुमि निज स्वेच्छा मते।
स्वयं काम नित्य-वस्तु रस-रतिमय।
प्राकृत अप्राकृत आदि तुमि महाश्रय।
एक वस्तु पुरुष प्रकृतिरूप हइया।
विलासह बहुरूप धरि दुइ काया।

—तरुणीरमण कृत—सहजउपासना तत्व,
बंगीय साहित्य परिषद पत्रिका १३३५, खंड ४

सहजिया वैष्णों की उपर्युक्त संक्षिप्त उपासना-पद्धति से उनकी रसमयता के सम्बन्ध में संदेह नहीं रहता। इनकी रचनाओं पर पूर्ण रूप से बंगला का प्रभाव है और वही प्रान्त इनकी साधना का केन्द्र भी है। ब्रजभाषा में रचनाओं के अभाव के कारण इसके उद्धरण ग्रन्थ के मध्य में प्रस्तुत नहीं किये जा सके। किन्तु भगवत्-प्रेम में तन्मय रहने वाले इन सहजिया वैष्णवों की अपनी विशेष महत्ता भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में है।

सहायक ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रन्थ-सूची

	पुस्तक का नाम	लेखक
१.	अष्टादश सिद्धांत	प्र० तुलसीदास
२.	अनुराग पदावली	गीता प्रेस
३.	अष्टाचार्यों की वाणी	टट्टी संप्रदाय के अष्टाचार्य
४.	अभिलाष-माधुरी	ललितकिशोरी (काव्य)
५.	अनुभव रस	हीरासखी
६.	अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय	डा० दीनदयाल गुप्त
७.	अष्टछाप वार्ता	पो० कंठमणि शास्त्री
८.	अहिर्बुध्न्य संहिता	सं० एम० डी० रामानुजाचार्य
९.	अथर्व वेद संहिता	(आड्यार लाइब्रेरीं, मद्रास)
१०.	अन्तःकरण प्रबोध	श्री वल्लभाचार्य जी
११.	अष्टकालीन नित्यलीला	सं० नित्यानंद भट्ट
१२.	आलोचना	
१३.	आइडिया आफ पर्सनाल्टी	पी० एन० श्रीनिवासाचार्य
१४.	आधुनिक साहित्य	श्री नन्ददुलारे बाजपेयी
१५.	आचार्य महाप्रभु की प्राकट्य वार्ता	सं० द्वारकादास पुरुषोत्तम दास पारिख
१६.	आदि वाणी	गो० रामराय जी
१७.	इन्ट्रोडक्शन टु दि पंचरात्र ऐण्ड दि-अहिर्बुध्न्य संहिता	श्रेडर
१८.	उद्धव संदेश	श्री रूप गोस्वामी
१९.	उपनिषदांक	सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार गी० प्रे०
२०.	उपासना तत्व दीपिका	श्री प्रणवदास शर्मा
२१.	उज्ज्वल नीलमणि	श्री रूप गोस्वामी

२२. उपनिषत्त्रयी	सं० श्री ब्रजवल्लभ शरण
२३. उत्तरी भारत की संत परम्परा	परशुराम चतुर्वेदी
२४. एन इन्ट्रोडक्शन टु दि पोस्ट चैतन्य	
२५. सहजिया कल्ट	मणीन्द्र मोहन बोस
२६ केलिमाल	रसिकाचार्य स्वामी हरिदास
२७. कुम्भनदास पद संग्रह	कुम्भनदास जी
२८. कबीर ग्रंथावली	संत कबीर दास जी
२९. केशव की काव्य कला	श्री कृष्णशंकर जी शुक्ल
३०. कलेक्टेड वर्कस आफ सर आर० जी० भाण्डारकर	वाल्यूम ५
३१. कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
३२. कबीर	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
३३. कृष्ण कर्णामृत (रसिक रोचिनी टीका)	श्री विल्वमंगल जी
३४. केलि कुतूहलम्	पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित
३५. कृपा कटाक्ष स्तोत्र	टी० स्वामी जयराम देवजी
३६. गोपी प्रेमपीयूष प्रवाह	सं० नवनीत चतुर्वेदी
३७. गोविन्द स्वामी पद सग्रह	अष्टछाप—गोविन्द स्वामी
३८. गोपी प्रेम	श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार
३९. गुजराती और ब्रजभाषा काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	डा० जगदीश गुप्त
४०. गोविन्द वैभवम्	भट्ट मथुरानाथ शास्त्री
४१. गोवर्द्धन भट्ट ग्रंथावली	श्री गोवर्द्धन भट्ट
४२. ग्रन्थरत्न षट्कम्	प्र० कृष्णदास जी
४३. घेरण्ड संहिता	श्री घेरण्ड योगीश्वर जी
४४. घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा	डा० मनोहरलाल गौड़
४५. घनानन्द ग्रंथावली	श्री घनानन्द जी
४६. चतुर्भुजदास पद-संग्रह	अष्टछाप—चतुर्भुजदास जी
४७. चतुःश्लोकी	श्री वल्लभाचार्य जी
४८. चैतन्य चन्द्रामृतं	श्री प्रबोधानन्द जी सरस्वती

४९. छीत स्वामी पद-संग्रह — अष्टछाप—छीतस्वामी जी
५०. जायसी ग्रन्थावली — सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
५१. दानलीला, नौकालीला, क्षीर नहर लीला — श्रीललित किशोरी
५२. देव और उनकी कविता — डा० नगेन्द्र
५३ देवी भागवत अंक — कल्याण—गीता प्रेस
५४. दि काल आफ़ वेदाज़ — अविनाशचन्द्र बोस
५५. दि एसेंशियल्स आफ़ इंडियन फिलासफी — हिरियाना
५६. दि फिलासफी आफ विशिष्टाद्वैत — पी० एन० श्रीनिवासाचारी
५७. दि आइडिया आफ पर्सनाल्टी इन-सूफीज्म — श्री रिनाल्ड ए निकल्सन
५८. धर्म-रहस्य — स्वामी विवेकानन्द जी
५९. निम्बार्क माधुरी — सं० ब्रह्मचारी बिहारी शरण जी
६०. नंददास ग्रन्थावली — सं० ब्रजरत्न दास
६१. नागरीदास जी की वाणी — भक्त नागरीदास
६२. नागर समुच्चय — (कृष्णगढ़ नरेश) नागरीदास जी
६३. नवरत्नम् — श्रीवल्लभाचार्य जी
६४. निकुंज रहस्यस्तवः — श्रीरूपगोस्वामीपाद
६५. नारद पंचरात्र (भारद्वाज संहिता) — टी० सरयूप्रसाद मिश्र
६६. नारद पंचरात्र (ब्रह्मसंहिता)
६७. पंचदशी (पीताम्बरी भाष्य) — मू० ले० स्वामी विद्यारण्य
६८. पद्मपुराण — महर्षि व्यास जी
६९. प्रपन्नामृत — श्रीमद् अनन्ताचार्य जी
७०. प्रमेय रत्नार्णव — श्रीबालकृष्ण भट्ट
७१. प्रपन्न सुरतरु मंजरी सौरभ — श्री सुन्दर भट्टाचार्य
७२. प्रेमदर्शन (नारद भक्तिसूत्र) — देवर्षि नारद जी
७३. प्रेम सम्पुट — श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती
७४. पुष्टि प्रवाह मर्यादा — श्रीमद् वल्लभाचार्य जी

७५. प्रेम योग	वियोगी हरि
७६. प्राचीन वार्ता रहस्य	सं० द्वारकादास पुरुषोत्तमदास पारिख
७७. परमानन्द सागर	अष्टछाप—श्री परमानन्ददास जी
७८. प्रियादास ग्रन्थावली	श्रीप्रियादास जी कृत
७९. प्रेमभक्ति चन्द्रिका	श्रीवृन्दावन दास जी कृत
८०. प्रेमघन सर्वस्व (प्र० भा०)	श्रीबदरीनारायण चौ० 'प्रेमघन'
८१. प्रेम रंस मदिरा	श्रीकृपालुदास जी
८२. ब्रजभारती	सं० कृष्णदत्त वाजपेयी
८३. बंगीय साहित्य परिषद पत्रिका	बंगीय साहित्य परिषद, कलकत्ता
८४. ब्रजविलास स्तवः	गोस्वामी रघुनाथ दास जी
८५. ब्रह्मवैवर्त पुराण	महर्षि व्यास जी
८६. विष्णु पुराण	महर्षि व्यास जी
८७. वृहत्स्तोत्र सरित्सागर	वल्लभ संप्रदाय का महत् ग्रंथ
८८. वेदान्त अंक	कल्याण
८९. वृष भानुजा	श्रीमथुरादास जी
९०. विष्णुभक्ति कल्पलता	श्रीपुरुषोत्तम जी
९१. वेदान्त परिभाषा	श्रीधर्मराज दीक्षित कृत
९२. ब्रह्मसूत्र (गोविन्द भाष्य)	श्रीबल्देव विद्याभूषण
९३. ब्रजभक्ति विलास	श्रीलक्ष्मी नारायण भट्ट गोस्वामी
९४. वेदान्तरत्न मंजूषा (दशश्लोकी भाष्य)	मू० ले० महर्षि निम्बार्काचार्य
९५. विदग्ध माधवम्	श्री रूप गोस्वामी विरचित
९६. वैष्णव सिद्धान्त रत्न संग्रह	संकलित श्यामलाल हकीम
९७. वैष्णव धर्म	श्रीपरशुराम चतुर्वेदी
९८. विचारधारा	डा० धीरेन्द्र
९९. विनय पत्रिका	सं० वियोगी हरि
१००. बयालीस लीला	महात्मा ध्रुवदास जी
१०१. ब्रजविहार	श्रीनारायण स्वामि
१०२. ब्रजनिधि ग्रंथावली	महाराज ब्रजनिधि
१०३. विलाप कुसुमांजलि	श्रीवृन्दावन दास जी
१०४. वृन्दावन जस प्रकाश	चा० हित वृन्दावन दास

१०५. ब्रज माधुरीसार	सं० वियोगी हरि
१०६. भारतेन्दु ग्रंथावली द्वि० भा०	भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र
१०७. भगवत रसिक जी की वाणी	भगवत रसिक
१०८. भक्त कवि व्यास	श्रीहरिराम व्यास
११९. भक्ति का विकास	डा० मुंशीराम जी शर्मा, डी० लिट्०
११०. भारतीय साधना और सूर साहित्य	डा० मुन्शीराम जी शर्मा, डी० लिट्०
१११. भागवत संप्रदाय	श्रीबल्देव उपाध्याय
११२. भारतीय साहित्य शास्त्र	श्रीबल्देव उपाध्याय
११३. भक्ति ग्रन्थमाला	श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती
११४. भक्ति चन्द्रिका	श्रीगणेशसिंह जी
१.५. भक्ति दर्शन	महर्षि शाण्डिल्य
११६. भक्ति प्रकाश	श्रीकार्ष्यिागोपाल दास
११७. भगवत गीता	व्यास
११८. भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद	देवर्षि रमानाथ शास्त्री
११९.भक्ति रसतरंगिणी	श्रीनारायण भट्टाचार्य
१२०. भगवद् भक्ति रसायनम्	श्रीमधुसूदन सरस्वती
१२१. भक्ति दर्शन	स्वामी ज्ञानानंद जी
१२२. भक्ति रत्नावली	श्री विष्णुपुरी गोस्वामी
१२३. भक्त चरितांक	कल्याण—गीता प्रेस
१२४. भक्ति अंक	कल्याण—गीता प्रेस
१२५. भागवतांक	कल्याण—गीता प्रेस
१२६. भक्ति कल्ट इन एंशियेंट इण्डिया	श्री बी० के० गोस्वामी
१२७. माई सर्च फार ट्रुथ	डा० राधाकृष्णन्
१२८. महाभारत	महर्षि व्यास
१२९. मथुरामाहात्म्य	श्री रूप गोस्वामि
१३०. मीरा बृहद पद-संग्रह	सं० पद्मावती शबनम्
१३१. महावाणी	श्रीहरिव्यास देवाचार्य
१३२. माधुर्य लहरी	श्री कृष्णदास जी कृत

१३३. माधुरी वाणी	श्रीमाधुरी जी कृत
१३४. माधुर्यभाव लहरी	सं० राधेश्याम गुप्त
१३५. मिस्टीसिज्म	मिस एवलेन अंडरह्विल
१३६. मिस्टीरियस कुंडलिनी	
१३७. युगल शतक	श्रीभट्ट देवाचार्य जी कृत
१३८ युग्मतत्व समीक्षा	श्रीभागीरथ शर्मा प्रणीत संपादित
१३९. योगांक	कल्याण—गीता प्रेस
१४०. राधाकृपा-कटाक्षस्तवराज	श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती
१४१. राधा-उप सुधानिधि	श्रीहितकृष्णचन्द्र
१४२. राधासुधानिधि	गो० हितहरिवंश महाप्रभु
१४३. रस तरंगिणी	श्रीभानु मिश्र
१४४. ऋग्वेद संहिता	
१४५. रतिरत्न प्रदीपिका	श्रीप्रौढ़ देवराज महाराज जी
१४६. रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना	डा० बच्चन सिंह
१४७. रीतकाव्य की भूमिका	डा० नगेन्द्र
१४८. रस मीमांसा	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१४९. राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक
१५०. राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना	श्रीभुवनेश्वर मिश्र (माधव)
१५१. राधा सुधा शतक	श्रीहठी जी
१५२. राधा रमण रस सागर	श्रीमनोहरदास जी कृत
१५३. रसखानि	भक्त रसखान
१५४. रसिक पथ चन्द्रिका	चा० हित वृन्दावन दास
१५५. रत्नाकर प्र० भा०	श्रीजगन्नाथ दास रत्नाकर
१५६. रत्नाकर द्वि० भा०	श्रीजगन्नाथ दास रत्नाकर
१५७. रसकलश	श्रीहरिऔध जी
१५८. रसिया ब्रजमाधुरी	स्वामी प्रेमानन्द जी
१५९. लीलाविशंति नित्य वि० पदावली	श्रीरूपरसिक देवाचार्य जी

१६०. लाड़ सागर	चि० हित वृन्दावनदास जी
१६१. सिद्धान्त रत्नाकर	सं० विश्वेशरण शरण
१६२. सूरदास मदनमोहिनी जी की वाणी	श्रीसूरदास मदनमोहन
१६३. सेवक वाणी	श्रीसेवक जी कृत
१६४. सूरसागर प्र० खं०	अष्टछाप—सूरदास जी
१६५. सूरसागर द्वि० खं०	अष्टछाप—सूरदास जी
१६६. संत सुधासार	सं० वियोगी हरि
१६७. सूर सौरभ	डा० मुन्शीराम शर्मा, डी० लिट्०
१६८. सूरदास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१६९. साहस्री भावना	महाप्रभु हरिराम जी कृत
१७०. स्तोत्र रत्नावली	गीता प्रेस
१७१. सिद्धान्त मुक्तावली	महाप्रभु वल्लभाचार्य-प्रणीत
१७२. स्मरण मंगल स्तोत्र	श्रीरूप गोस्वामि जी
१७३. सुभाषित रत्नभाण्डागारम्	सं० नारायण राम आचार्य
१७४. सिद्धान्त रहस्य	महाप्रभु वल्लभाचार्य जी
१७५. स्टडी आफ़ सोशलाजी	स्पेन्सर (अष्टम संस्करण)
१७६. सर्वदर्शन संग्रह	श्रीमाध्वाचार्य जी
१७७. साधनांक	कल्याण—गीता प्रेस
१७८. संतवाणी अंक	कल्याण—गीता प्रेस
१७९. संक्षिप्त नारद विष्णु पुराण अंक	कल्याण—गीता प्रेस
१८०. सत्कथा अंक	कल्याण—गीता प्रेस
१८१. संकल्प कल्पद्रुम	श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती
१८२. 'सर्वेश्वर'	मासिक पत्र, वृन्दावन
१८३. सुदर्शन	मासिक पत्र, वृन्दाबन
१८४. सरस्वती	मासिक पत्र, इलाहाबाद
१८५. शिव अंक	कल्याण—गीता प्रेस
१८६. शक्ति अंक	कल्याण—गीता प्रेस
१८७. शुद्धाद्वैत दर्शन समस्त भाग)	भट्ट रमानाथ शर्मा
१८८. शरणागति रहस्य	भट्ट मथुरानाथ शास्त्री
१८९. श्रृंगार रस सागर प्र० खंड	प्रका० बाबा तुलसीदास

१९०.	श्रीकृष्ण विरह पत्रिका	श्रीवनमाल जी
१९१.	श्रीहित हरिवंश गो० संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिता चरण गोस्वामी
१९२.	श्रीमद् वल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्त	श्रीव्रजनाथ शर्मा
१९३.	श्री राधा का क्रम विकास	डा० शशिभूषणदास गुप्त
१९४.	श्रीमद् भागवत महापुराण	महर्षि वेदव्यास
१९५.	श्रीकृष्ण लीलास्तव:	श्रीसनातन गोस्वामिपाद
१९६.	श्री राधाकृष्ण गणोद्देश दीपिका	श्रीमद्रूपगोस्वामि पाद
१९७.	षोडश ग्रंथ	भट्ट रमानाथ
१९८.	हरिलीलामृत	श्री बोपदेव प्रणीतं
१९९.	हरिभक्ति रसामृत सिन्धु	श्रीमद् रूपगोस्वामि जी
२००.	हंस दूतम्	श्रीमद् रूपगोस्वामि जी
२०१.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२०२.	हिन्दी साहित्य में विविधवाद	डा० प्रेमनारायण शुक्ल, डी० लिट्०
२०३.	हिन्दी साहित्य	डा० श्यामसुन्दरदास, डी० लिट्०
२०४.	हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय	डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
२०५.	हि० सा० का इतिहास	पं० कृष्णशंकर शुक्ल
२०६.	हित सुधा–सिन्धु (हित चतुरासी)	गोस्वामी हितहरिवंश
२०७.	हरिलीला	श्री ब्रह्मगोपाल जी

———

श्री विष्णु स्वामी
(अखिल भारतीय श्री विष्णु स्वामी महासभा के सौजन्य से)
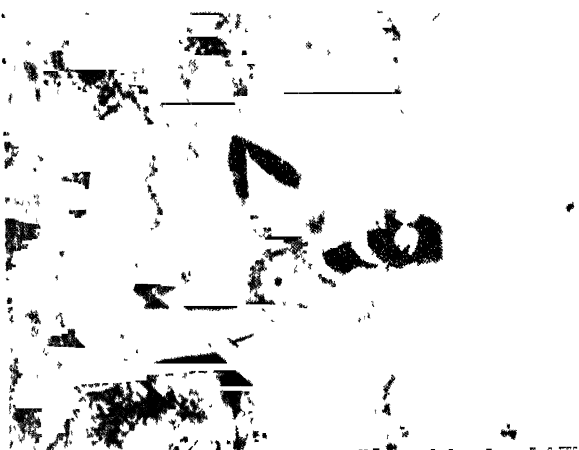
रसिक शिरोमणि स्वामी हरिदास जी
(दो शताब्दि से भी पूर्व का यह चित्र भारतकला भवन,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के सौजन्य से)

दायें से :—१. सूरदास २. कुंभनदास ३. परमानंद दास ४. कृष्णदास
५. गोविन्द दास ६. छीत स्वामी ७. चतुर्भजदास ८. नंददास।
(प्रधान संपादक - सर्वेश्वर - मासिक वृन्दावन के सौजन्य से)

श्री आनदघन, श्री विरजानन्द, श्री नागरी दास तथा श्री वृन्दावन देवाचार्य
(श्री जी की बड़ी कुंज, वृन्दावन से प्राप्त)

श्री वल्लभाचार्य
(श्रीकृष्ण गढ़ से प्राप्त)

चैतन्य महाप्रभु के प्रधान अनुयायी तथा भक्ति (रसोपासना)
के परम मर्मज्ञ षट् गोस्वामी
(श्री व्रज वल्लभ शरण जी वेदान्ताचार्य के सौजन्य से)

श्री हरिदासी संप्रदाय के अष्टाचार्य

श्री स्वामी वीठल विपुल देव जी महाराज
समय वि०सं० १५३२—१६३२
(श्री राधा मोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से)

श्री स्वामी ललित मोहिनी देव जो महाराज
समय वि०स० १७८०—१८५८
(श्री राधा मोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से)

जगद गुरू श्री निम्बार्काचार्य जी

(श्री ब्रजवल्लभ शरण वेदान्ताचार्य के सौजन्य से)

ओरछा के
भक्त शिरोमणि—श्री हरीराम व्यास

(दतिया के राजकीय पुस्तकालय से प्राप्त)

भक्त कवि नागरीदास जी
(श्री वियोगी विश्वेश्वर शरण जी, श्री जी की बड़ी कुञ्ज
वृन्दावन के सौजन्य से)

भुज विहार के निर्माना–
श्री नारायण स्वामी वृंदावन
(अध्यः श्री वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस की कृपा से)

आचार्य श्री रामानन्द जी महाराज

(श्री व्रज वल्लभ शरण जी वेदान्ताचार्य, पंचतीर्थ के सौजन्य से)
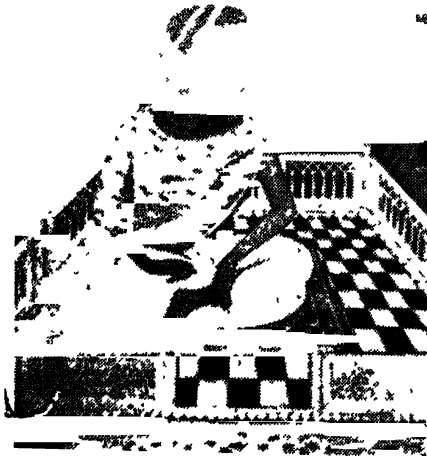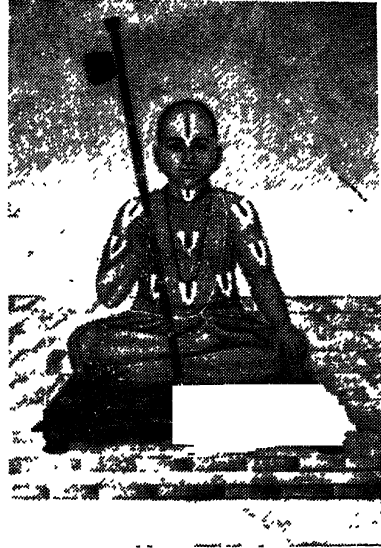
गो० हितहरिवंश

(यह चित्र श्री वृन्दावन धाम स्थित श्री राधावल्लभ जी के प्रधान श्री हितरूप-लाल जी गोस्वामी की कृपा से ही प्राप्त किया गया)

पुष्टि मार्ग के प्रसारक—
श्री विट्ठल (आचार्य वल्लभ के पुत्र)
(नाथ द्वार से प्राप्त)

श्री चैतन्यदेव
(वृन्दावन स्थित गौडीय संप्रदाय के मन्दिर के प्रधान
श्री पुरुषोत्तम राजा जी के सौजन्य से)

गो० श्री हरिराय जी महाराज
(नाथ द्वार से प्राप्त)

भक्त कवि—श्री ब्रजनिधि
(जयपुर-नरेश श्री प्रतापसिंह जी देव)
(पं० पुरोहित नारायण जी शर्मा के सौजन्य से)

भक्त प्रवर रसखानि
(गीता प्रेस के सौजन्य से)

श्री निम्बार्क पीठाधीश्वर—
श्री श्रीभट्टदेवाचार्य जी महाराज आदि वाणीकार
(श्री व्रजवल्लभ शरण जी वेदान्ताचार्य, वृन्दावन की कृपा से प्राप्त)
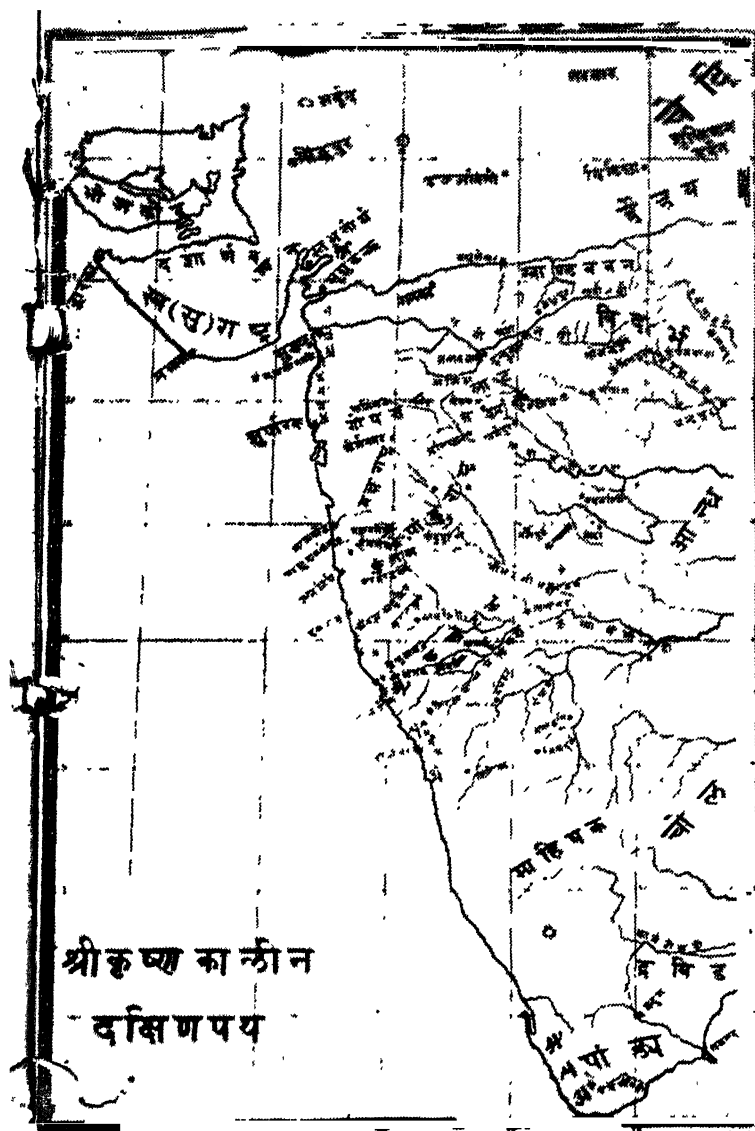
(गीता प्रेस के सौजन्य से)

(गीता प्रेस के सौजन्य से)
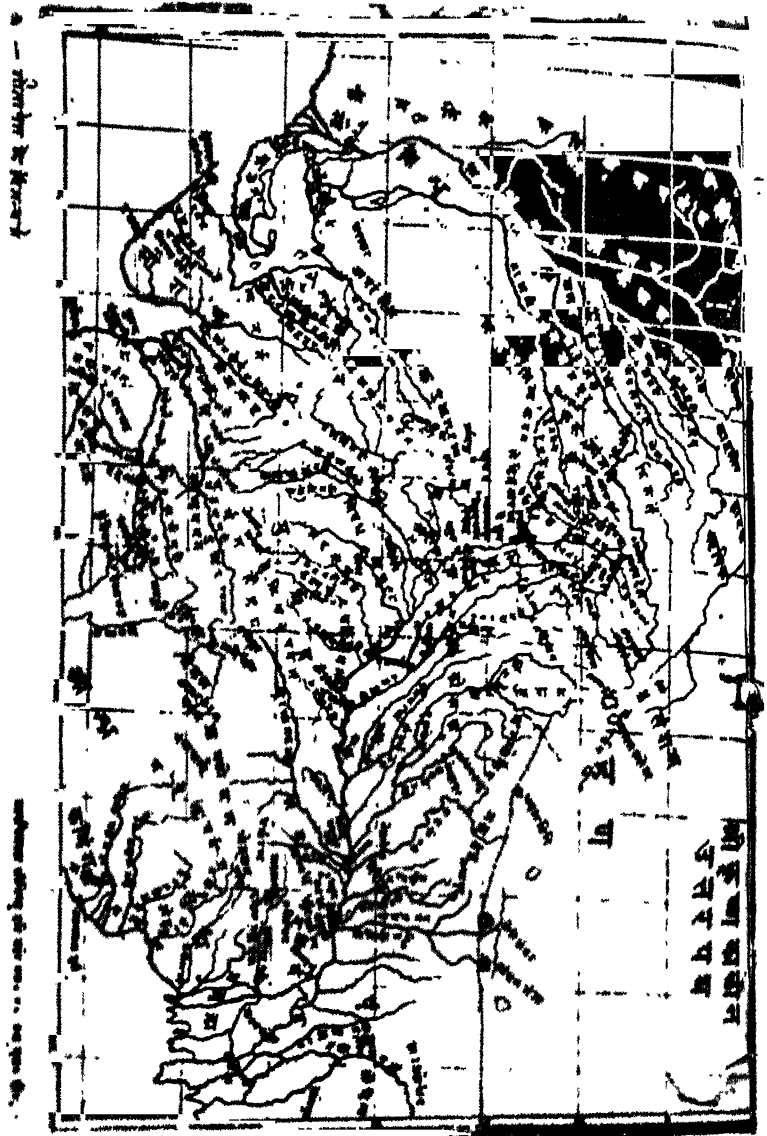
श्री माध्वाचार्य
(गीता प्रेस के सौजन्य से)

सेवक जी (१५७७-१६१०)
(श्री राधा मोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से)

श्री हरिदासी संप्रदाय के अष्टाचार्य

श्री स्वामी मरसदेव जी महाराज
(समय वि० सं० १६११—१६८८)
श्री राधा मोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से

श्री स्वामी रसिक देव जी महाराज
(समय वि०सं० १६९२— १७५८)
श्री राधा मोहनदास जी गुप्त के सौजन्य से
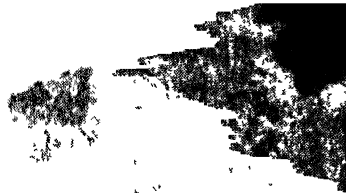
श्री स्वामी नरहरिदेव जी महाराज
(समय वि० सं० १६४०—१७४१)
(श्री राधा मोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से)
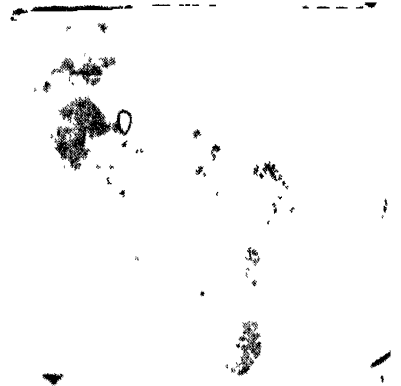
श्री स्वामी नागरी देव जी महाराज
(समय वि०सं० १६००—१६७०)
(श्री राधा मोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से)

कुन्ज विहार

सरस्वती मासिक के संपादक
पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के सौजन्य से

रसिकराज राजेश्वर—
श्री हरिव्यासदेवाचार्य जी महाराज
(प्रधान संपादक सर्वेश्वर, वृन्दावन के सौजन्य से)

श्री रामानुजाचार्य
(गीता प्रेस के सौजन्य से)

श्री परशुराम देवाचार्य
(अखिल भारतीय श्री निम्बार्कचार्य पीठ का यह प्राचीन चित्र परशुरामपुरी सलेमाबाद (राजस्थान) से प्राप्त हुआ।)